Society And Religion As Depicted In Vāyu Purāṇa

(In Hindi)

THESIS SUBMITTED FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF PHILOSOPHY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

By

Mamta Chaturvedi

Supervisor

Prof. S. N. Roy

Department of Ancient History
Culture And Archaeology
University of Allahabad

1991

पृष्ठांक

पृष्ठांक

द्वितीय खण्ड : धार्मिक गठन

प्ररोचक एवं प्रस्ताविका

आर्ष संस्करण, अवान्तर संस्करण एवं प्रतिसंस्करण की पौराणिक परम्परा के उन्नयन एवं प्रतिष्ठापना के अप्रतिम प्रमापक वायुप्रोक्त वायु पुराण में ईश्वर-स्वरूप, पृथ्वीसन्निवेश, शौचाचार, [illegible], कल्पभेद, विविध सर्ग, भुवन विन्यास, तीर्थ, गुरुभक्ति, पितृश्राद्ध, भूगोल, खगोल, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य इत्यादि विविध विषयों का सांगोपांग निरूपण हुआ है। धर्मशास्त्रीय विषयों का विपुलता से वर्णन करने के अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण के अन्तर्गत क्रमिक रूप से उत्तरकालीन स्तरों पर ऐसे तत्त्वों का समाहार भी किया गया जो मूल पाठ में अनुपस्थित थे जैसे व्रत विधान आदि। शैवात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिये उत्तरकालीन स्तरों पर वायु पुराण में संकलन तथा समुच्चय का ऐसा क्रम स्थापित किया गया जिससे इसके पठन-पाठन की लोकप्रियता अवरुद्ध नहीं हो सकी। वर्तमान समय में यह महापुराण अपने मौलिक रूप में नहीं उपलब्ध है और इसे मूल वायु-प्रोक्त वायुपुराण के शैव संस्करण की मान्यता दी गई है। ऐसी सम्भावना को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती है कि अन्य अनेक पुराणों की भाँति वायु पुराण का मूल रूप साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त था। [illegible] एवं हाजरा जैसे पुराण समीक्षकों ने वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण को मूल वायुप्रोक्त वायु पुराण के उत्तरकालीन प्रतिसंस्करणों के रूप में स्वीकार किया है और प्रस्तावित किया है कि इन दोनों पुराण ग्रन्थों का मौलिक वायु पुराण से पृथक्करण 400 ईस्वी के लगभग हुआ। परन्तु इन दोनों रचनाओं को वर्तमान कलेवर किस काल विशेष में प्राप्त हुआ, इस सम्बन्ध में अनुमानित है कि 1000 ईस्वी के लगभग वायु पुराण को शैवपरक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा मिली और ब्रह्माण्ड पुराण को वैष्णव-प्रचुर प्रवृत्ति का प्रतिपादक माना गया।

मानव जीवन की आधारभित्ति के रूप में प्रतिष्ठित पौराणिक परम्परा से सम्पृक्त वायु पुराण के काल निर्धारण का प्रयास भी प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में

किया गया है । महाभारत, हरिवंश एवं बाणभट्ट की दोनों कृतियों में इसके अस्तित्व की चर्चा की गई है जिससे वायु पुराण की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है । किन्तु प्रस्तुत पुराण का प्रथम संस्करण किस समय प्रकाशित हुआ, इस सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा गया है । हाज़रा का मत है कि आलोचित पुराण में वर्णित नन्द वंश से आन्ध्र वंश तक का राजनैतिक इतिहास 200 ईस्वी के पूर्व रचित है, जिसके आधार पर वायु पुराण को कतिपय प्राचीनतम पुराणों में परिगणित किया जाता है । परन्तु निश्चित रूप से वायु पुराण के सर्वप्रथम संस्करण का प्रचलन किस काल में हुआ, यह अनिर्णीत है ।

वायु पुराण की शोध प्रक्रिया में अनेक ऐसे स्थलों का उद्घाटन हुआ है जो पौराणिक संरचना के युग में सामाजिक एवं धार्मिक दशा पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं । प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में इन्हीं दोनों पक्षों को उद्भासित करते हुए प्रथम अध्याय में वर्ण धर्म एवं मिश्रित जातियों का वर्णन किया गया है । तत्कालीन समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी और उसके मूल में धर्माचरण तथा सामाजिक नियमन को वरीयता दी गई । पौराणिकों का प्रेरक सिद्धान्त 'वेदों का विस्तार' था जिसके आधार पर वैदिक विचारधारा का निर्वाह करते हुए आश्रम-विषयक विभाजन को सामाजिक सन्तुलन का कारण निर्धारित किया गया । द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत आश्रम जीवन के विभिन्न नियमों का उल्लेख हुआ है । इस व्यवस्था का जनसमुदाय अविरल रूप से पालन करे, इस उद्देश्य से आश्रमों का विभाजन ब्रह्मा के द्वारा किया गया और उसे दैवी अभिव्यक्ति दी गई । तृतीय अध्याय में पौराणिक काल में संस्कारों के महत्व को प्रकाशित करते हुए जातकर्म, चूडाकर्म, विवाह इत्यादि संस्कारों का वर्णन किया गया है । चतुर्थ अध्याय शिक्षा के प्रचलन और उसकी महत्ता के सम्बन्ध में है । प्रस्तुत पुराण में बाल्यकाल को ही विद्यारम्भ के योग्य समय निर्धारित करते हुए विद्यार्थी के लिये अपेक्षित कर्तव्य, आचार्य का आदरणीय पद, गुरु और शिष्य का

पारस्परिक सम्बन्ध आदि का उल्लेख किया गया है । इसके अतिरिक्त देशाटन की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया है । पंचम अध्याय में तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति को निरूपित किया गया है । सृष्टि के अनिवार्य अंग के रूप में स्त्रियों को मान्यता देते हुए उनके अभाव में प्राणिमात्र का पालन असम्भव कहा गया है । जननी, कन्या, पत्नी इत्यादि समस्त रूपों में स्त्री को गौरवान्वित करते हुए स्त्री वध की वर्जना की गई है । स्त्रियों को शिक्षित करने के समर्थन में भी यत्र तत्र प्रसंग उपलब्ध हैं । षष्ठम अध्याय में वस्त्रालंकार सम्बन्धीपरिकल्पनाओं को आलोकित किया गया है । आलोचित पुराण में वर्णित एतद्विषयक स्थल पौराणिकों की सोद्देश्य अभिव्यक्ति के परिचायक नहीं हैं अतः सभी पक्षों का विवेचन नहीं प्राप्त होता है । वस्त्र वैविध्य की परम्परा तथा आभूषण-प्रकारों का प्रचलन अवश्य था । सप्तम अध्याय में प्रयुक्त किये जाने वाले खाद्य एवं पेय पदार्थों का उल्लेख है । मानवशरीर के एकमात्र आश्रय के रूप में अन्न के महत्व को स्वीकार करते हुए अन्नाभाव को जीवों की मृत्यु का कारण बताया गया है । वैदिक परम्परा को समर्थित करते हुए प्रस्तुत पुराण में भी गोमांस का सेवन अक्षम्य अपराध घोषित है । मांसाहार का प्रचलन सम्भवतः विशेष अवसरों पर ही था । धार्मिक अनुष्ठानों में सोम तथा मदिरा की उपयोगिता विद्यमान थी । अष्टम अध्याय के अन्तर्गत मनोरंजनार्थ प्रचलित साधनों का वर्णन किया गया है । संगीत की गणना अष्टादश विद्याओं में की गई है जो उसकी लोकप्रियता एवं प्रचलन को प्रमाणित करती है । नवम अध्याय में पौराणिक संरचना के काल में नगर-योजना तथा गृह-निर्माण सम्बन्धी अवधारणाओं का निरूपण किया गया है ।

शोध-ग्रन्थ के अन्तर्गत धार्मिक गठन का परिचय देने का प्रयत्न दशम अध्याय में किया गया है और शिव-माहात्म्य प्रतिपादक वायु पुराण का अन्य देवताओं के अस्तित्व के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है । ऋग्वैदिक

विष्णु की स्थिति में पुराणकारों द्वारा परिवर्तन करते हुए उन्हें देवमण्डल में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनकी सर्वव्यापकता और यज्ञीय महत्ता को उद्भासित करते हुए उनके द्वारा पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एकादश अध्याय में शैवपरक स्थलों को प्रकाशित किया गया है जहाँ वैदिक प्रवृत्ति का क्रम-भंग भी दृष्टिगोचर होता है और शिव को देवाधिदेव घोषित करके प्रकर्षयुक्त किया गया है। उनके उग्र तथा मंगलकारी रूपों के सन्दर्भ में विभिन्न नामों का प्रयोग प्रभूत मात्रा में करते हुए उन्हें परम ऐश्वर्य समन्वित स्वरूप वाला कहा गया है। शिव को यज्ञ-प्रकल्पित नहीं मानते हुए भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष, नाग, गन्धर्व, किन्नर इत्यादि सभी उनके अनुचर कहे गये हैं। विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा की एकात्मकता भी स्थापित की गई है। द्वादश अध्याय में सौर उपासना विषयक धारणाओं का वर्णन है। हिन्दुओं के पंचदेवों में परिगृहीत सूर्यदेव को सभी प्रकार के अन्धकार का विनाश करने वाले महान तेजोराशि के रूप में स्वीकार करते हुए आदित्य, सविता, मार्तण्ड, विवस्वान् इत्यादि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। वैदिक परम्परा का पोषण करते हुए सूर्य को प्राणिमात्र के जीवन का स्रोत निश्चित किया गया है। त्रयोदश अध्याय के अन्तर्गत अभिभावक शक्ति से सम्पन्न देवी की अवधारणा का विवेचन है जो वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है। आलोचित पुराण के कतिपय प्रसंग पौराणिक काल में शक्ति के गौरवासन के परिचायक हैं। अनिष्ट की सम्भावना तथा विपत्ति पड़ने पर शक्ति के अनेक नामों को रक्षार्थ लेना विहित है। चतुर्दश अध्याय में विष्णु तथा शिव के गौरव-गान के पश्चात् देवमण्डल के अन्य देवताओं के प्रति पौराणिकों का दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा को विष्णु तथा महादेव के समकक्ष स्थान देकर महिमा-मण्डित करते हुए प्रजापति का अभिधान दियागया है। प्रजापति और ब्रह्मा में एकत्व भी स्थापित किया गया है। इन्द्र की स्थिति के सन्दर्भ में वैदिक भावना का पालन नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उन्हें सर्वोपरि न मानते

हुए अपेक्षाकृत निम्न स्थान प्रदत्त है । इसके अतिरिक्त अग्निदेव, सोम, वरुण, पर्जन्य, मरुद्गण इत्यादि का भी वर्णन प्राप्त होता है । पंचदश अध्याय में पौराणिक धार्मिक गठन के अन्तर्गत तीर्थगमन की जनप्रियता को आलोकित किया गया है । प्रस्तुत पुराण में तीर्थ-माहात्म्य का विस्तार सहित निरूपण उपलब्ध है और पुनीत तीर्थ स्थलों पर मनुष्य को समस्त पापों से मुक्ति मिल जाने की चर्चा की गई है । तीर्थ सेवन द्वारा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव वर्णित है । वैदिक विचारधारा के प्रतिकूल पौराणिकों द्वारा यज्ञ की अपेक्षा तीर्थों के माहात्म्य को अप्रतिम रूप से प्रतिपादित किया गया । नदियों के तट पर अवस्थित तीर्थों की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए प्रयाग, वाराणसी, मथुरा, पुष्कर इत्यादि को सोद्देश्य सन्दर्भित किया गया है । गया तीर्थ का सविस्तार वर्णन एवं तद्विषयक आख्यान प्रस्तुत पुराण का रोचक वैशिष्ट्य है ।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ की निष्पत्ति मेरे आदरणीय निर्देशक प्रो० एस०एन० राय के विद्वतापूर्ण प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का परिणाम है जिन्होंने विभागाध्यक्ष पद के गम्भीर दायित्वों को वहन करते हुए अपना अमूल्य समय प्रदान किया । उनके यथोचित मार्गदर्शन के अभाव में मेरे लिये पौराणिक विषय-परिधि के अन्तर्गत शोध-प्रबन्ध अवश्य ही दुष्कर हो जाता । अतः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता तथा आभार व्यक्त करती हूँ । इसके अतिरिक्त उन सभी विद्वानों की आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता से इस शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण में सुविधा प्राप्त हुई है । अन्त में मैं उस अलक्ष्य प्रेरणा के अनन्य आभार को हृदयंगम करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूँ जिसके कारण मुझे इस शोध-ग्रन्थ को वर्तमान कलेवर में प्रतिष्ठित करने में हतोत्साहित नहीं होना पड़ा ।

संवत् 2048 ममता चतुर्वेदी

अन्य अनेक प्राथमिक पुराणों की भाँति अपने मूल रूप में वायु पुराण सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं और इसका वर्तमान कलेवर शैवपरक प्रतीत होता है। यह संशयरहित है कि मौलिक वायुप्रोक्त पुराण किसी धार्मिक सम्प्रदाय के आग्रह से मुक्त था। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण सम्प्रति मूल वायुप्रोक्त पुराण के क्रमशः शैव एवं वैष्णव संस्करण माने जा सकते हैं। उत्तरकालीन पुराणों में नारदीय पुराण को सन्दर्भित किया जा सकता है जिसमें इसे रुद्र की महिमा का प्रतिपादक कहा गया है। वायु पुराण में इस ग्रन्थ की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इसे महेश्वर पुराण की संज्ञा दी गई है। निस्सन्देहात्मक रूप से इसका शैवात्मक संस्करण उत्तरकाल में ही तैयार किया गया था। हाज़रा द्वारा प्रतिपादित ऐसे मत को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती है कि पाशुपत योग का जो स्वरूप वायुपुराण के वर्तमान संस्करण में है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड पुराण में भी उसका निरूपण नहीं प्राप्त होता है। यह भी ध्यातव्य है कि शैव स्थलों के संयोजन के अतिरिक्त आलोचित पुराण में अन्य ऐसे तत्वों का समाहार भी किया गया जो इसके मूल पाठ में अविद्यमान रहे होंगे जैसे व्रत विधान। हाज़रा के अनुसार उत्तरवर्ती स्तरों पर ही इन्हें समावेशित किया गया होगा। शैवात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिये प्रस्तुत पुराण में मात्र उत्तरकालीन धार्मिक अवधारणाओं को ही नहीं संसक्त किया गया अथवा मूल रूप में अनुपस्थित पूर्वकालीन धार्मिक प्रवृत्तियों को इसमें समाहित किया गया अपितु बड़े ही कौशल के साथ शब्दों एवं वाक्यों को परिवर्द्धित अथवा परिवर्तित करके संकलन और समायोजन की ऐसी व्यवस्था की गई जिसके परिणामस्वरूप उत्तरकालीन स्तरों पर भी यह पुराण अपनी लोकप्रियता स्थायी रख सके।

यह स्मरणीय है कि वायु पुराण पौराणिक वाङ्मय की एक ऐसी रचना है जिसके अस्तित्व की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में अनेकशः प्राप्त होती है। इस प्रसंग में महाभारत, हरिवंश और बाणभट्ट की दोनों कृतियों का सन्दर्भ दिया

जा सकता है जिनमें आलोचित पुराण की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है ।

विन्टरनित्स, हाज़रा इत्यादि पुराण समीक्षक इस तथ्य पर विशेष बल देते हैं कि वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण मूल वायु पुराण के उत्तरकालीन प्रति संस्करण हैं तथा उन्होंने इसका भी समर्थन किया है कि मूल वायुप्रोक्त पुराण से इन दोनों रचनाओं का पृथक्करण 400 ई0 के लगभग हुआ था । किन्तु पृथक्कीकरण के उपरान्त स्थल संयोजन की प्रक्रिया कब तक चलती रही और मूल वायु पुराण के उत्तरकालीन रूपान्तर ये दोनों ग्रन्थ अपने वर्तमान कलेवर में किस काल विशेष में आये थे, इसे दीर्घकाल तक निश्चित नहीं किया गया । सम्बन्धित अध्याय में इसके स्पष्टीकरण का प्रयास करते हुए 1000 ई0 के लगभग इस कार्य की निष्पत्ति अनुमानित की गई है जबकि वायु पुराण को शैव रचना का रूप दिया गया और ब्रह्माण्ड पुराण को वैष्णव आग्रह का संज्ञापक सिद्ध किया गया ।

वायु पुराण का काल निर्धारण भी पुराण समीक्षकों के लिये विवेचन का विषय रहा है । षष्ठ एवं सप्तम शतक में आलोचित पुराण के पठन-पाठन के प्रचलन के पोषक प्रमाण के रूप में बाणभट्ट के दोनों ग्रन्थों तथा शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की चर्चा की जा सकती है । ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सप्तम शतक में वायु पुराण का प्रथम एवं प्रामाणिक संस्करण अवश्य ही तैयार हो चुका था । इसी आधार पर दीक्षितार महोदय ने वायु पुराण के प्राथमिक अंशों का काल 5वीं श0ई0पू0 और अन्ततम अंशों को 500 ई0 का निश्चित किया है । परन्तु वायु पुराण के किन विशिष्ट स्थलों को प्राथमिक अंश माना जाये, इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश नहीं दिया गया है । अपने मत को समर्थित करते हुए दीक्षितार ने वायु पुराण में निरूपित यौगिक क्रियाओं एवं यौगिक विधानों का साम्य सैन्धव संस्कृति से निर्धारित किया है । किन्तु साक्ष्यों द्वारा पुष्ट अनुसन्धानों के आलोक में वायु पुराण के ये स्थल उत्तरकालीन संयोजन का परिणाम माने गये हैं । इसी सन्दर्भ में दीक्षितार ने वायु

पुराण में उपलब्ध होने वाले आर्ष तथा अपाणिनीय प्रयोगों का उल्लेख किया है। पौराणिक संरचना में लोक प्रचलित शैली के निर्वाह हेतु इस प्रकार की व्यवहारिक भाषा का पुराणकारों ने आश्रय लिया था जो किसी काल विशेष की द्योतक न होकर अन्य पुराणों में भी प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत पुराण के आरम्भिक अंशों के रचना काल को सुनिश्चित करना दुष्कर है। गुप्त राज्य के आदिम काल की राज्य सीमा का निरूपण वायु पुराण के प्रथम संस्करण को 300 ई0 से लेकर 400 ई0 तक के अन्तर्वर्ती काल में प्रतिष्ठापित अवश्य कर देता है क्योंकि यह सीमा समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन है। इसके अतिरिक्त यहाँ हाज़रा द्वारा समीक्षित अध्यायों की चर्चा प्रसंगानुकूल है जिनमें नन्द वंश से आन्ध्र वंश तक का राजनैतिक इतिहास वर्णित है। हाज़रा ने इन्हें 200 ई0 के पूर्व रचित माना है। इन विभिन्न तथ्यों के विवेचन से वायु पुराण की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है परन्तु किस काल विशेष में इसका प्रथम संकलित रूप तैयार किया गया, इस विषय में प्रामाणिक रूप से अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सका है।

आलोचित पुराण में सामाजिक स्थिति को आलोकित करने वाले विभिन्न प्रसंग अनेकत्र उपलब्ध हैं जिनसे वर्ण व्यवस्था, आश्रम-जीवन, संस्कार, शिक्षा के प्रति पौराणिक दृष्टिकोण, स्त्रियों की दशा, इत्यादि का सम्यक् ज्ञान होता है। वर्ण व्यवस्था की प्राचीनता के परिपोषक साहित्यिक साक्ष्यों में पुराण वाङ्मय का विशिष्ट स्थान है और पुराणों में उपलब्ध परम्परा का निर्वाह प्रस्तुत पुराण में भी किया गया है। विष्णु, मत्स्य एवं ब्रह्माण्ड पुराण के समान इसमें भी वर्णों की सृष्टि का सम्बन्ध ब्रह्मा से उद्घोषित करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा तथा चरणों से उत्पन्न बताये गये हैं। वेदोत्तरवर्ती साहित्य में स्मृतियों का महत्व अत्यधिक माना जाता है जिनमें इसी भावना का नैरंतर्य प्राप्त होता है। यह निश्चित है कि पौराणिक संरचना के काल में समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को भलीभाँति प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और

इसकी पुष्टि प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग से होती है जहाँ देवों के मध्य भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख किया गया है । यह ध्यातव्य है कि वैदिक परम्परा का "समुपबृंहण" करते हुए आलोचित पुराण में भी वर्ण व्यवस्था की स्थापना का प्रधान कारण धर्माचरण और सामाजिक नियमन को ही निर्धारित किया गया है । इसके अतिरिक्त वर्णों के अनुसार युगों एवं लोकों के विभाजन की चर्चा भी की गई है और वर्णों के कर्तव्यों को भी ब्रह्मा द्वारा निश्चित किये जाने का उल्लेख है । वर्ण-धर्म के पालन-विषयक जटिल एवं कठोर विधानों के साथ साथ प्रस्तुत पुराण में ऐसे भी प्रसंग हैं जो वर्ण विशेष में परिवर्तन को अभिद्योतित करते हैं । यहाँ पर भी पौराणिक परम्परा के सातत्य की सूचना मिलती है और वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों जैसे महाभारत एवं मनुस्मृति में भी विशेष परिस्थिति में अथवा कर्मानुसार परिवर्तन को औचित्यपूर्ण कहा गया है । परन्तु सामान्यतः तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण को निर्धारित कर्तव्यों की परिधि के अन्तर्गत रहना अनिवार्य था और वर्ण-परिवर्तन की व्यवस्था आपातकाल के लिये ही निर्मित थी ।

वैदिक विचारधारा के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोपरि मानते हुए स्थान-स्थान पर महिमान्वित किया गया है । अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मणों के सर्वप्रथम कर्तव्य एवं विशेषाधिकार के रूप में सदैव से ही मान्य थे और आलोचित पुराण में भी इसी का निर्वाह किया गया है । इसके अतिरिक्त प्रतिग्रह और याजन कर्म से भी ब्राह्मण को अभिन्न माना गया है । राजनीति में ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण स्थिति के प्रकाशक स्थल भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध हैं । ब्राह्मणों के सम्बन्ध में उत्तरवैदिक युग एवं धर्मसूत्रों व स्मृतियों के रचनाकाल में भी यही भावना बनी रही । द्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित क्षत्रिय वर्ण के सन्दर्भ में पौराणिक उद्धरणों में रणकौशल को सर्वप्रधान कहा गया है । दूसरों की रक्षा का भार तथा दानशील प्रवृत्ति को भी आलोचित पुराण में क्षत्रियों की श्रेष्ठ उपलब्धि घोषित किया गया है । वर्ण व्यवस्था के तृतीय

क्रम पर अवस्थित वैश्य के लिये निर्धारित कर्तव्यों की परिधि में पशुपालन, वाणिज्य एवं कृषिकर्म को प्रमुख बताया गया है । आलोचित पुराण में शूद्रों के लिये ब्रह्मा द्वारा परिचर्या कार्य का निर्धारण उद्घोषित है । शूद्रों की दयनीय दशा होते हुए भी उनके प्रति उदार भावनाओं के परिपोषक स्थल भी प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होते हैं । वर्णों के सम्बन्ध में धर्मसूत्रों, स्मृतियों आदि रचनाओं में भी पौराणिक परम्पराओं से साम्य रखने वाले विचार ही प्राप्त होते हैं ।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अतिरिक्त आलोचित पुराण में मिश्रित एवं वर्णसंकर जातियों का उल्लेख भी किया गया है जिनमें अन्ध्र, आभीर, धीवर, किरात, निषाद, पुलिन्द, पाराशव, सूत, मागध, शूलिक आदि निहित हैं परन्तु दास और चाण्डाल इनसे पृथक बताये गये हैं ।

पौराणिक संरचना के काल में आश्रम विषयक विभाजन को सामाजिक सन्तुलन का आधार मानकर पूर्णरूपेण स्वीकृति दी गई जिसका निर्वाह आलोचित पुराण में भी किया गया है । आश्रम व्यवस्था का उद्भव ब्रह्मा से मानकर इसे दैवी अभिव्यक्ति दी गई जिससे जनसमुदाय इसका सरलतापूर्वक पालन कर सके । आलोचित पुराण के एक स्थल पर आश्रम धर्म का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति नरकगामी कहे गये हैं जिससे इस व्यवस्था के मूल में धर्म का समाहार प्रमाणित हो सके । सुनियत और सुगठित समाज के लिये आश्रम धर्म के पालन का अनुमोदन करते हुए ब्रह्मा के द्वारा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक नामक चार आश्रमों की स्थापना का वर्णन किया गया है । जीवन में मानसिक एवं बौद्धिक उत्कर्ष ब्रह्मचर्य के अनुपालन से ही सम्भव कहा गया है तथा इस आश्रम में किये जाने वाले कर्तव्यों में दण्ड, मेखला एवं जटा धारण, भूमि-शयन, गुरु-सेवा, भिक्षावृत्ति आदि पालनीय बताये गये हैं । आलोचित पुराण में चारों आश्रमों के मध्य गृहस्थ आश्रम

को ही अन्य आश्रमों की उत्पत्ति और स्थिति का कारण निश्चित करके सभी आश्रमों का स्रोत कहा गया है । इस आश्रम का अतिसम्मानीय और महत्वपूर्ण स्थान धर्मशास्त्रसम्मत है क्योंकि धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में भी इसी आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । इस आश्रम में अवस्थित होकर व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और व्यक्तिगत कर्त्तव्यों का पालन करता है अतएव इसमें ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग प्रधान है । गृहस्थ के लिये विहित कर्तव्यों में सर्वप्रथम स्त्री परिग्रह का उल्लेख है जिसके पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश परम्परा की वृद्धि करता है । यहाँ वैदिक भावना का समर्थन प्राप्त होता है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में सन्तानहीन व्यक्ति का जीवन व्यर्थ माना गया है । इसके अतिरिक्त अतिथि सत्कार, याज्ञिक अनुष्ठान, पितृ तर्पण इत्यादि अन्य निर्दिष्ट कर्म बताये गये हैं । गार्हस्थ्य कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के उपरान्त सांसारिक बन्धनों को त्याग कर व्यक्ति जीवन के तृतीय क्रम में वानप्रस्थ की ओर उन्मुख होता है । चीर, पत्र और अजिन धारण करना, वनसुलभ आहार का भक्षण, होमानुष्ठान करना तथा तपस्या में निरत रहना वानप्रस्थ जीवन के प्रमुख कर्तव्य बताये गये हैं । वानप्रस्थ जीवन में सपत्नीक प्रवेश करना चाहिये अथवा अकेले, इस विषय पर धर्मशास्त्रकारों ने विकल्प की व्यवस्था की है जिसका अनुपालन पौराणिक स्थलों पर भी किया गया है । अन्तिम आश्रम के रूप में प्रस्तुत पुराण के अन्तर्गत संन्यास का उल्लेख है जिसका उद्देश्य उत्तम ज्ञान की प्राप्ति बताया गया है । जन्म-मरण के आवर्त से मुक्त होने के लिये इस आश्रम में कठोर साधना अपेक्षित थी । इसके अतिरिक्त संन्यासियों के लिये अस्तेय, पवित्रता, प्राणियों के प्रति दयाभाव, क्षमा, अक्रोध, सत्य, गुरुसेवा आदि गुणों के पालन करने का विधान स्वयं ब्रह्मा द्वारा निश्चित करने की चर्चा भी मिलती है । श्रमशीलता और भिक्षाटन भी संन्यासी के लिये अनिवार्य बताये गये हैं । आलोचित पुराण में निरूपित आश्रम सम्बन्धी विधानों में प्राचीनता के सातत्य के साथ नवीन

प्रवृत्तियों का संयोजन भी प्राप्त होता है। वैदिक प्रभाव होने के साथ धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से पर्याप्त साम्य भी दृष्टिगोचर होता है।

संस्कारों के प्रचलन एवं तत्सम्बन्धी विधि-विधानों पर धर्मसूत्रों और स्मृतियों में सविस्तार प्रकाश डाला गया है। आलोचित पुराण में इन्हीं संस्कारों को स्वीकार करते हुए भिन्न-भिन्न मनोरथों एवं प्रयोजनों की सिद्धि के लिये इनके सम्पादन का निर्देश दिया गया है। जातकर्म, चूडाकर्म आदि संस्कारों के विषय में आलोचित पुराण में चर्चा की गई है परन्तु उपनयन संस्कार के प्रकाशक स्थल अनुपलब्ध हैं। पौराणिक समाज में इस संस्कार विशेष के महत्व का परिचय अन्य पौराणिक उद्धरणों से होता है क्योंकि व्यक्ति के अनुशासित जीवन एवं बौद्धिक उन्नयन का मार्ग यहीं से प्रारम्भ माना गया था। इसके पश्चात् नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति प्रदान करने वाला विवाह संस्कार अत्यन्त गौरवशाली और विशिष्ट था जिसके माध्यम से सहधर्मिणी प्राप्त कर व्यक्ति जीवन का उपभोग करने के साथ अन्य कर्तव्यों के पालन में समर्थ होता है। विवाह के प्रमुख उद्देश्यों में सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश परम्परा की वृद्धि को सर्वप्रथम स्थान दिया गया और यही विचार आलोचित पुराण में प्रतिपादित किये गये हैं जहाँ स्त्री को लोकवृद्धि का आधार कहा गया है। विवाह संस्कार के लिये योग्य और अनुकूल वर अथवा कन्या का होना अपेक्षित था। जिसकी पुष्टि पौराणिक उद्धरणों से होती है। कन्या के विवाह की आयु के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण के अन्तर्गत अल्पायु और पूर्ण युवती होने तक की आयु का समर्थन मिलता है। पौराणिक समाज में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं जिनसे अपेक्षाकृत कम जटिलताओं का आभास होता है। कतिपय प्रसंगों से तत्कालीन समाज में प्रचलित बहुविवाह प्रथा की पुष्टि होती है जिसे वैदिक कालीन परम्परा माना जा सकता है।

आलोचित पुराण में तत्कालीन समाज में शिक्षा के महत्व विद्यार्थी जीवन, गुरु एवं शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध, आचार्य का सम्मानीय पद आदि अनेक पक्षों का प्रभासन किया गया है । कतिपय स्थलों पर वैदिक भावना का अनुपोषण प्राप्त होता है, कहीं पर स्मृतियों से समानता दिखाई पड़ती है तथा कहीं पर पूर्णतः नवीन तथ्यों का उद्घाटन होता है । इसके अतिरिक्त सदैव से ही शिक्षा को मानव जीवन एवं भौतिक विश्व की समस्याओं का निराकरण करने, जगत के यथार्थ स्वरूप को जानने, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों के रहस्य के स्पष्टीकरण में सहायक माना गया है । प्रस्तुत पुराण में भी इन्हीं विचारों को समर्थित करते हुए मोक्षप्राप्ति में योगदान देने वाले ज्ञान को ही सफल उपलब्धि बताया गया है । पौराणिक साक्ष्यों के आलोक में प्रतीत होता है कि बाल्यकाल ही विद्यारम्भ का उचित समय था और ऋषियों के आश्रम शिक्षा केन्द्र के रूप में मान्य थे । अध्ययन और अध्यापन दोनों में मौखिक प्रणाली ही प्रचलित थी जो वैदिक काल से चली आ रही थी । आलोचित पुराण में प्रवाचक के द्वारा उदाहरण-बोधक श्लोकों से वर्ण्य-विषय को पुष्ट करने का प्रसंग प्राप्त होता है । प्रवचन के साथ ही शास्त्रार्थ द्वारा ज्ञानवर्धन की परम्परा भी थी । विद्यार्थी जीवन में स्वाध्याय के अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक विश्राम के लिये अवकाश की भी समुचित व्यवस्था थी ।

आलोचित पुराण में विद्यार्थी के प्रमुख कर्तव्यों को भी उद्भासित किया गया है । वैदिक युगीन परम्परा का निर्वाह करते हुए विद्यार्थी का सर्वप्रधान कर्तव्य गुरु शुश्रूषा को घोषित किया गया है । इसके अतिरिक्त विनय, संयम-नियम का पालन, श्रद्धाभाव, भिक्षाटन आदि विद्यार्थी के लिये अपेक्षित थे ।

प्रस्तुत पुराण में देशाटन का महत्व प्रकाशित किया गया है जो अन्य पौराणिक उद्धरणों में सुलभ नहीं है । विद्यार्थी के लिये इस नियम का औचित्य कहाँ तक था और इसका विकास किस समय हुआ, यह सुनिश्चित रूप से ज्ञात नहीं है ।

द्वारा तपस्या करने का उल्लेख भी प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होता है। सम्भवतः सुसंस्कृत परिवार की कन्यायें, विशेष रूप से ऋषि एवं आचार्यों की पुत्रियाँ जीवन की पूर्वपीठिका को सुयोग्य बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। व्यवहारिक शिक्षा का क्षेत्र नृत्य, संगीत, चित्रकला, युद्धविद्या आदि तक विस्तृत था जिसमें कन्या का निष्णात होना स्वाभाविक माना जाता था।

स्त्री को मर्यादापूर्ण आदर देने के साथ ही उनके प्रति रखे जाने वाले संकुचित दृष्टिकोण का परिचय भी प्रस्तुत पुराण के कतिपय प्रसंगों से होता है। स्त्री को शूद्र की कोटि में सम्मिलित करके अवशिष्ट अन्न देने का भी निषेध किया गया है। पौराणिक उद्धरणों में निरूपित स्त्रियों की पतनोन्मुख दशा का निर्वाह धर्मसूत्रों, महाकाव्यों और स्मृतियों के काल में भी दिखाई पड़ता है जबकि स्त्री शिक्षा की उपेक्षा होने लगी, उनके उपनयन की प्रथा समाप्त हो गई, विवाह की आयु कम कर दी गई और पति के पत्नी पर असीमित अधिकारों का समर्थन किया गया। आलोचित पुराण के ये विवेचित प्रसंग सामान्यतः स्त्रियों की वास्तविक स्थिति के परिचायक न होकर विशेष परिस्थितियों से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं, अतएव इन्हें निश्चित प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता है।

आलोचित पुराण से तत्कालीन सामाजिक परिवेश में लोकप्रिय वस्त्राभूषण की परम्पराओं का भी ज्ञान होता है। सैन्धव युगीन प्रमाणों एवं वैदिक वाङ्मय से स्त्री और पुरुष दोनों की सौन्दर्यवर्धन के प्रति अभिरुचि पुष्ट होती है। प्रस्तुत पुराण में भी अलंकारों को स्त्री सौन्दर्य की वृद्धि का प्रमुख साधन बताते हुए शरीर के अंगों के अनुरूप ही आभूषणों को पहनने का आग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त विविध प्रसंग समाज में प्रयुक्त किये जाने वाले आभूषण-प्रकारों को आलोकित करते हैं। शिरोभाग पर मुकुट एवं किरीट, कानों में कुण्डल, गले में

गुरु एवं आचार्य को आदरणीय स्थान देकर उसके गुणों के विषय में आलोचित पुराण के विभिन्न स्थलों पर अभिव्यक्ति की गई है । लोभरहित, आत्मनिष्ठ, विपुल विद्यावान, विनम्र और वृद्ध को आचार्य की संज्ञा दी गई है । शिक्षा प्रणाली में अध्ययन के प्रमुख विषयों के सन्दर्भ में प्रस्तुत पुराण सर्वप्रथम वेदों के महत्व को स्वीकार करता है जिससे पौराणिक संरचना के युग में वेदाध्ययन के प्रचलन का समर्थन होता है । पुराण, इतिहास, आयुर्वेद, आयुधिक शिक्षा, [illegible], भूगोल, योग इत्यादि अन्य विषयों को भी स्थान दिया गया था ।

आलोचित पुराण में तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति को भी आलोकित किया गया है । सृष्टि और सन्तुलन के अनिवार्य अंग के रूप में इन्हें सर्वदा ही सम्मानीय स्थान दिया गया और प्रस्तुत पुराण में भी स्त्री के अभाव में प्राणिमात्र का पालन असम्भव माना गया है । जननी, कन्या, पत्नी इत्यादि विविध रूप में स्त्री को गौरव मण्डित किया गया है । माता को यथोचित गरिमा प्रदान करते हुए उसके प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार की भर्त्सना की गई है । पुत्री को भी पिता के स्नेह का भाजन बताते हुए उदार भावनाओं का प्रतिपादन मिलता है । पौराणिक स्थलों पर पत्नी के लिये सहधर्मिणी शब्द प्रयुक्त किया गया है जो गृहस्थ जीवन में पति को दिये जाने वाले सहयोग का द्योतक है । यज्ञ एवं अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन सपत्नीक ही करना औचित्यपूर्ण घोषित है । पत्नी की पति-परायणता को सर्वश्रेष्ठ गुण के रूप में स्वीकार किया गया है ।

आलोचित पुराण में स्त्री संहार की वर्जना की गयी है और सामाजिक अव्यवस्था के मूल में स्त्री वध की अधिकता को उत्तरदायी माना है । स्त्री की अवध्यता सम्बन्धी विचार वैदिक भावना के पोषक हैं । इसके अतिरिक्त स्त्रियों

मणि, हार, पुष्पमाला, हाथों में वलय, केयूर, अंगद, कंकण, कटिभाग में किंकिणी इत्यादि धारण करने की परम्परा थी । इनमें से कतिपय अलंकार ऐसे भी थे जो स्त्री और पुरुष दोनों ही पहनते थे । सम्भवतः अन्य सौन्दर्य प्रसाधन भी प्रचलित थे क्योंकि आलोचित पुराण में बहुविध गन्ध चन्दन के अनुलेप की चर्चा अनेकत्र की गई है । स्त्रियों के द्वारा काजल तथा आलक्तक के प्रयोग की सूचना भी प्राप्त होती है ।

प्रस्तुत पुराण में वस्त्र की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्हें देवताओं के द्वारा प्रशंसित और सर्वदेवमय कहा गया है । शरीर को वस्त्राच्छादित किये बिना धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन भी अनुचित वर्णित है । ऊनी, सूती, क्षौम, पट्ट, कौशेय इत्यादि के उल्लेख से पौराणिक संरचना के युग में वस्त्र-वैविध्य की परम्परा ज्ञात होती है । इसके अतिरिक्त रंगों के सम्बन्ध में भी पौराणिक समाज की भिन्न-भिन्न अवधारणायें थीं । श्वेत रंग पवित्रता-बोधक, रक्त वर्ण विशेष चमक-दमक का परिचायक और काला अशुभ का सूचक माना जाता था ।

आलोचित पुराण में उपलब्ध वस्त्रालंकार सम्बन्धी प्रसंग तत्कालीन समाज की एतद्विषयक मान्यताओं को उद्भासित करते हैं परन्तु पौराणिकों का उद्देश्य सन्दर्भित विषय की अभिव्यक्ति करना नहीं था अतएव कतिपय पक्षों का स्पष्टीकरण नहीं प्राप्त होता है जैसे धारण किये जाने वाले वस्त्रों का नाम एवं संख्या । अन्य पौराणिक उद्धरणों से उत्तरीय एवं अधोवस्त्र 'वास' का प्रयोग, उष्णीष धारण की परम्परा तथा उपानह के प्रचलन के सम्बन्ध में सूचना मिलती है ।

मानव शरीर के एकमात्र आधार के रूप में अन्न की महत्ता प्रस्तुत पुराण में स्वीकार करते हुए अन्नाभाव को जीवों के लिये मृत्यु कहा गया है । गेहूँ,

चना, धान, जौ आदि भाँति-भाँति के अनाजों के उल्लेख के साथ उपयोगी ग्रामीण तथा वन्य अनाजों का पृथक्करण भी किया गया है। अनाजनिर्मित खाद्य पदार्थों में यवागू एवं यावक को योगी के भक्षणार्थ निर्देशित करके सक्तु, लाजा, अपूप इत्यादि की चर्चा भी की गई है। अन्नदान को सर्वश्रेष्ठ दान घोषित करके अन्न को महिमान्वित किया गया है। गुड़, मिश्रित ओदन तथा दूध मिश्रित शक्कर एवं चिउड़े के उल्लेख से मिष्ठान्न के प्रचलन का भी समर्थन होता है। अन्य पौराणिक उद्धरणों के आधार पर मोदक और संयाव को भी मिष्ठान्न में सम्मिलित किया जा सकता है। सात्त्विकपूर्ण आहार के अन्तर्गत शाक, फल, मूल आदि को मान्यता दी गई थी। दूध और दही के प्रचुर प्रयोग का वर्णन आलोचित पुराण के विभिन्न प्रसंगों में किया गया है। दैनिक जीवन में दूध के विशेष महत्व की परम्परा वैदिक कालीन थी जिसे पौराणिक समाज में भी स्वीकार किया गया था। घृत दान तथा उसका प्रयोग भी अत्यंत पवित्र बताया गया है।

आलोचित पुराण के कतिपय स्थलों से भोजन पकाने एवं करने के सम्बन्ध में विधानों की सूचना मिलती है जिनमें स्वच्छता और शुद्धता को आवश्यक बताया गया है। भोजन का पात्र शुद्ध होना, भोज्य पदार्थों पर मन्त्रपूत जल का सेचन, भोजन करते समय अन्न की निन्दा न करना आदि अन्य नियम निर्धारित थे। प्रस्तुत पुराण में मांसाहार के समर्थक प्रसंग भी मिलते हैं परन्तु कहीं कहीं पर उसकी वर्जना भी की गई है। सम्भवतः मांस भक्षण विशेष अवसरों पर ही किया जाता था और गोमांस का सेवन निन्दनीय अपराध था। गाय की अवध्यता ऋग्वेद में भी उद्घोषित है।

पेय पदार्थों में सुरापान की गणना अक्षम्य अपराध के रूप में की गई है किन्तु सोम और मदिरा की धार्मिक अवसरों पर उपयोगिता को औचित्यपूर्ण कहा गया है जिसे वैदिक प्रवृत्ति का पोषक माना जा सकता है। दिव्य पेय

के रूप में अमृत का उल्लेख मिलता है । मधु तथा फलों के रस का आस्वादन भी प्रस्तुत पुराण में लाभदायक कहा गया है ।

आलोचित पुराण के अन्तर्गत मनोरंजन के साधनों का वर्णन प्रासंगिक तथा सोद्देश्य दोनों ही रूपों में उपलब्ध है । संगीत शास्त्र की गणना अट्ठारह विद्याओं की तालिका में करते हुए स्वरों की उत्पत्ति एवं नामों को विशेष विस्तार के साथ निरूपित किया गया है । एक पृथक अध्याय में मात्र गीतों के अलंकारों का ही वर्णन है जो पौराणिक समाज में संगीत विद्या की लोकप्रियता का परिचायक है । प्रस्तुत पुराण में शिव को [illegible], गीतवादरत आदि विशेषणों से सम्बोधित करके संगीत का सम्बन्ध उनके साथ स्थापित किया गया है । इसके अतिरिक्त यज्ञानुष्ठान के समय संगीत के आयोजन की व्यवस्था का समर्थन किया गया है । गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर इत्यादि सभी गायन और वादन में निपुण कहे गये हैं ।

वाद्य यन्त्रों में भेरी, दुन्दुभि, गोमुख, झांझ, शंख, नगाड़े, वीणा, मृदंग, वेणु इत्यादि विविध नामों का वर्णन है । संगीत के साथ नृत्यकला की चर्चा भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध है जिसे सम्भवतः मनोरंजन के साधनों में [illegible] स्थान दिया गया था । आमोद-प्रमोद के लिये द्यूत क्रीड़ा एवं आखेट के प्रचलन के प्रमाण भी आलोचित पुराण में निरूपित हैं जिन्हें वैदिक परम्परा का सातत्य माना जा सकता है । राजाओं का मृगया-प्रेम पौराणिक उद्धरणों में प्रचुरता से वर्णित है जो स्मृतियों, अर्थशास्त्र परम्परा तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा भी पुष्ट हो जाता है । झूला झूलने, जलक्रीड़ा करने, नाटक एवं अभिनय करने तथा उत्सव मनाने के प्रसंग भी प्रस्तुत पुराण में यत्र तत्र उपलब्ध हैं जो तत्कालीन समाज में मनोरंजनार्थ प्रचलित थे जिनका जनसमुदाय इच्छानुसार अनुगमन कर सकता था ।

आलोचित पुराण में मनुष्य के सामूहिक जीवन, गृह-निर्माण, नगर-स्थापना आदि के विकास सम्बन्धी अवधारणाओं को प्रकाशित किया गया है। प्रारम्भ में नदी, सागर, पर्वतों आदि के निकट निवास स्थान तथा मात्र वनस्पतियों के आहार-विषयक स्थल उस युग की ओर इंगित करते हैं जिसे ऐतिहासिकों ने पाषाण युग कहा है। इसके अतिरिक्त भवन-निर्माण कला का भी तत्कालीन समाज में सम्यक् ज्ञान था जिसका सम्बन्ध पुराणकार ने देवशिल्पी विश्वकर्मा से स्थापित किया है। दुर्ग-निर्माण विषयक नियमों की चर्चा करते हुए चार प्रकार के दुर्ग निश्चित किये गये हैं। वप्र और अट्टालक दुर्ग के अंग के रूप में वर्णित हैं। वर्तमान नगर, कस्बे और गाँव के पौराणिक कालीन स्वरूप नगर, खेट एवं ग्राम कहे जा सकते हैं जिन्हें क्रमशः एक, आधा तथा चौथाई योजन क्षेत्र पर विस्तृत बताया गया है।

नगर-योजना को महत्व प्रदान करते हुए तत्सम्बन्धी विधानों का उल्लेख भी किया गया है। लम्बाई से आधी चौड़ाई वाले नगरों को सर्वश्रेष्ठ घोषित करके छिन्नकर्ण, विकर्ण, व्यंजक, कृश, वृत्त इत्यादि आकार वाले नगरों की आलोचना की गई है। नगरों के चतुर्दिक प्राकार व्यवस्था, द्वारों की संख्या, प्रवेश द्वार का आकार, तोरण-निर्माण आदि का समुचित विवेचन किया गया है। नगर में धर्मशाला की विद्यमानता भी आलोचित पुराण के द्वारा समर्थित की जा सकती है। प्रतीत होता है कि पौराणिक काल में तीर्थस्थलों पर धर्मशाला निर्मित करवाने की परम्परा आरम्भ हो चुकी थी। स्वच्छता के दृष्टिकोण से नगर में जल-निकास प्रणाली को आवश्यक बताने के साथ उपवनों और वाटिकाओं को नगर के सौन्दर्यवर्धन के लिये अनिवार्य घोषित किया गया है। नगर-विन्यास विषयक इन मान्यताओं की पुष्टि अन्य पुराणों के अतिरिक्त महाभारत तथा अर्थशास्त्र से भी होती है।

नगर-योजना में मार्गों की व्यवस्था और उनके आकार-विस्तार का निरूपण भी प्रस्तुत पुराण में मिलता है। दिशा मार्ग, सीमा स्थित मार्ग आदि

के अतिरिक्त राजमार्ग को अधिक चौड़ा निर्मित करने का परामर्श दिया गया है । चारों ओर से आने वाले मार्गों का संयोजन स्थल चतुष्पथ कहा गया है।

गृह-निर्माण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख करते हुए पंक्तिबद्ध भवनों का समर्थन किया गया है । साधारण गृहों के अतिरिक्त हर्म्य, प्रासाद आदि का अनेकत्र वर्णन मिलता है । गृह को सुविधाजनक बनाने के लिये गवाक्ष, सोपान, द्वार, स्तम्भ आदि आवश्यक उपादानों की यथोचित व्यवस्था को प्रस्तुत पुराण में अनुमोदित किया गया है ।

गृह-निर्माण के पश्चात् शुचिता के उद्देश्य से कतिपय अनुष्ठान भी किये जाते थे क्योंकि आलोचित पुराण के एक स्थल पर आचारों के [illegible] भवनों को पिशाचों का निवास स्थान कहा गया है । गृहों में अलंकरण के निमित्त उद्यान लगाने तथा पताका फहराने की परम्परा भी थी । निवास स्थानों के अतिरिक्त सभाभवन अन्तःपुर, सूतिकागृह इत्यादि के निर्माण का उल्लेख भी उपलब्ध है । पौराणिक उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि शिल्प शास्त्र से सम्बन्धित नियमों का निर्वाह पौराणिक संरचना के युग में किया जाता था ।

आलोचित पुराण को मूल वायुप्रोक्त पुराण के शैव संस्करण के रूप में स्वीकार किया गया है और इसका वैष्णव संस्करण ब्रह्माण्ड पुराण को माना गया है । परन्तु मात्र शिव को प्रधानता देने का मन्तव्य प्रस्तुत पुराण में नहीं दृष्टिगोचर होता है । अनेकत्र ऐसे प्रसंग विकीर्ण हैं जिनमें विष्णु का सम्मानीय पद स्वीकार करके उन्हें विश्वेश, सभी लोकों के कर्ता आदि अभिधान दिये गये हैं । आलोचित पुराण में विष्णु के प्रति जो विचार निरूपित हैं उनसे ऋग्वैदिक विष्णु की स्थिति में परिवर्तन अभिद्योतित होता है । ऋग्वेद में अन्य देवताओं की तुलना में विष्णु का महत्व गौण है परन्तु क्रमिक रूप से उत्तरवैदिक काल में उन्हें मान्यता दी जाने लगी जिसका परिपाक पौराणिक वाङ्मय में प्राप्त होता है । इन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि इत्यादि वैदिक देवताओं के मध्य विष्णु को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठापित किया गया है । रुद्र और विष्णु की समानता भी कुछ स्थलों पर प्रतिपादित मिलती है और कहीं पर शिव की तुलना में विष्णु को वरीयता दी गई है ।

सम्भवतः याज्ञिक अनुष्ठानों में विष्णु की श्रेष्ठता मान्य होने के कारण उन्हें अधिक सम्मानीय पद दिया गया था । वैदिक काल में भी विष्णु की यज्ञीय महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकृत थी । विष्णु के परम पद के विषय में आलोचित पुराण में जो भावना अभिव्यक्त है उसे वैदिक परम्परा का प्रभाव मान सकते हैं । एक प्रसंग में विष्णु की सर्वविद्यमानता को उद्भासित करते हुए विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति प्रवेशन के अर्थ में प्रयुक्त 'विश्' धातु से मानी गई है और अखिल ब्रह्माण्ड उन्हीं की शक्ति से आच्छादित बताते हुए उन्हें 'विष्णु' की संज्ञा प्रदान करने का उल्लेख है । अन्यत्र विष्णु और नारायण का एकत्व स्थापित करके वैदिक परम्परा का निर्वाह किया गया है । पौराणिक उद्धरणों में वासुदेव कृष्ण के रूप में विष्णु द्वारा अवतार लेने की चर्चा है जो वेदोत्तरवर्ती साहित्य में स्थापित की गई थी । इसके साथ ही विष्णु के अवतार का प्रयोजन सविस्तार वर्णित है जिस पर श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है । एक स्थल पर युगधर्म का ह्रास होने पर धर्म की व्यवस्था के लिये भगवान

के मृत्युलोक में अवतरित होने का निरूपण किया गया है । विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख करते हुए प्रथम तीन संभूतियों को देवयोनि का बताया गया है । इन तीन अवतारों का मूल वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है । प्रस्तुत पुराण में यथार्थतः उसी भावना का पोषण किया गया है जहाँ वेदों का परिबृंहण इतिहास-पुराण को माना जाता है । विष्णु के अवतारों की तालिका में बुद्ध का उल्लेख किसी भी स्थल पर सुलभ नहीं है ।

देवताओं के साथ देवियों का संयोजन ऋग्वेद में भी उपलब्ध है परन्तु लक्ष्मी को विष्णु से सम्बन्धित न करके उन्हें आदित्य की पत्नी कहा गया है । आलोचित पुराण में वैदिक परम्परा में परिवर्तन करके लक्ष्मी को विष्णु की भार्या कहा गया है तथा उनके मूर्त रूपों में कमल का वर्णन किया गया है । वास्तव में प्रस्तुत पुराण के अन्तर्गत प्राप्त होने वाला वैष्णव धर्म का स्वरूप वैदिक विचारधारा का समर्थक होते हुए भी नवीनता के समाहार का परिचायक है ।

आलोचित पुराण में शिव को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करते हुए विभिन्न प्रसंगों में उन्हें महिमान्वित किया गया है जिसके आधार पर इस ग्रन्थ को मूल वायुप्रोक्त पुराण का शैवपरक संस्करण निर्धारित किया गया है । शिव में ही पूर्ण आनन्द और परम पद को सन्निहित मानते हुए उनकी आठ प्रतिमाओं एवं उनके अभिधानों का सविस्तार निरूपण किया गया है । शिव के वामांग से हरि और दक्षिण अंग से ब्रह्मा तथा हृदय से रुद्र की उत्पत्ति घोषित करते हुए समस्त जगत के मूल आश्रय शिव कहे गये हैं । पौराणिक संरचना के युग में शिव की यह महत्ता निश्चय ही वैदिक विचारधारा में परिवर्तन का समर्थन करती है क्योंकि वैदिक वाङ्मय में, विशेषकर ऋग्वेद में शिव को प्रकर्षमय दिखाने की प्रवृत्ति का अभाव है परन्तु शिव के पौराणिक नामों तथा उनके स्वरूप पर वैदिक प्रभाव को स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई पड़ता है ।

आलोचित पुराण में समन्वयवादी दृष्टिकोण की उद्भावना भी की गई है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव में एकात्म्य स्थापित करते हुए शिव को सृष्टि-कर्ता, विष्णु को सृष्टिभूमि और ब्रह्मा को उसका बीज कहा गया है। अन्यत्र परम ऐश्वर्य समन्वित ईश्वर के द्वारा एकात्मा होकर तीन रूपों में विभक्त होने पर प्रजाओं को सम्मोहित करने वाला बताया गया है। प्रस्तुत पुराण में अनेक ऐसे स्थल भी उपलब्ध हैं जहाँ शिव के स्वरूप पर वैदिक भावना का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर है। शिव को क्रोधागार एवं उग्र रूपों के धारक जैसे विशेषण देना, पशुओं के साथ उनका सम्बन्ध निश्चित करके पशुपति रूप में सम्बोधित करना, त्र्यम्बक, पिनाकी, शर्व, भव, नीललोहित, वृषभध्वज आदि नामों से अभिहित करना, वैदिक परम्परा के सातत्य की पुष्टि करते हैं। अन्यत्र अग्नि से शिव को अभिन्न मानते हुए उन्हें अग्नि कह कर सम्बोधित किया गया है। वैदिक काल में भी अग्नि के द्वय भौतिक आधार पर ही रुद्र की कल्पना की गई थी जिसका घोरातनु रूप संसार के संहार में समर्थ है तथा अघोरातनु रूप में वह संसार पालन में सक्षम है। वैदिक साहित्य में शिव के उग्र और कल्याणकारी रूपों का संयोजन मिलता है जिसे प्रस्तुत पुराण में भी अपनाया गया है। परन्तु पुराण-कारों के द्वारा शिव के सौम्य रूप से सम्बन्धित शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है जो वैदिक युगीन अवधारणा में क्रमिक परिवर्तन का परिचायक है। आलोचित पुराण में शिव को यज्ञ में आमन्त्रण के योग्य नहीं कहा गया है जहाँ पुनः वैदिक विचारधारा के अनुगमन का समर्थन मिलता है क्योंकि यज्ञ के अवसर पर अन्य देवताओं के साथ रुद्र को वैदिक काल में भी आहूत नहीं किया जाता था। आलोचित पुराण में शिव के अनुचरों में भूत, पिशाच, राक्षस, असुर, दैत्य, रुद्र आदि के अतिरिक्त यक्ष, विनायक, नाग, गन्धर्व इत्यादि भी सम्मि-लित कर लिये गये हैं। रुद्रों से शिव का सम्बन्ध वैदिक युगीन है किन्तु अन्य अनुचरों की तालिका में वर्धन वेदोत्तरवर्ती भावना को स्वीकार करने का परि-णाम है। तप और योग से शिव को सम्बद्ध करते हुए उन्हें तपोनिधि एवं महा-योगी विशेषण भी प्रस्तुत पुराण में दिये गये हैं। शिव के अट्ठाइस अवतारों

का उल्लेख वायु पुराण का वैशिष्ट्य है और अन्तिम अवतार के रूप में नकुलिन का वर्णन है । स्कन्द कार्तिकेय, पार्वती तथा गणेश को आलोचित पुराण के विभिन्न प्रसंगों में शिव के साथ ही सम्बन्धित किया गया है ।

प्रस्तुत पुराण के धार्मिक गठन में सौर्य उपासना को विशिष्ट स्थान दिया गया है । शिव और विष्णु की अपेक्षा उनकी स्थिति पौराणिक रचना के युग में गौण अवश्य हो गई थी किन्तु हिन्दुओं के पंचदेवों में सूर्य का स्थान अति प्राचीन काल से ही मान्य रहा है । वैदिक काल में सूर्य को धन, अन्न, यश, स्वास्थ्य एवं अन्य कल्याणकारक अभीष्ट की प्राप्ति का स्रोत माना गया था जो पौराणिक सूर्य की परिकल्पना में सहायक सिद्ध हुआ । आलोचित पुराण में आदित्य को सूर्य का नामान्तर मानते हुए कहा गया है कि सब प्रकार के अन्धकार का विनाश करने के कारण महान तेजोराशि को आदित्य नाम दिया गया । इसके अतिरिक्त सूर्य से आदित्य का पृथक्करण भी प्रस्तुत पुराण में निरूपित है तथा आदित्यों की संख्या बारह निर्धारित की गई है । यह दोनों ही विचार वैदिक परम्परा से साम्य रखते हैं क्योंकि ऋग्वेद में उदयकालीन सूर्य के सन्दर्भ में आदित्य शब्द का प्रयोग और अदिति द्वारा उत्पन्न सात आदित्यों का उल्लेख प्राप्त होता है । प्रस्तुत पुराण में सूर्य के लिये सविता, भानु, भास्कर आदि विविध नामों का प्रयोग किया गया है । वैदिक वाङ्मय में मार्तण्ड की गणना बारह आदित्यों के अन्तर्गत की गई है जबकि वायु पुराण सूर्य और मार्तण्ड की अभिन्नता का समर्थन करता है । इसी प्रकार विवस्वान् को बारह आदित्यों में स्थान देने के साथ ही प्रस्तुत पुराण में सूर्य के लिये विवस्वान् तथा आदित्य का तादात्म्य स्थापित कर दिया गया था । भग तथा अर्यमन पौराणिक प्रसंगों में सूर्य के सन्दर्भ में वर्णित है जबकि ऋग्वेद में इनका

उल्लेख मित्र, वरुण इत्यादि देवताओं के साथ किया गया है । यहाँ पौराणिक विचारधारा में वैदिक भावना का निर्वाह नहीं किया गया है ।

अन्यत्र प्रस्तुत पुराण में वैदिक परम्परा की अभिपुष्टि करते हुए सूर्य को प्राणिमात्र के जीवन का स्रोत घोषित किया है । सूर्य को काल, अग्नि एवं द्वादशात्मा प्रजापति वर्णित करते हुए उन्हीं से सब की उत्पत्ति और उन्हीं में लीन होने का नियम निश्चित किया गया है । इसके अतिरिक्त आलोचित पुराण में सौर रथ का अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है जिसमें एक चक्र, पाँच अरायें एवं तीन नाभियों का सन्निवेश है । इसे भी वैदिक परम्परा से प्रभावित मान सकते हैं क्योंकि ऋग्वेद में सूर्य के रथ और सात अश्वों का उल्लेख है । सूर्य पूजा का सरल रूप वैदिक कालीन कहा जा सकता है जिसका पोषण करते हुए आलोचित पुराण सद्यः उदित सूर्य के प्रभामण्डल को ब्रह्मदेव के रूप में, मध्याह्न सूर्य को संहारक ईश्वर के रूप में तथा अस्त होते हुए सूर्य को पालक विष्णु के रूप में पूजने का निर्देश दिया गया है । सौर उपासना के निमित्त प्रतिमा में आलोचित पुराण में दो तथ्यों को उद्घाटित किया गया है, एक तो प्रतिमा का चरण-विहीन होना और दूसरा कमल के साथ सूर्य का सम्बन्ध । मूर्ति निर्माण की यह परम्परा पारसीक प्रभाव से मुक्त नहीं मानी जा सकती है ।

आलोचित पुराण के कतिपय स्थल पौराणिक संरचना के काल में शक्ति की महत्ता एवं स्वरूप को प्रकाशित करने में सहायक हैं । अनिष्ट की आशंका और मानस दुःख के अवसर पर शक्ति के विभिन्न नामों को रक्षार्थ प्रयुक्त करने के लिये कहा गया है । पुराणों में उपलब्ध शक्ति की गौरवमण्डित प्रतिष्ठा वैदिक विचारधारा में क्रम-भंग का प्रमाण है । अभिभावक शक्ति से सम्पन्न किसी देवी की चर्चा वैदिक वाङ्मय में सुलभ नहीं है जो कि वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है ।

आलोचित पुराण में सर्वप्रथम उमा का वर्णन शिव-भार्या और रक्षा करने वाली देवी के रूप में मिलता है। इसी भगवती देवी के क्रुद्ध होने पर काली, कराली, चण्डी, चामुण्डा आदि सम्बोधन दिये गये हैं। उनके असुर मर्दन रूप को उद्घाटित करते हुए महिषमर्दिनी, दैत्यघ्नी, कालरात्रि, विक्रान्ता आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। आलोचित पुराण में देवी का निवास स्थल विन्ध्याचल पर्वत श्रृंखला और उनका वाहन सिंह बताया गया है। प्रस्तुत पुराण में दक्ष-यज्ञ के अवसर पर यज्ञभाग के सम्बन्ध में विरोध के होने पर महादेवी उमा के क्रोध से महेश्वरी महाकाली, भद्रकाली का प्रादुर्भाव उनके शरीर से बताया गया है। शक्ति की वेशभूषा विषयक प्रसंग में उन्हें अंग पर तलवार लटकाये, पीत वस्त्राच्छादित, वक्षस्थल पर मुक्ता माला पहने चार भुजाओं से सुशोभित निरूपित किया गया है। इसके अतिरिक्त महेन्द्री और रौद्री का नामोल्लेख देवी के सन्दर्भ में किया गया है जो उनके इन्द्र और रुद्र से सम्बन्ध को आलोकित करता है। देवी की व्यापनशीलता के परिचायक कात्यायनी, गौरी, कल्याणी, दुर्गा, आर्या, एकानंशा, कुमारी आदि विविध नाम प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध हैं।

विष्णु और शिव का गौरव-गान करने के उपरान्त अन्य देवगणों में आलोचित पुराण में सर्वाधिक महत्व ब्रह्मा को दिया गया है और सृष्टि रचना के प्रसंग में उन्हें ही नारायण एवं महेश्वर का अभिधान दिया है। बृहत् होने के कारण इन्हें ब्रह्मा और प्रजाओं के पालयिता के रूप में प्रजापति कहा जाता है। ब्रह्मा को पद्मयोनि तथा चतुर्मुख नाम से भी सम्बोधित किया गया है। अन्यत्र एक स्थल पर वराह अवतार का तादात्म्य भी ब्रह्मा से किया गया है और उनके स्कन्ध प्रदेश को वेदों के रूप में स्वीकार किया गया है। पौराणिक स्थलों पर उल्लिखित ब्रह्मा को ही वेदों में प्रजापति के रूप में अभिहित किया

गया है तथा आकाश, पृथ्वी, जल एवं समस्त जीवित प्राणियों का सृष्टा निर्धारित किया गया है । ब्रह्मा और प्रजापति में एकत्व की भावना गृह्यसूत्रों के काल तक मान्यता प्राप्त कर चुकी थी जिसका अनुकरण पौराणिकों द्वारा भी किया गया ।

देवमण्डल में विष्णु, महेश्वर तथा ब्रह्मा के उपरान्त इन्द्र को वृत्रहा शब्द से सम्बोधित करते हुए श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है । वैदिक कालीन देवताओं में इन्द्र को सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त थी जिसके विपरीत पौराणिक संरचना के युग में उन्हें निम्न स्थान दिया गया । परन्तु पुरन्दर, शतक्रतु, वज्री आदि शब्दों का इन्द्र के सन्दर्भ में प्रयोग वैदिक विचारों की श्रृंखला के नैरंतर्य की पुष्टि करता है । इसके अतिरिक्त इन्द्र के द्वारा पर्वत भेदन का वर्णन ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध है और प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में उनके पर्वत-पक्षों को काटने तथा उन्हें मेघ रूप में परिवर्तित करने का श्रेय दिया गया है । 'वासव' और 'मघवान्' शब्द का प्रयोग भी आलोचित पुराण में इन्द्र के लिये किया गया है जहाँ वैदिक वाङ्मय से साम्य दृष्टिगोचर होता है ।

प्रस्तुत पुराण में अग्नि देव की आदरणीयता स्वीकार की गई है । समस्त पदार्थों के अधिपति होने के कारण उन्हें 'भूतपति' का अभिधान भी प्रदत्त है । सूर्य और अग्नि के पारस्परिक सम्बन्धों को उद्घाटित करते हुए निश्चित किया गया है कि सूर्य का प्रकाशमान तेज और अग्नि का उष्ण तेज संयुक्त होकर सम्पूर्ण मानव जाति को सन्तुष्ट करता है । यह पौराणिक भावना वैदिक प्रवृत्ति को समर्थित करती है क्योंकि ऋग्वेद में भी अग्नि के उत्पन्न होने पर सूर्य के आविर्भूत होने का उल्लेख है । पावक, पवमान और शुचि अग्नि के इन रूपों का वर्णन प्रस्तुत पुराण में किया गया है । अन्यत्र दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य अग्नि और आह्वनीय अग्नि, ये भेदत्रय विशद रूप में उल्लिखित हैं । पौराणिक वाङ्मय में इन्द्र के समान अग्नि की महत्ता को भी अपेक्षाकृत कम कर दिया गया जबकि वैदिक काल में इन्द्र के पश्चात् अग्नि को ही सर्वाधिक मान-प्रतिष्ठा प्राप्त थी ।

जल के स्वामी के रूप में वरुण की मान्यता वैदिक परम्परा के सातत्य को प्रकाशित करती है । आलोचित पुराण के अनेक प्रसंगों में वरुण का उल्लेख जलाधिपति के रूप में किया गया है । इसके अतिरिक्त वरुण को आदित्यों के अन्तर्गत भी परिगणित किया गया है जो ऋग्वेद के स्थलों से समानता रखता है।

प्रस्तुत पुराण में सोम के विषय में आख्यात है कि समस्त चराचर जगत को पुष्टि देने वाले परम [illegible]ली सोम हैं जिनके तेज से औषधियाँ जाज्वल्य मान रहती हैं । सोम और जल के सम्बन्ध में निरूपित है कि सोम ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं जल के पोषणकर्ता और इनकी क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले हैं। ऋग्वेद में भी सोम को सिन्धु-संभूत माना गया है । चन्द्रमा और पितरगण का पारस्परिक सम्बन्ध चन्द्रमा के लिये प्रयुक्त 'पितृमान' शब्द से अभिव्यक्त होता है । अधिकांशतः पौराणिक स्थलों पर वैदिक भावना का पोषण किया गया है ।

इन्द्र और मरुत गणों को सम्बधित करते हुए आलोचित पुराण में वर्णित है कि ब्रह्मा ने आधिपत्य वितरण के समय मरुतों का राज्यपद इन्द्र को दिया। मरुत गणों की उत्पत्ति विषयक कथा के अन्तर्गत उनकी संख्या उनचास निर्धारित की गई है ।

प्रस्तुत पुराण में समस्त सागरों, नदियों, मेघों, वर्षा और आदित्य के स्वामित्व पर पर्जन्य को अभिषिक्त करने का प्रसंग है जो वैदिक भावना से प्रभावित है क्योंकि पर्जन्य को मेघमात्र की मान्यता वैदिक काल से ही प्राप्त थी । अश्विनी कुमारों को भिषक् श्रेष्ठ कहा गया है और उन्हें सूर्य एवं संज्ञा की सन्तान बताया गया है । यहाँ भी वैदिक प्रवृत्ति की निरन्तरता बनी रही है क्योंकि ऋग्वेद में अश्विनों को भिषक् कहा गया है । अन्य देवगणों के अन्तर्गत विश्वेदेवों का उल्लेख भी है जो मंगलकार्यसाधक और श्राद्ध के भाग के अधिकारी माने गये हैं ।

गन्धर्वों को भी देवताओं की कोटि में रखने का प्रयास आलोचित पुराण में दिखाई पड़ता है और उन्हें गायन विद्या से सम्बद्ध किया गया है जिसे वेदोत्तरवर्ती नवीन संयोजन कहा जा सकता है। अप्सराओं की नर्तनशीलता के प्रकाशक अनेक स्थल आलोचित यत्र तत्र उपलब्ध हैं जो वैदिक परम्परा के अनुकूल हैं। अप्सराओं और गन्धर्वों के सान्निध्य की चर्चा भी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यक्ष, नाग आदि के सम्बन्ध में भी वर्णन प्राप्त होता है। नागों को देव श्रेणी में रखने और उनकी उपासना के प्रसंग भी उपलब्ध हैं जहाँ उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई गई है। प्रमुख देवों के साथ गौण देवताओं का उल्लेख पौराणिक संरचना के युग में क्रियाशील परिवर्तन की प्रवृत्ति का द्योतक है।

वैदिक साहित्य में तीर्थ गमन एवं तीर्थ सेवन विधायक प्रसंग अल्पसंख्यक हैं और कुछ स्थलों पर तीर्थ शब्द का प्रयोग होते हुए भी उसका तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप से तीर्थों से नहीं है परन्तु इन स्थलों को तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा का स्रोत कहा जा सकता है। वैदिक युग में याज्ञिक अनुष्ठानों को वरीयता दी गई थी जिसके फलस्वरूप तीर्थयात्रा का स्वतन्त्र एवं लोकप्रिय धार्मिक संस्थान के रूप में विकसित होना सम्भव नहीं था परन्तु पौराणिक काल में स्थिति में अत्यधिक परिवर्तन हुआ और यज्ञ की अपेक्षा तीर्थ गमन को प्राथमिकता दी गई। सम्भवतः जनसमुदाय के धार्मिक क्रिया कलापों में 'अर्थ' की महत्ता को कम करने के उद्देश्य से ऋषियों ने यज्ञ की तुलना में तीर्थयात्रा को अधिमान्यता दी। इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिपादित कर दिया गया कि तीर्थ गमन से वही फल प्राप्त होता है जो अश्वमेध यज्ञ के सम्पादन से होता है। अतएव पौराणिक धार्मिक गठन में याज्ञिक क्रियाओं की प्रधानता तीर्थ स्थलों पर किये जाने वाले कृत्यों के रूप में सीमित हो गई। काणे महोदय का विचार है कि यज्ञ की अपेक्षा तीर्थों को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान महाभारत और पुराणों में दिया गया। अन्य वेदोत्तर-

कालीन ग्रन्थों में भी तीर्थ सम्बन्धी माहात्म्य का विशद वर्णन मिलता है जिनमें महाभारत एवं विष्णुस्मृति का उल्लेख किया जा सकता है।

आलोचित पुराण के अन्तर्गत नदियों के तट पर अवस्थित तीर्थों तथा श्राद्ध अनुष्ठानों के सन्दर्भ में तीर्थ स्थलों का निरूपण बहुधा किया गया है। तीर्थयात्रा के उद्देश्यों को आलोकित करते हुए कहा गया है कि पवित्र तीर्थों में किये गये सत्कर्मों के फल अन्य जन्म में प्राप्त होते हैं तथा मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति और स्वर्ग गमन को भी तीर्थयात्रा से सम्भव कहा गया है।

तीर्थ स्थलों पर विहित कर्तव्यों की तालिका में सदाचार पालन का विशेष आग्रह किया गया है। संयम और सन्मार्ग का अनुगमन करने वालों को ही मनोवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है। तपस्या, हवन, जप इत्यादि को तीर्थ स्थानों पर करने का नियम भी आलोचित पुराण में निरूपित है। तीर्थों में दान-कर्म का माहात्म्य भी वर्णित किया गया है। मनुष्य को श्रेष्ठ गति प्राप्त करने के उद्देश्य से तीर्थों में श्राद्ध करने का विधान दिया गया है जिससे पितरों का भी उद्धार हो जाता है। यज्ञ, मुण्डन, कन्यादान आदि का सम्पादन भी तीर्थ स्थलों पर पुण्यदायक घोषित है। प्रमुख तीर्थ स्थानों में सर्वाधिक प्रशंसा वाराणसी नगरी की उल्लिखित है जिसे योगेश्वर शंकर का नित्य निवास-स्थान बताते हुए वहीं पर योग और मोक्ष दोनों एक साथ सुलभ कहे गये हैं। प्रयाग, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, द्वारका, मथुरा इत्यादि तीर्थ स्थानों की महिमा भी निरूपित है। गया तीर्थ का माहात्म्य-वर्णन वायु पुराण का अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष है जिसे सर्वाधिक मंगलकारी और मुक्तिदायी कहा गया है। निवास स्थान से लेकर गया तक प्रस्थान मात्र करने से पितरों को पद-पद पर स्वर्गारोहण की सीढ़ियाँ प्राप्त होने का विशद वर्णन दिया गया है।

आलोचित पुराण को कतिपय पुरातन एवं प्राथमिक पुराणों की भाँति पौराणिक संरचना के युग में सामाजिक और धार्मिक दशा की रूपरेखा के निर्धारण में उपयोगी घटक का स्थान दिया जा सकता है ।

--------::O::--------

पौराणिक परम्परा एवं आलोचित पुराण

पुराण साहित्य हमारे समक्ष दीप्तिमान ज्ञान का अदिति रूप उपस्थित करता है जिसके माध्यम से भारतीय मनीषा, कला एवं इतिहास का उल्लेखनीय संरक्षण हुआ है । इसके अतिरिक्त धर्म के संवर्धन, सामाजिक आदर्शों के प्रतिष्ठापन तथा व्यवहारिक दर्शन को व्यापनीय बनाने के दृष्टिकोण से पुराणों का गौरव महनीय और माननीय है । लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ज्ञान राशि के संचित कोश के रूप में पुराणों का महत्व स्वीकार किया गया और विभिन्न पाश्चात्य पुराविदों द्वारा इस दिशा में प्रामाणिक कार्य किये गये । सामान्यतः एच०एच० विल्सन को पौराणिक शोध की आलोचना पद्धति का उन्नायक माना जाता है जिनके उपरान्त कैनेडी, बर्नॉफ, विल्फोर्ड, मैक्समूलर, विन्टरनित्स, वेबर, आदि विद्वानों ने पुराणों के ऐतिहासिक महत्व को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया । पार्जीटर ने सर्वप्रथम पौराणिक साहित्य की पारम्परिक जनश्रुतियों को भारतीय इतिहास से सम्बन्धित सूचनाओं की विशाल खदान बताते हुए उनकी ऐतिहासिक उपादेयता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करके श्लाघनीय योगदान दिया । पौराणिक सामग्री द्वारा इतिहास अंकन का जिन भारतीय विद्वानों ने प्रयास किया उनमें पी०वी० काणे, एस०एन० प्रधान, बी०सी० मजुमदार, एच०सी० रायचौधरी, वी० वी० मीराशी इत्यादि उल्लेखनीय हैं परन्तु वी०आर०आर० दीक्षितार और आर० सी० हाजरा द्वारा पौराणिक शोध प्रक्रिया को [illegible] बनाते हुए उस स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया जहाँ भारतीय संस्कृति के अंकनार्थ उनकी उपादेयता विश्वकोश के रूप में स्वीकृत की गई । भारतीय नयशास्त्र, धर्म, दर्शन, वास्तुकला, प्रतिमा-विज्ञान तथा सामाजिक विधि-विधानों को सन्निदर्शित करने वाले इतिहास की रूपरेखा निर्मित करने में पुराणों को महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है ।

प्राचीन भारत में इतिहास अवधारणा के निर्धारक विद्वानों ने प्रायः पुराणों की ऐतिहासिक उपादेयता के प्रश्न को विचार-विमर्श का विषय बनाया है । उदाहरणार्थ अनन्त सदाशिव अल्टेकर के अनुसार आवश्यक सावधानी को ध्यान में रखते हुए पुराणों के साक्ष्यों के आधार पर प्राग्पाण्डव काल के राजवंशों

का अंकन करना ऐतिहासिक अथवा अवैज्ञानिक नहीं माना जा सकता है ।[1] उक्त विद्वान् ने इस बात पर भी बल दिया कि महाभारत काल के पहले जिन राजवंशों का निरूपण पुराणस्थलों में हुआ है वे उतने ही वास्तविक एवं ऐतिहासिक हैं जितने कि शैशुनाग, मौर्य अथवा आन्ध्र राजवंश । सन्दर्भित विद्वान् ने अपने विवेचन के क्रम में महाभारत के युद्ध का समय लगभग चौदह सौ ई0पू0 माना है तथा वैदिक युग के प्रारम्भ का समय सत्ताईस सौ ई0पू0 निर्धारित करने का प्रयास किया है ।

वासुदेव विष्णु मिराशी ने ऐसी स्थापना की है कि उत्तर और दक्षिण भारत में शासन करने वाले मघ, सातवाहन अथवा वाकाटक राजवंश इत्यादि के विषय में जो सूचनाएँ पौराणिक वाङ्मय से प्राप्त होती हैं उनका सन्तोषजनक समर्थन आभिलेखिक साक्ष्यों द्वारा हो जाता है, अतएव ऐसी स्थिति में राजनीतिक इतिहास के अंकन में पुराणों की उपादेयता अस्वीकार नहीं की जा सकती है ।[2]

दशरथ शर्मा ने उन समीक्षकों के मत का खण्डन किया है जिन्होंने पौराणिक साक्ष्यों की संदिग्धता एवं उनकी विसंगतियों का उल्लेख किया है । शर्मा के अनुसार जिन्हें समीक्षकों ने पौराणिक विसंगतियाँ मानी हैं वे वस्तुतः प्रतीयमान हैं, वास्तविक नहीं हैं ।[3]

प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के अंकनार्थ पुराणों की प्रामाणिकता को पाश्चात्य पुराविदों ने भी स्वीकार किया है । इस सन्दर्भ में पार्जीटर का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनके दो ग्रन्थ 'एंशेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' तथा 'पुराण टैक्स्ट्स आफ दि डायनेस्टीज आफ दि कलि एज' पौराणिक शोध की महत्वपूर्ण निधियों के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं । इन दोनों रचनाओं में पार्जीटर ने प्राचीन भारत के पारम्परिक इतिहास एवं राजनीतिक इतिहास की जानकारी के लिये पुराणों के महत्व का व्यवहारिक परिचय प्रस्तुत किया है ।

आलोचित शोध ग्रन्थ की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए ऐसी जिज्ञासा की जा सकती है कि वस्तुतः पौराणिक वर्णन में विसंगति का कारण क्या हो सकता

है । इस प्रश्न के उत्तर में निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय हैं -

1. कभी कभी पौराणिक साक्ष्य प्रयोग में लाने वाले विद्वानों ने पुराणों के अप्रामाणिक संस्करणों का प्रयोग कर लिया है । उदाहरणार्थ शुंग वंश इतिहास की चर्चा की जा सकती है । वायु पुराण के एक संस्करण में सन्दर्भित है कि पुष्यमित्र के आठ पुत्र एक साथ शासन करेंगे - "पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समाः नृपाः" । इस अप्रामाणिक संस्करण को कुछ विद्वानों ने प्रामाणिक मानकर ऐसी स्थापना किया है कि पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य का सामन्तीय विभाजन अपने आठ पुत्रों में किया था ।[4] ऐसी सूचना निश्चय ही इतिहास विरुद्ध है तथा इसका तालमेल अधिकांश अन्य संस्करणों से नहीं बैठ पाता है जिनकी प्रामाणिकता निरापद है तथा जिनमें यह स्पष्टतया निबन्धित है कि पुष्यमित्र का पुत्र ।अर्थात् अग्निमित्र। आठ वर्षों तक शासन करेगा - "पुष्यमित्रसुतश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः" ।

2. प्रायः उन्हीं पुराण संस्करणों को प्रयोग में लाया जाता है जिन्हें पार्जीटर ने अपने ग्रन्थ "दि डायनेस्टीज आफ दि कलि एज" में सन्दर्भित किया है अथवा इन संस्करणों के सम्बन्धित उद्धरणों को संकलित किया है । इस प्रसंग में भागवत पुराण की एक पाण्डुलिपि को प्रस्तुत किया जा सकता है जो इस समय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के ग्रन्थागार में सुरक्षित है । भागवत की उपलब्ध पाण्डुलिपियों में यह सर्वाधिक प्राचीन है । इसकी तिथि विक्रम संवत् 1181 अर्थात् 1023-24 ईसवी है । पुराण समीक्षक पार्जीटर को इसकी जानकारी नहीं थी । इसमें वाह्लीक देश का उल्लेख करते हुए 'पुष्पनिद्र' ।पुष्पेषु निद्रायते इति पुष्पनिद्रः अर्थात् भ्रमर→ मिलिन्द→ मेनेण्डर। एवं 'दमित्र' नामक शासकों को सन्दर्भित किया है जिसका सम्भावित समीकरण मेनेण्डर और डेमेट्रियस नामक हिन्द यवन शासकों से किया जा सकता है । इससे यह स्पष्ट है कि आभिलेखिक तथा मौद्रिक साक्ष्यों से अभिद्योतित उक्त दोनों हिन्द यवन शासकों का ज्ञान पुराण परम्परा को था ।

3. प्रायः उन्हीं पुराण संस्करणों की उपादेयता स्वीकार की जाती है जिन्हें पार्जीटर ने उक्त ग्रन्थ में प्राथमिकता प्रदान की । उदाहरणार्थ विष्णु पुराण के एक संस्करण में तृतीय शती ई० के शासकों में

> जयबल का प्रसंग आता है । इसे पार्जीटर ने अपने ग्रन्थ में कोई महत्व नहीं दिया है जबकि इससे आभिलेखिक साक्ष्य की यह सूचना समर्थित हो जाती है कि आधुनिक मध्य प्रदेश में स्थित मेकला क्षेत्र के पाण्डुवंश का पहला नरेश जयबल था ।[5]

उक्त तथ्यों के आलोक में हम यह कहने की स्थिति में हैं कि प्राचीन राजवंश के इतिहास की संरचना के लिये पौराणिक साक्ष्य को विसंगतिपूर्ण नहीं माना जा सकता है ।

पुराणों के जिस विशेष खण्ड में राजवंशों का इतिहास संकलित है उसे परम्परया वंशानुचरित की संज्ञा प्रदान करते हैं । प्राचीन भारत के जिस विद्वत वर्ग ने वंशानुचरित परम्परा का संग्रह किया उसे सूत के नाम से जाना जाता है । वायु, विष्णु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड जैसे प्राथमिक पुराणों में 'सूत' के सन्दर्भ में "वंश कुशल", "कृतबुद्धि" और "धीमान्" जैसे सम्मान सूचक विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं । ये विशेषक शब्द निश्चय ही "सूत" की ज्ञान गरिमा के द्योतक माने जा सकते हैं । यह पौराणिक "सूत" उस प्रतिलोम सूत से भिन्न था जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण और क्षत्राणी के परिणय का परिणाम मानी जाती थी । भ्रमवश बलदेव उपाध्याय और रोमिला थापर जैसे विद्वानों ने दोनों को एक समझकर 'सूत' की सामाजिक स्थिति की श्रेयता के प्रति संदेह किया है ।[6] इसके विपरीत विशम्भरशरण पाठक ने पौराणिक 'सूत' के ज्ञान गौरव का व्याख्यापन कर उसका सम्बन्ध भृग्वांगिरस ऋषि सम्प्रदाय से सिद्ध किया है ।[7] इसी ऋषि सम्प्रदाय के गवेषण और तत्त्वेक्षण के परिणाम में भारतीय लेखन परम्परा का विकास हुआ था । इस प्रकार पुराणों के वंशानुचरित खण्ड में जो ऐतिहासिक सामग्री संकलित है, उसके आधार पर पाठान्तरों की प्रासंगिकता, अनुकूलता एवं औचित्य को ध्यान में रखते हुए भारत के राजनीतिक इतिहास की सन्तोषजनक रूपरेखा तैयार की जा सकती है ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में परिज्ञात और बहुशः वर्णित भूखिण्डों से भी पुराणकार सर्वथा संविज्ञ थे और इसका विवरण भी अत्यन्त यथार्थता से दिया गया है । पौराणिक वाङ्मय में भूगोल का उल्लेख एक सारवान विषय के रूप में किया

गया है और भारतीय भौगोलिक सीमाओं के ज्ञानार्जन के लिये नन्दलाल डे, पार्जीटर, रायचौधरी, बी०सी० लाहा, डी०सी० सरकार, काणे, सी०एच० बेयिस आदि समीक्षकों ने पौराणिक साक्ष्यों की महती उपयोगिता को स्वीकार करते हुए महत्वपूर्ण शोध भी किये हैं । पृथ्वी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता रही है और इस विषय पर अनेक उल्लेखनीय अनुसन्धान कार्य भी किये गये हैं । डा० बुद्ध प्रकाश ने पुराण-स्थलों के शाकद्वीप की स्थिति के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया है कि इसके अन्तर्गत कैस्पियन सागर के पूर्वी, पश्चिमी एवं उत्तरी तटीय प्रदेश निहित रहे होंगे, जिसका विस्तार द० रूस तक रहा होगा ।[8] वी०एस० अग्रवाल ने पौराणिक प्रसंगों के नागद्वीप की पहचान आधुनिक निकोबार से की है और अपने मत की पुष्टि के लिये वलहस्स जातक का प्रमाण प्रस्तुत किया है ।[9] रायकृष्ण दास तथा बी०एच० कपाडिया ने भी पौराणिक चतुर्द्वीपी व सप्तद्वीपी भूगोल की परिकल्पना को ठोस आधार देने का प्रयत्न किया है ।[10]

प्राचीन भारतीय धर्म के अंग प्रत्यंग के अवलोकनार्थ भी पौराणिक शोध महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं । इस दिशा में सक्रिय योगदान देने वाले विद्वानों में से कुछ एक के सम्बन्ध में यहाँ विवेचन किया जा सकता है । आर०जी० भण्डारकर ने भारतीय धर्म के गहन अध्ययन के लिये पौराणिक साक्ष्यों की महत्ता का समर्थन करते हुए इसके सामान्य रूप का परिचय दिया है ।[11] पौराणिकों द्वारा अवतार विषयक धारणा के विकास को लोकप्रिय बनाने के लिये जो प्रयास किये गये, उनके सम्बन्ध में एस०एल० कत्रे का विचार है कि पौराणिक धर्म परम्परा में ही अवतारतत्व को पराकाष्ठा तक विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ और सम्बन्धित साहित्य में सैंतीस अवतारों का उल्लेख है ।[12] पौराणिक धर्म में वर्णित विष्णु के अवतारों का आलोचनात्मक अध्ययन करने वालों विद्वानों में जितेन्द्र नाथ बनर्जी भी अग्रगण्य हैं जिन्होंने पांचरात्र संहिता, महाभारत और भगवद्गीता के प्रसंगों के संयोजन द्वारा पुराण स्थलों की समीक्षा प्रस्तुत की है और विष्णु के दस अवतारों के स्पष्टीकरण का प्रयास किया है ।[13] रायचौधरी ने भी भागवत धर्म की रूपरेखा निर्धारित करने तथा कृष्ण समस्या के निराकरण करने का पौराणिक

एवं पुराणेतर साक्ष्यों के आलोक में सार्थक प्रयास किया है । सन्दर्भित विद्वान् ने उस मत विशेष का खण्डन करते हुए जिसमें कृष्ण को सौर देवता अथवा प्राजातीय देवता अथवा वनस्पतिदेवता के रूप में ग्रहण किया गया था, कृष्ण वासुदेव को मानव रूप में मानते हुए छान्दोग्य उपनिषद के कृष्ण-देवकीपुत्र से समीकृत किया है ।[14] शैव धर्म के स्वरूप और लिंग उपासना के उद्भव एवं विकास पर पौराणिक साक्ष्यों द्वारा विशेष सहायता प्राप्त हुई है । इस सन्दर्भ में वी०एस० आप्टे द्वारा किये गये शोध महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने वैदिक रुद्र के स्वरूप एवं लक्षणों का स्थानान्तरण पौराणिक शिव में क्रमिक स्तरों पर होने के निष्कर्ष का प्रतिपादन किया है ।[15]

वैदिक धर्म के अतिरिक्त जिन उपादानों द्वारा पौराणिक धर्म को सुव्यक्त होने का अवसर मिला, उनमें लिंग-उपासना का महत्वपूर्ण योगदान था । इस सन्दर्भ में गोपीनाथ राव ने वैदिक स्कंभ के रूप में 'लिंग' की पौराणिक परिकल्पना को आर्य तथा अनार्य धार्मिक तत्वों के समन्वय एवं सन्तुलन का परिणाम माना है ।[16] ज्योतिर्लिंग' विषयक पौराणिक आख्यान की समीक्षा के आधार पर विद्वानों ने लिंगोपासना को शैव धर्म से समन्वित कर इसे सार्वजनीन धार्मिक मान्यता दिलवाई ।[17] पौराणिक धर्म की परिधि प्रसार में क्रियाशील धार्मिक तत्वों में सूर्योपासना का उल्लेखनीय योगदान रहा है । पौराणिक शोधों से सौर धर्म और सूर्य पूजा के विभिन्न पक्षों का मूल्यांकन भी किया जा चुका है जिनके आधार पर प्रस्तुत तथ्य इस प्रकार हैं - सूर्य उपासना का वैदिक स्वरूप नितान्त सरल था और प्राथमिक पुराणों में सूर्य-प्रतिमा, सूर्य-मन्दिर और सौर पूजक पुरोहितों का विवरण नहीं प्राप्त होता है ।[18] सम्भवतः चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठित वैष्णव, शैव और शाक्त धर्म की प्रेरणा से सूर्य-पूजकों ने सौर धर्म को भी व्यापनशील बनाने का प्रयास आरम्भ किया । इस प्रसंग में प्राथमिक पुराणों में उपलब्ध कथानकों से प्रकाश पड़ता है कि याज्ञवल्क्य तथा सत्राजित की उपासना से संतुष्ट होकर सूर्यदेव अग्निज्वाला से परिवेष्टित वृत्त की आकृति में प्रकट हुए ।[19] इस

प्रकार पौराणिक कथानकों में आकार की स्पष्टता अव्यक्त है। अनुसंधानों द्वारा यह सर्वमान्य है कि भारतीय सौर धर्म में प्रतिमा पूजा के प्रचार का श्रेय ईरान के मग पुरोहितों को है। अभिलेखों, मौद्रिक साक्ष्यों आदि के साथ साथ साहित्यिक प्रमाणों एवं उत्तरकालीन पुराणों से इसका अनुमोदन होता है।[20] अतः पौराणिकों ने सौर धर्म के उत्तरकालीन विकासों को मूल पौराणिक तथ्यों के साथ समन्वित रूप में ही आख्यापित किया है। मगों के सौर धर्म के प्रति योगदान को भी इस प्रकार से स्वीकार किया कि उनकी उपासना विधि को भारतीय परम्परा एवं उपासना विधि के रूप में ही जनमानस ग्रहण करे तथा मगीय उपासना पद्धति का भारतीयकरण भी कर लिया गया। ध्यातव्य है कि मगों के आने के पश्चात् उनकी विधि के अनुसार जिस सूर्य प्रतिमा का निर्माण आरम्भ किया गया वह भारतीय परम्परा के लिये नवीनताबोधक नहीं थी। इस प्रतिमा की विशेषता थी कि इसमें देवता के चरणों को प्रदर्शित नहीं किया गया था। सूर्य के आकार के विषय में यह भावना वैदिक कालीन सातत्य की सूचक थी। इस आशय का साक्ष्य उत्तरवैदिक ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में सन्दर्भित है। आलोचित ग्रन्थ में सूर्य के पद-क्रम को स्पष्ट करते हुए निर्देशित किया गया है कि चरणों के अभाव में भी गतिशील रहना, इस देवता की विशेषता है।[21] पुराण समीक्षकों ने सौर धर्म सम्बन्धी उन पौराणिक प्रसंगों की भी विशेष समीक्षा की है जिनमें लोक प्रचलित परम्पराओं को समावेशित किया गया था और जो सर्वसाधारण के लिये अधिक ग्रहणीय थे जैसे व्रत, दान, दीक्षा, होम आदि। इस सन्दर्भ में हाज़रा ने प्रस्तावित किया है कि पुराणों में इन विषयों का संयोजन छठीं शताब्दी ईसवी के बाद हुआ।[22] महामहोपाध्याय काणे के अनुसार इस आशय का निष्कर्ष निकालने में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता कि उत्तरकालीन स्तर पर संवलित ये विषय वैदिक भावना से भिन्न हैं किन्तु व्यवहार रूप में पौराणिकों द्वारा यह निरूपित करने की चेष्टा की गई कि इन धार्मिक तत्वों को वैदिक परम्परा से पृथक नहीं किया जा सकता है। पौराणिक वाङ्मय में उपलब्ध शाक्त धर्म एवं शक्ति की उपासना के सम्बोधक स्थलों के आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा हाज़रा ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि सैद्धान्तिक

एवं उपासना सम्बन्धी विभेदों के मूल में परिस्थितियों तथा परिवेश का महत्वपूर्ण योगदान रहता है, जिनका प्रभाव पौराणिक संरचना पर भी पड़ा था । हाज़रा का मत है कि नवीन पुराणग्रन्थों के सृजन-काल में लुप्तप्राय प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को पुनर्जीवन देने तथा पारम्परिक धर्म पर वैदेशिक जातियों के आक्रमणात्मक घातक प्रभावों को रोकने की प्रवृत्तियां क्रियाशील थीं ।[23]

पुराणों में दार्शनिक तत्वों का विवेचन भी अत्यन्त विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है । नाना रूपों में भासमान जगत के मूल में एक सर्वशक्तिमान तत्व की सत्ता पुराणों में स्वीकार की गई है । वही है विष्णु (विष्णु एवं नारदीय पुराण), वही है शिव (वायु, कूर्म तथा शिवपुराण), वही है शक्ति (देवी भागवत तथा देवी पुराण) और वही है श्रीकृष्ण (श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण) । इन पुराणों में अपने परमोपास्य तत्व के स्वरूप का अंकन विशद रूप में किया गया है । एस०एन० दासगुप्त अपने शोध कार्य में विष्णु, वायु, मार्कण्डेय, नारदीय, कूर्म आदि पुराणों के आधार पर ब्रह्म, काल, भक्ति, योग, जगत, अहंकार इत्यादि विषयक दार्शनिक सिद्धान्तों को यथेष्ट आकार भी प्रदान किया है ।[24] बलदेव उपाध्याय ने पुराणगत दार्शनिक महत्व के दृष्टिकोण से भागवत पुराण के स्थलों का गहन अध्ययन किया है और इस ग्रन्थ को भक्तिशास्त्र के सर्वस्व का अभिधान दिया है । प्रस्तुत विद्वान के अनुसार पुराण साहित्य में 'श्रीमद्भागवत' अपनी दार्शनिकता एवं व्यापक धार्मिकता के कारण नितान्त प्रख्यात है ।[25]

प्राचीन भारतीय नयशास्त्र विषयक परम्पराओं के सन्दर्भ में पौराणिक साहित्य से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । वी०आर०आर० दीक्षितार ने पुराणों की उपादेयता का समर्थन करते हुए विष्णु, मार्कण्डेय एवं अग्नि पुराणों के तत्सम्बन्धी प्रसंगों का विशेष अनुशीलन किया है ।[26] इसके अतिरिक्त राजा के सहायक कितने अंग और उपांग होते हैं । साम, दाम, दण्ड, भेद, राजा के ये चार मुख्य धर्म कब उपयोग में लाये जाते हैं ? आदि प्रश्नों का पर्याप्त समाधान पुराणों में किया गया है । जगदीश लाल शास्त्री ने राजनय सम्बन्धित उन सभी स्थलों की समीक्षा की है जो मत्स्य, मार्कण्डेय, अग्नि, गरुड़, कालिका एवं विष्णुधर्मोत्तर

पुराण

पुराणों में पौराणिक राजधर्म के स्वरूप को भलीभाँति अभिव्यक्त करते हैं ।[27] बलदेव उपाध्याय ने अग्निपुराण में वर्णित राजनीति में उदात्तता एवं महनीयता का अभाव मानते हुए सुझाव प्रस्तुत किया है कि इस पुराण में कामन्दकीय नीति का सारसंकलन होने के कारण राम से सम्बद्ध राजधर्म के गुणों को स्थान नहीं दिया गया है ।[28] अग्निपुराण के नयशास्त्र के प्रकाशक स्थलों की सविस्तार समीक्षा करके बंबबहादुर मिश्र ने प्रश्थापित किया है कि इस पुराण के आलोचित स्थलों पर यदि एक ओर विष्णुधर्मोत्तरपुराण के आदर्शों का अनुकरण किया गया है तो दूसरी ओर ये याज्ञवल्क्य एवं नारद स्मृति से प्रभावित हैं ।[29]

प्रतिमा विज्ञान, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र आदि से सम्बन्धित पौराणिक शोध कार्यों को जिन विद्वानों ने सम्पादित किया है उनमें बी0के0 बरुआ, गोपीनाथ राव, ए0पी0 करमारकर, तारापद भट्टाचार्य आदि के प्रयास श्लाघनीय कहे जा सकते हैं । वास्तुशास्त्र का विस्तृत वर्णन मत्स्य पुराण के अठारह अध्यायों में प्राप्त होता है और इस शास्त्र के अठारह आचार्यों के नाम भी उल्लिखित हैं । तारापद भट्टाचार्य ने इन आचार्यों की ऐतिहासिकता एवं उनके ग्रन्थों का समीक्षण प्रस्तुत किया है ।[30] ब्रह्मपुराण पर आधारित शिल्प तथा उद्योगों की विस्तृत तालिका का संकलन करमारकर के द्वारा किया गया है ।[31] बरुआ ने कालिका पुराण के सन्दर्भ में शाक्त देवियों की उपासना के स्वरूप को मध्यकालीन असम में प्रचलित तत्वों से सम्बन्धित करने का सुझाव दिया है ।[32]

पुराण समीक्षकों द्वारा पुराणों में वर्णित स्थलों का पुरातात्विक अनुसन्धानों के आलोक में समर्थन किया गया है । सांकलिया के शोध कार्यों द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन हुआ है । सन्दर्भित विद्वान् ने पुराणों के विषयानुकूल स्थलों का सम्बन्ध पुरा-ऐतिहासिक युग से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।[33] इसके अतिरिक्त बी0बी0 लाल ने हस्तिनापुर के उत्खनन कार्यों से प्रमाणित जलप्लावन के पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा उस पौराणिक प्रसंग की पुष्टि की है कि महाभारत युद्ध की कुछ शताब्दियों के पश्चात् जलप्लावन के

कारण हस्तिनापुर से राजधानी को स्थानान्तरित करना आवश्यक हो गया था ।[34] आर्यों के भारतीय सीमाओं में प्रवेश और प्रसार से सम्बन्धित पौराणिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों को समन्वित करके अल्टेकर[35], पुसाल्कर[36], सुब्बाराव[37] एवं सांकलिया[38] ने वास्तविक तथ्यों को उद्घाटित करने के साथ उन आलोचकों की धारणाओं को निरर्थक सिद्ध कर दिया है जिन्होंने पौराणिक सूचनाओं को मात्र कल्पना माना है ।[39]

पौराणिक शोधकार्य की अवरोधक कुछ समस्यायें

पुराण-संहिता से तात्पर्य-पुराणों का सामान्य मत है कि व्यास ने पुराण संहिता का प्रणयन करके पुराणविषयक अव्यवस्था का अन्त किया और 'पुराणार्थ-विशारद' व्यास ने ही लोमहर्षण सूत को उसका अध्ययन कराया । इस सन्दर्भ में वायु, विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराण के एक महत्वपूर्ण श्लोक की चर्चा की जा सकती है जिसमें आख्यापित है कि "पुराणार्थविशारद" ने 'आख्यान', 'उपाख्यान', 'गाथा' तथा 'कल्पजोक्ति' का संग्रह कर "पुराण संहिता" की रचना की ।[40] प्रस्तुत श्लोक के आधार पर यह प्रश्न उठता है कि इस पुराणसंहिता का तात्पर्य किसी पुराण ग्रन्थ से है अथवा नहीं, और यदि यह "पुराणसंहिता" किसी पुराण का संकेत देती है तो वह कौन सा पुराण माना जा सकता है । इस प्रश्न का समाधान करते हुए बलदेव उपाध्याय ने प्रस्तावित किया है कि वर्तमान वायुपुराण को मूलभूत पुराण संहिता के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है क्योंकि इस पुराण में "पुराण संहिता" के श्लोकों की पुनरुक्ति सबसे अधिक है ।[41] उपाध्याय से पहले जैक्सन और पार्जीटर भी अपनी समीक्षा के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे ।[42] इन दोनों ने इस बात पर बल दिया कि सम्भवतः आरम्भिक स्तर पर कोई मौलिक पुराण संहिता थी और उत्तरकालीन पुराण-ग्रन्थ इसके ही प्रतिसंस्करण हैं क्योंकि वैदिक एवं पुराण वाङ्मय में 'पुराण' शब्द का प्रयोग एकवचन में किया गया है । परन्तु पुसाल्कर ने इस मत का खण्डन करते हुए मूल पुराण संहिता के अस्तित्व को उसी प्रकार संदिग्ध माना है जैसे मूलतः किसी 'वेद संहिता' से वेदों

का निस्सरण माना जाये ।[43] हाज़रा जैसे पुराण समीक्षक ने एतत्सम निष्कर्ष पर पहुँचते हुए मूल 'पुराणसंहिता' की विद्यमानता को काल्पनिक ही कहा है ।[44] निस्सन्देहात्मक रूप से दोनों ही पक्ष साक्ष्य-समर्थित हैं अतः उनकी ग्राह्यता भी निरापद है । इसकी सम्भावना हो सकती है कि 'पुराण संहिता' किसी ग्रन्थ विशेष की बोधक न होकर संहिताकरण की शैली की परिचायक हो । इसी शैली को आधार बनाते हुए वैदिकों ने वेद-सृजन किया और पौराणिकों ने भी परिवर्तित परिवेश में नवीन मान्यताओं के साथ इसी का अनुकरण किया । अतः यह कहा जा सकता है कि पुराण-संरचना का विकास इसी संहिताकरण की शैली से हुआ था और अनुवर्ती पौराणिकों द्वारा इसे परम्परा के रूप में मान्यता दी गई जिसके फलस्वरूप प्रारम्भिक पुराण के प्रतिसंस्करणों के साथ साथ नवीन पुराणों का परिकल्पन भी किया जाता रहा । इस सन्दर्भ में "संहितांचक्रे" शब्द की अभिव्यक्ति "संकलनंचक्रे" अथवा "संचयनंचक्रे" - के रूप में मानी जा सकती है । वैदिक वाङ्मय में विकीर्ण और प्राथमिक पुराणों में प्राप्त होने वाले आख्यान, उपाख्यान आदि चारों विषयों को नवीन कलेवर प्रदान करके पौराणिकों ने जनमानस के अनुरूप साहित्य का सृजन किया । इसी आधार पर सन्दर्भित श्लोक को पुराण-ग्रन्थ का द्योतक न मानकर पुराण संरचना की संकलनशैली का अभिप्रायसूचक माना जा सकता है ।

कतिपय पौराणिक शब्दों की व्याख्या-विषयक मीमांसा

मानव समाज को संस्कृति का पथप्रदर्शन करने वाले दिव्य प्रकाश स्वरूप पुराणों को अनिर्णीत अतीतकाल से संचित विद्याओं की अक्षय मंजूषा भी कहा जा सकता है । परन्तु इस 'पुराण' शब्द से क्या अभिद्योतित होता है और इसकी व्युत्पत्ति-विषयक अवधारणा क्या है, यह समीक्षा का विषय है । पुराणों और पुराणेतर ग्रन्थों में भी इसके अर्थ के [illegible] का प्रयत्न किया गया है । वायुपुराण में इसकी व्युत्पत्ति बताई गई है - पुरा अनति अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था ।[45] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार 'पुराण' शब्द का तात्पर्य

है - पुरा एतद् अभूत् अर्थात् पुराकाल में ऐसा हुआ था ।[46] पद्म पुराण में यह निरुक्ति कुछ भिन्नता के साथ मिलती है - पुरा परम्परा वष्टि कामयते अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है, वह पुराण कहलाता है ।[47] इन पौराणिक व्युत्पत्तियों की विवेचना से व्यक्त होता है कि पुराणों द्वारा परम्पराओं के समाहार पर अधिक ध्यान दिया गया था । पुराणेतर ग्रन्थों में यास्क के निरुक्त की चर्चा सर्वप्रथम की जा सकती है जिसमें निर्दिष्ट है कि 'पुराण' की संज्ञा इसलिये दी जाती है क्योंकि इसमें पुरा नवं भवति अर्थात् परम्परा को नवीन रूप प्रदान किया जाता है ।[48] 'पुराण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के भी कई स्थलों पर मिलता है, उसे विशेषण बोधक रूप में प्रयुक्त करते हुए उसका तात्पर्य प्राचीन अथवा पूर्वकाल में होने वाला, निश्चित किया गया है ।[49] राय के मतानुसार पौराणिक परिकल्पन के प्रत्येक स्तर पर पुराण रचनाकारों ने पुराण शब्द की अतीतकालीन विशेषता का अनुकरण किया है ।[50] राय ने अपनी समीक्षा में प्रस्तावित किया है कि 'पुराण' शब्द की व्याख्या के दृष्टिकोण से उन पदों, शब्दों एवं वाक्यों को महत्व दिया जा सकता है जिनका प्रयोग पौराणिकों द्वारा प्रसंगानुकूल स्थलों पर किया गया, उदाहरणार्थ इति नः श्रुतम् , इति श्रुतिः, इति श्रूयते आदि । सामान्य रूप से इन शब्दों का तात्पर्य है ऐसा सुनते हैं, ऐसा सुना गया है आदि । अतः पौराणिकों ने इन्हें प्राचीन परम्परा का संकेत देते हुए समकालीन घटनाओं और आदर्शों के निरूपण के लिये प्रयुक्त किया ।[51]

पाश्चात्य पुराविद् पार्जीटर के द्वारा भी इस सन्दर्भ में गवेषणा की गई है और ऐसा निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि 'इति नः श्रुतम्' आदि का तात्पर्य लौकिक परम्परा से है । पार्जीटर ने इस तथ्य पर भी बल दिया है कि जिन विशेष प्रसंगों में इन शब्दों का प्रयोग पौराणिकों ने किया है वे वैदिक साहित्य में सुलभ नहीं हैं ।[52] पार्जीटर द्वारा प्रस्तावित सुझावों को कीथ और पुसाल्कर ने अपने विद्वतापूर्ण तर्कों के आधार पर अमान्य घोषित किया है ।[53] इस दिशा में राय ने भी अपने विश्लेषण में कतिपय विचार प्रस्तुत किये हैं । यदि पार्जीटर के मतानुसार पुराणों में निबद्ध परम्परा लौकिक मानी जाये, उस स्थिति में भी उसे

वैदिक धार्मिक परम्परा से पृथक नहीं किया जा सकता है । यह भी आवश्यक नहीं है कि जिन पौराणिक सन्दर्भों में आलोचित शब्दों का उल्लेख मिलता है वे सभी सन्दर्भ वैदिक ग्रन्थों में उसी रूप में वर्णित हों । अर्थात् पुराण विहित परम्परा को पूर्णतः वैदिक अनुकरण की सीमाओं में बाँधना औचित्यपूर्ण नहीं है । यह सत्य है कि पुराण रचनाकारों ने श्रुति सम्मत एवं वैदिक परम्पराओं का निर्वाह करते हुए साहित्य संवर्द्धन किया जिन्हें दो प्रकार का मान सकते हैं । प्रथम प्रकार की वे परम्परायें हैं जो विकसित अथवा अविकसित रूप में वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होती हैं और दूसरे प्रकार की वे परम्परायें हैं जो वेदों में संकलित नहीं की गई परन्तु निस्सन्देह वैदिककालीन हैं । अतः पुराणों में सम्भवतः दूसरे प्रकार परम्पराओं की अभिव्यंजना के लिये "इति न श्रुतम्" जैसे वाक्यांशों को प्रयुक्त किया गया है ।

पुराणों की पुरातन एवं मौलिक भाषा और शैली का विवेचन

पुराण वर्णित भाषा और शैली भी समीक्षा का विषय है क्योंकि पुराणों में कथन-विधि पर आग्रह रखने के विपरीत कथन विषय पर आस्था रखी गई है । इसी दृष्टिकोण से पुराणों की भाषा का अपना वैशिष्ट्य है और पाश्चात्य आलोचक पार्जीटर ने इसे मूल रूप में प्राकृत माना है । मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के "वंशानुचरित" खण्ड विषयक स्थलों का परीक्षण करते हुए पार्जीटर ने प्रस्तावित किया है कि मूलतः ये ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गये और पौराणिक ब्राह्मणों ने उत्तरकालीन स्तर पर इनका संस्कृतीकरण कर दिया । अपने मत की पुष्टि के लिये सन्दर्भित विद्वान् ने उन शब्दों का उल्लेख किया है जो अन्यथा प्राकृत में तो शुद्ध हैं परन्तु उनका संस्कृत रूप अशुद्ध प्रतीत होता है । कहीं कहीं पर ये शब्द अपने प्राकृत रूप में ही उपलब्ध होते हैं ।[54] पार्जीटर के सुझाव से असहमत होते हुए कीथ[55], याकोबी, पुसाल्कर[56] और बलदेव उपाध्याय ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि पुराणों की भाषा में अभीष्ट अर्थ प्रकट करने के साथ पौराणिक संकलनकर्ताओं ने उसे व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने के लिये सरल एवं व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया । ऐसी स्थिति में पुराणों की मूल भाषा को

काव्यगत सौन्दर्य से वंचित सरल संस्कृत के रूप में माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त अल्पाक्षरों में स्वतात्पर्य अभिव्यंजित करने वाली पुराणों की भाषा में पाणिनीय व्याकरण का बन्धन स्वीकार नहीं किया गया है। भाष्यकारों का आग्रह है कि इन्हें "आर्ष" प्रयोग माना जाये क्योंकि पाणिनि ने "आर्ष" पद का प्रयोग वैदिक भाषा के निमित्त करने में अपनी सम्मति दी है और "अनार्ष" शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिये किया गया है। अतः पुराणों में वैदिक व्याकरण के सर्वथा अनुकूल आर्ष प्रयोगों की सत्ता है।[57] उपाध्याय ने अपनी समीक्षा में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि जन सामान्य तक धर्मशास्त्रीय विषयों के प्रचार के लिये लोकभाषा का आश्रय लिया गया। फलतः उस भाषा (पाली एवं प्राकृत) का पुराणों पर प्रभाव पड़ना नैसर्गिक है।[58] सन्दर्भित समस्त विद्वानों के परीक्षण के आधार पर पुराण भाषा को ऐसी भाषा मान सकते हैं जिसमें पारम्परिक गूढ़ तत्वों का सरल लौकिक भाषा में समायोजन कर लिया गया और इसी के पूर्ण परिपाक के लिये संस्कृत के साथ लौकिक प्राकृत भाषा को सम्मिलित कर लिया गया। अतएव पुराणों की भाषा यथार्थतः संस्कृत है और व्यवहारिक रूप में लोकभाषा प्राकृत के निकट है।

<u>पुराणों की संख्या और "पुराण" के स्थान पर "महापुराण" शब्द के प्रचलन की परम्परा</u>

पुराण समीक्षकों ने अपनी शोध प्रक्रिया में जिन विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित किया है और समय समय पर जिनके समाधान का प्रयास किया है, उन सभी सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचन करना सम्भव नहीं है तथापि दो महत्वपूर्ण प्रश्नों को अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। पहला प्रश्न है पुराणों की अष्टादश संख्या को किस स्तर पर निर्धारित किया गया और किन प्रवृत्तियों की प्रेरणा से हुआ। विद्वानों की मान्यता है कि पुराण संख्या निर्हेतुक न होकर साभिप्राय है। चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा

और धर्मशास्त्र अठारह विद्यायें सुविख्यात हैं । इसके अतिरिक्त स्मृतियाँ, पुराण, उपपुराण महाभारत के पर्व, श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय आदि सभी अठारह हैं । फलतः यह अठारह संख्या अन्तर्निगूढ़ रहस्याच्छादित अवश्य है । इस विषय पर मधुसूदन ओझा द्वारा अनेक युक्तियाँ प्रस्तावित की गई हैं -

1. वेदों में सृष्टि का उदय वैदिक छन्दों में स्वीकार किया गया है जिसमें गायत्री और विराट् की प्रमुखता है । गायत्री है पृथ्वी-स्थानीया प्रकृतिरूपा तथा विराट् है द्युस्थानीय पुरुष रूप । गायत्री के प्रतिपाद में आठ अक्षर होते हैं और विराट् के दस अक्षर जिनके संयोग से अठारह की संख्या आती हैं ।[59] इस प्रकार सृष्टि प्रतिपादक पुराणों के साथ छन्दः सृष्टिवाद की दृष्टि से अठारह संख्या का सम्बद्ध होना युक्तिपूर्ण है ।

2. वेदों का अनुसरण करते हुए पुराणों में यज्ञ विद्या का प्रमुख रूप से प्रतिपादन है । यज्ञ से जगत उत्पन्न होता है, इसलिये सृष्टि प्रतिपादक पुराणों का यज्ञ से सम्बन्ध है । यज्ञ उपनिषदों में अष्टादश कर्म के नाम से अभिहित है ।[60] श्री शंकराचार्य ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है कि यज्ञ में सोलह ऋत्विक, यजमान, यजमान, यजमान-पत्नी आदि को मिलाकर अठारह के द्वारा यज्ञ सम्पादित होता है । इस अष्टादश यज्ञ के प्रतिपादक होने के संकेत से पुराणों की संख्या निर्धारित हो सकती है ।

3. मानव शरीर में कार्य करने वाले तत्व अठारह हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, सबका अधिष्ठाता मन, पाँच प्राण, बुद्धि और अहंकार । इन अठारह के द्वारा आत्मा सभी कार्य करती है । धर्मप्रतिपादक शास्त्रों में सम्भवतः इसी कारण अठारह को विशेष स्थान दिया गया है ।

4. पुराणों में सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया का मान्यता दी गई है । सृष्टि में जिन पदार्थों की उत्पत्ति मानते हैं वे भी अठारह हैं । महतत्व, अहंकार, मन को सम्मिलित करके ग्यारह इन्द्रियाँ और पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, पावक, वायु और आकाश) । सृष्टि प्रतिपादक पुराणों में सृज्यमान तत्वों की संख्यानुसार पुराणों की संख्या नियत करना तर्कसम्मत है ।

इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में पुराणों की अष्टादश संख्या का निर्धारण किया जा सकता है।[61] राय के विचार से ओझा द्वारा प्रस्तावित युक्तियाँ सन्देहरहित अवश्य हैं परन्तु उनके आधार पर पुराणों की अष्टादश संख्या का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। सम्भवतः पुराण संकलन के स्तर अनेक थे और क्रमिक रूप से इनकी संख्या अठ्ठारह निश्चित की गई। विन्टरनित्स महोदय ने विष्णु पुराण के एक श्लोक का उल्लेख किया है जिसमें चार प्रारम्भिक पुराण ग्रन्थों की रचना का वर्णन है परन्तु नाम नहीं दिये गये हैं। विन्टरनित्स के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी इस विवरण की विश्वसनीयता पर भी संदेह किया है।[62] महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने इस श्लोक की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हुए पुराण संख्या के विस्तार को तीन स्तरों में निश्चित किया है। प्रथम स्तर पर विष्णु पुराण से अनुमोदित होता है कि पुराण संख्या चार थीं। द्वितीय स्तर पर वायु पुराण के अनुसार दस की संख्या उल्लिखित और तृतीय स्तर पर दस के स्थान पर अठ्ठारह हो गई। इन अठ्ठारह पुराणों के समय निर्धारण में मत्स्य पुराण के उस स्थल विशेष का आश्रय लिया जा सकता है। जिसमें अठ्ठारह पुराणों की चर्चा है और अध्याय तिरपन में जिनका सन्दर्भ प्राप्त होता है।[63] हाज़रा के द्वारा प्रस्तुत समीक्षा में मत्स्य पुराण के सन्दर्भित अध्याय की तिथि 550 ईसवी और 650 ईसवी के अन्तर्वर्ती काल में निश्चित की गई है।[64] इस मत को स्वीकार कर लेने पर पुराणों की अष्टादश संख्या के निश्चित होने का समय पूर्व मध्यकाल का प्राथमिक स्तर माना जा सकता है। द्वितीय प्रश्न के उत्तर में यह सुझाव रखा जा सकता है कि जिस समय काव्य का "महाकाव्य" तथा भारत का "महाभारत" में रूपान्तरण हुआ, उसी के आस-पास पुराण का "महापुराण" के रूप में प्रचलन हुआ। दण्डी के साक्ष्य द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। दण्डी ने अपने काव्यदर्श में महाकाव्य की रूपरेखा का विवेचन किया है तथा उनका समय 800 ईसवी के पहले व 500 ईसवी के उपरान्त माना जाता है। निष्कर्ष स्वरूप यह मान सकते हैं कि सातवीं शताब्दी के लगभग "महाकाव्य" के समान "महापुराण" शब्द के प्रचलन की परम्परा आरम्भ हो चुकी थी।

दार्शनिकों की दृष्टि में पुराण-प्रामाण्य

पुराणों की प्रामाणिकता पर दर्शनकारों ने विशेष रूप से आलोचना प्रस्तुत की है। वात्स्यायन ने "न्यायभाष्य" में कहा है कि इतिहास पुराण के प्रतिपादन का विषय है लोकवृत्त और इसी दृष्टिकोण से पुराण-ग्रन्थों का प्रामाण्य है।[65] कुमारिल ने भी सन्दर्भित विषय पर विशद विचार किया है। सम्भवतः उनके काल में धर्म के ज्ञानार्थ पुराणों की मान्यता प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में थी। एक प्रसंग में कुमारिल ने पुराणों के उन स्थलों की ओर संकेत किया है जिनमें धर्म की अवनति के कारण वर्णित हैं। पुराणों के सन्दर्भ में कुमारिल ने "स्मर्यन्ते" शब्द को प्रयुक्त किया है।[66] इसी वर्णन-क्रम में कुमारिल ने शाक्य (बुद्ध) तथा इस श्रेणी के अन्य व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है जिन्हें पुराणों ने धर्म विप्लव का कारण घोषित किया है।[67] यहाँ पर दो तथ्य विचारणीय हैं, एक तो "स्मर्यन्ते" शब्द का अभिप्राय और दूसरे कुमारिल के उद्धरण की व्याख्या। राय ने अपनी समीक्षा में "स्मर्यन्ते" को पुराणों की मौखिक स्मरण करने की परम्परा का सूचक माना है जो पुराण-संरचना काल के प्रारम्भिक चरण में तो विद्यमान थी ही और उत्तरकालीन स्तरों पर भी उसका निर्वाह किया गया। द्वितीय तथ्य के सम्बन्ध में उपाध्याय ने प्रतिपादित किया है कि कुमारिल युगीन पुराणों में बुद्ध के प्रति भर्त्सनापूर्ण दृष्टिकोण प्राप्त होता है। राय के मतानुसार उपाध्याय के सुझाव को मानने में यह कठिनाई है कि किसी भी पुराण में इस प्रकार की चर्चा स्पष्ट रूपेण नहीं उपलब्ध होती है जबकि इन पुराणों में बुद्ध को अवतार रूप में ग्रहण करने और बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म में संवलित करने की प्रवृत्ति अधिक क्रियाशील दिखाई पड़ती है। विष्णु और मत्स्य पुराणों में निरूपित मायामोह आख्यान के द्वारा इसका समर्थन होता है जिसके माध्यम से पुराणकारों ने बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म का ही एक अंग बनाने की चेष्टा की।[68] आलोचित पुराण स्थलों में किसी धर्म विशेष अथवा सम्प्रदाय विशेष का विरोध न करके वेद विपक्षी सिद्धान्तों की निन्दा की गई है। सम्भवतः कुमारिल के युग में वेद-विरोधी के रूप में बुद्ध एवं बौद्ध धर्म

का प्रसंग प्राथमिक पुराणों में अथवा उनके मूल संस्करणों में वर्णित रहा होगा । यह भी सम्भव है कि ऐसे पौराणिक संस्करण कुमारिल के काल में कुछ न कुछ परिवर्तित रूप में विद्यमान थे । इसी दृष्टिकोण से "स्मर्यन्ते" शब्द का व्यवहार "वर्ण्यन्ते" आदि शब्दों के स्थान पर अधिक उपयुक्त माना गया । "स्वर्ग"शब्द की व्याख्या करते हुए कुमारिल ने इतिहास-पुराण की मान्यता के अनुसार "मेरु-पृष्ठ" से उसका तादात्म्य स्थापित किया है ।[69] स्वर्ग के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख मत्स्य और पद्म पुराणों में किया गया है ।[70] उपाध्याय ने इसी आधार पर प्रस्तावित किया है कि कुमारिल का जिन पुराणों से परिचय था वे वर्तमान पुराणों से भिन्न नहीं थे ।[71] राय द्वारा उपाध्याय के मत में कुछ संवर्द्धन करते हुए यह सुझाव रखा गया है कि कुमारिल की दोनों व्याख्यायें दो परस्पर भिन्न पुराण-संरचना से सम्बन्धित हैं ।[72] "स्मर्यन्ते" शब्द के प्रयोग से सम्बद्ध व्याख्या में परम्परागत पौराणिक विचारों की ओर इंगित किया गया है जबकि दूसरी व्याख्या में कुमारिल ने "पौराणिक" शब्द के साथ "उच्यते" का व्यवहार किया है जो पुराणों में निबद्ध विचारों एवं अपरिवर्तित प्रसंगों का परिचायक है । दोनों ही व्याख्याओं के आलोक में यह समर्थित हो जाता है कि कुमारिल को पुराणों की प्रामाणिकता पर विश्वास था ।

शंकराचार्य का दृष्टिकोण

पुराण-प्रामाण्य के सम्बन्ध में शंकराचार्य द्वारा अनुपोषित उन स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें प्रचलित पुराणों के श्लोक उद्धृत किये गये हैं । आचार्य के द्वारा किसी पुराण विशेष का नामोल्लेख नहीं किया गया है और पुराण को "स्मृति" शब्द के द्वारा ही सर्वत्र निर्दिष्ट किया गया है । ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों के भाष्य में शंकराचार्य द्वारा ऐसे सन्दर्भों की चर्चा की गई है जिनका स्रोत उन्होंने स्मृति और पुराण को माना है । शंकराचार्य के वर्णनों के आधार पर विन्टरनित्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उनके काल ।नवीं शताब्दी ई०। में पुराणों को प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता था ।[73] हाज़रा ने

अपने विवेचन में अभिव्यक्त किया है कि पुराण की प्रामाणिकता का दृष्टान्त देते समय विशिष्ट पुराण का नाम नहीं लिया गया है जबकि ये उद्धरण विष्णु पुराण आदि में उपलब्ध होते हैं।[74] कल्पों के विषय में आचार्य का कथन है कि "पुराणों में स्थापित किया गया है कि बीते हुए और आगे आने वाले कल्पों का कोई परिमाण नहीं हैं।" कल्पों को अनन्त बताते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में यह श्लोक मिलता है।[75] इसी प्रकार ये उद्धरण वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड जैसे पुराणों के अतिरिक्त उत्तरकालीन शिवपुराण में भी प्राप्त होते हैं। सम्भवतः पुराणों में वर्णित लक्षणों और विषयों की स्वाभाविक रूप से समानता के कारण किसी विशेष पुराण के नामोल्लेख का औचित्य नहीं था। शिव पुराण में उल्लिखित उद्धरणों के विषय में यह सुझाव रखा जा सकता है कि पुराण परम्परा में विशिष्ट माने जाने वाले विषय शंकराचार्य द्वारा विश्वसनीय तो माने ही गये, साथ ही अपनी विशिष्टता के कारण उत्तरकालीन पुराणों में भी उनका समाहार किया गया। इसी प्रसंग को सुव्यक्त करने के उद्देश्य से उपाध्याय ने ब्रह्मसूत्र, 2/1/1 पर शंकराचार्य के भाष्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताते हुए एक श्लोक की चर्चा की है और भाष्यकार का संकेत वायुपुराण से है, यह निश्चित किया है।[76] उपाध्याय ने अपनी समीक्षा में प्रस्तावित किया है कि एक तो, यह स्पष्टतः "पुराण" का वचन है किसी स्मृति का नहीं तथा दूसरे, यह श्लोक वायु पुराण में केवल एक अन्तर के साथ उपलब्ध होता है जहाँ "नारायणः" के स्थान पर "महेश्वरः" शब्द प्रयुक्त हुआ है। राय ने उपाध्याय के मत का विश्लेषण करते हुए किंचित अन्य तथ्यों का उद्घाटन किया है- यदि शंकराचार्य ने वायु पुराण के श्लोक को उद्धृत किया तो उसके मूल पाठ में परिवर्तन क्यों किया। निस्सन्देह भाष्यकार का संकेत वायु पुराण से न होकर ब्रह्माण्ड पुराण से है क्योंकि आलोचित श्लोक परिवर्तनहीन स्थिति में इस ग्रन्थ में मिलता है।[77] इसके अतिरिक्त पौराणिक-संरचना के प्राथमिक स्तर पर वायु एवं ब्रह्माण्ड दोनों ही मूलतः एक ही पुराण ग्रन्थ में अन्तर्निहित थे जिसे "वायुप्रोक्तं पुराणम्" अथवा "पवमानप्रोक्तं पुराणम्" जैसे विशेषणों से अन्य ग्रन्थों में तथा वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण के उपलब्ध संस्करणों में सम्बोधित किया गया है।

यथार्थतः मौलिक वायु पुराण (वायुप्रोक्त) के शाखाभूत इन दोनों ग्रन्थों में पौराणिकों की शैवात्मक (वायु) और वैष्णवात्मक (ब्रह्माण्ड) भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है । इसी आधार पर उक्त श्लोक के पाठ का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है जहाँ वायु पुराण में "महेश्वरः" और ब्रह्माण्ड पुराण में "नारायणः" शब्द व्यवहृत हुआ है ।[78] प्रस्तुत परीक्षण में सन्दर्भित तथ्यों के विषय में यह कहा जा सकता है कि इन दार्शनिकों के युग में (सातवीं तथा नवीं शताब्दी ई०) पुराणों के मूल संस्करणों के अतिरिक्त प्रतिसंस्करणों का भी संकलन हो चुका था ।

पुराण-प्रामाण्य पर भाष्यकारों का दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि स्वरूप पुराण-ग्रन्थों की प्रामाणिकता को पूर्वमध्यकालीन भाष्यकारों ने स्वीकार किया है । मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि की इस सन्दर्भ में चर्चा करना वांछनीय है जिन्होंने अपनी कृति में ऐसे अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है, जिनके वास्तविक स्रोत उपलब्ध पुराण कहे जा सकते हैं ।[79] हाज़रा ने अपने विवेचन में इन श्लोकों के सम्बन्ध में दो प्रमुख तथ्यों को प्रकाशित किया है - (1) अधिकांश श्लोक सर्ग आदि के नियमित अध्ययन के प्रसंग में लिखे हुए हैं तथा (2) कुछ श्लोक पुराणों के अतिरिक्त स्मृतियों से भी अपने आपको सम्बन्धित करते हैं । मेधातिथि द्वारा सन्दर्भित श्लोकों के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि इनमें सामान्य रूप से पुराण शब्द वर्णित है, किसी विशिष्ट पुराण के नामांकन का अभाव है ।[80] भाष्यकार द्वारा उद्धृत किये गये श्लोक अपने मूल रूप में अथवा उससे साम्य रखने वाले रूप में मिलते अवश्य हैं परन्तु उन्हें किस पुराण विशेष से गृहीत माना जाये, यह निश्चित करना दुष्कर है । ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि भाष्यकारों ने पुराणों की प्राचीनता और प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए उनका प्रसंगानुकूल प्रयोग किया।

हारीत संहिता का एक प्रसंग इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है जहाँ स्मृतियों तथा पुराणों के आधार पर अनध्याय के दिवसों के निर्धारण करने का उल्लेख किया गया है ।[81] हाज़रा ने हारीत संहिता का काल छठीं शताब्दी

ईसवी को मानते हुए यह सुझाव रखा है कि हारीत के समय तक पुराणों में स्मृतियों के अनुकूल विषयों का समावेश हो चुका था ।[82] राय ने प्रस्तावित किया है कि इस युग में पुराणों को धर्म के आचार-व्यवहार सम्बन्धी पक्ष के दृष्टिकोण से प्रामाणिक माना जाता था ।[83] यहाँ पर विज्ञानेश्वर का विवरण दिया जा सकता है जिन्होंने प्रायश्चित्त के विधि-विधानों को प्रकाश में लाते हुए यह प्रख्यापित किया है कि पुराणों के द्वारा ही हारीत को इन विधि-विधानों का परिचय हुआ ।[84] अतएव ऐसा सुझाव रखा गया है कि पुराणों में आचारपरक विषयों का निरूपण चतुर्थ श0 ई0 के पूर्व ही हो चुका था ।[85] और पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ तक पुराणों की प्रामाणिकता भी भाष्यकारों को मान्य हो चुकी थी ।

इसी विवेचन-क्रम में स्मृतियों और पुराणों में समान रूप से उपलब्ध होने वाले विषयों की तुलनात्मक प्रामाणिकता पर विचार-विमर्श अपेक्षित है । पुराण समीक्षकों द्वारा इस समस्या के समाधान का प्रयास किया गया है कि मूलभूत समानता होते हुए भी स्मृतियों और पुराणों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों में जहाँ भिन्नता थी, वहाँ दोनों में से किसे प्रामाणिक माना जाये । इस सन्दर्भ में डैरेट महोदय ने अपरार्क द्वारा उद्धृत एक स्मृति के आधार पर प्रस्तावित किया कि पौराणिक और स्मार्त सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी प्रसंगों में व्यावहारिक दृष्टिकोण से पुराणों की व्यवस्था अमान्य है ।[86] हाज़रा ने अपनी समीक्षा में ऐसी अवधारणा का खण्डन करते हुए व्यक्त किया कि स्मृति विषयक और पौराणिक व्यवस्था, प्रारम्भ में सम्भवतः परस्पर भिन्न मानी जाती रही हो, परन्तु समय-परिवर्तन के साथ क्रमिक रूप से दोनों को एक ही स्तर पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई ।[87] उत्तरकालीन निबन्धकारों के ग्रन्थों से भी इसका समर्थन हो जाता है कि व्यवहार पक्ष की दृष्टि से स्मृति और पुराणों को प्रायः एक ही माना जाता था ।

पुराणों की पंचलक्षणभूत महत्ता की इदृयता का मूल्यांकन

पुराण आलोचकों ने प्रतिपादित किया है कि पंचलक्षण के कारण पुराणों की प्राचीन महत्ता परम्पराद्योतक विषय बन चुकी थी और पूर्वमध्यकाल में भी इसका तिरोधान नहीं हुआ था ।[88] पुराण संरचना के प्राथमिक स्तरों पर पंचलक्षणगत वैशिष्ट्य इतना प्रतिष्ठित हो चुका था कि उत्तरकालीन स्तर पर पुराणों के प्रतिसंस्करणों एवं परिवर्धनों में भी इन्हें सहज रूप से प्रामाणिक मानते हुए स्वीकार किया गया । इस सन्दर्भ में बलदेव उपाध्याय के द्वारा विश्वरूप (800-850 ई0) के भाष्य की ओर किये गये संकेत की चर्चा विषयानुकूल है । याज्ञवल्क्य स्मृति (3/170) की स्वप्रणीत टीका "बालक्रीड़ा" में विश्वरूप ने विश्व के परिणाम के विषय में जहाँ विवरण दिया है, वहाँ उपाध्याय ने सांख्य-सिद्धान्त का सातत्य माना है । यहाँ विश्वरूप का कथन है कि जगत की सृष्टि और प्रलय सम्बन्धी सिद्धान्त पुराण आदि में सर्वत्र प्राप्त होता है । उपाध्याय ने पुराणों की समीक्षा के आधार पर विश्वरूप के इस मत को सर्वथा यथार्थ माना है और विष्णु, अग्नि, तथा कूर्म पुराणों के प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं ।[89] उपाध्याय के प्रस्तुत निष्कर्ष के साथ कुछ अन्य तथ्य भी ध्यातव्य है । प्रथम तो विश्वरूप ने इस कथन में पुराण-पंचलक्षण के पहले दो लक्षणों की ओर इंगित किया है जिन्हें पौराणिक शब्दावली में सर्ग और विसर्ग के नाम से जाना जाता है । दूसरा तथ्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिसमें विश्वरूप ने पुराण के साथ 'आदि' शब्द प्रयुक्त किया है । प्रतीत होता है कि विश्वरूप ने पुराण का स्पष्टीकरण करते हुए पुराणों के अतिरिक्त उन रचनाओं को "आदि" शब्द से व्यक्त करना चाहा है जिनमें पुराणों के वर्ण्य विषय, सर्ग और प्रतिसर्ग का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः विश्वरूप का मन्तव्य सांख्य परम्परा का निरूपण करने वाले उन ग्रन्थों से है जिन्हें सर्ग और प्रतिसर्ग वर्णन के कारण पुराणों का समस्तरीय माना जाता था । अतएव कहा जा सकता है कि विश्वरूप के काल में अर्थात् पूर्वमध्य काल में, पुराणों के प्रति संस्करणों की निष्पन्नता उनके पारम्परिक लक्षणों के निर्वाह के साथ की गई ।

उक्त विवेचन में पौराणिक शोध कार्यों तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न मत-मतान्तरों के पुनरावलोकन का प्रयास किया गया है जो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय-अनुशीलन की इयत्ता एवं इदृक्ता के सन्निकर्ष में भले ही न रखा जा सके किन्तु पौराणिक समीक्षा के लिये अपनाये गये मापदण्डों और विषय-परक प्रमाणों के विस्तार के दृष्टिकोण से इसका विश्लेषण वान्छनीय है । पौराणिक वाङ्मय के स्वरूप, महत्त्व एवं एतद् विषयक पूर्वसूरियों एवं आधुनिक वैदूष्य परीक्षण के सामान्य एवं विशेष गवेषण तथा अनुशीलन के उपरान्त आलोच्य अध्याय की पंक्तियों में शोध-प्रबन्ध के समालोच्य पुराण-ग्रन्थ वायुपुराण से सम्बन्धित विभिन्न समस्या-सापेक्ष पक्षों का तत्त्वेक्षण अनुवर्ती अनुच्छेदों में प्रस्ताव्य है :

प्राथमिक पुराणों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों के अंकन एवं अनुशीलन की दृष्टि से वायु पुराण की उपादेयता संशयविहीन है । इसके अति-रिक्त पुरातन परम्पराओं को प्रतिबिम्बित करने वाले वेद, ऋषि प्रणीत आचार संहिता तथा अनेक आख्यान इस पुराण में उपलब्ध होते हैं । फलस्वरूप अनेक पुराणों की अपेक्षा लघ्वाकार होते हुए भी यह रचना यह पुराण-साहित्य में विशिष्ट मानी जाती है । सामान्यतः विद्वानों ने सर्वसम्मति से इसे कतिपय प्रारम्भिक पुराणों में से एक की मान्यता दी है क्योंकि इसमें निरूपित विषय एवं परम्परा-ग्रथित साक्ष्य प्राचीनता के परिपोषक हैं ।[90] कुछ पुराणों की अष्टादश महापुराण तालिका में वायु पुराण का नामोल्लेख न करते हुए शिव पुराण को चतुर्थ स्थान देने का आग्रह किया गया है, जो भ्रामक है । इस आशय का सर्वाधिक प्राचीन सन्दर्भ अलबरूनी के विवरण में प्राप्त होता है जबकि पुराणों के मौलिक रूप में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था ।[91] सम्भवतः समालोचकों के भ्रम का कारण शिव पुराण की अनेक संहिताओं में से एक वायुप्रोक्त 'वायवीय संहिता' है जो शिव माहात्म्यादि प्रति-पादक है । परन्तु वायुप्रोक्त स्वतन्त्र वायु पुराण पूर्णतः पृथक, तान्त्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक आग्रह से नितान्त विवर्जित पुराण है । इसके अति-रिक्त पुराणीय पंचलक्षणीय का सम्यक् सन्निवेश वायु पुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य

है जिसमें राजाओं एवं ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथायें स्थान स्थान पर वर्णित हैं जो इस ग्रन्थ की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण हैं। इसके विपरीत शिव पुराण अर्वाचीन, तान्त्रिकता से मण्डित और रौद्री साम्प्रदायिकता से संपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रन्थ है जिसमें अधिक से अधिक सर्ग ही सम्बन्धित यत्र तत्र उपलब्ध हैं। कुछ-एक अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी विद्वान् इस विषय में ऐकमत्य हैं कि शिव पुराण को अष्टादश महापुराणों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।[92] यदि कुछ अन्य तथ्यों का परीक्षण किया जाये तो पुराण-परम्परा में वायु पुराण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है -

1. प्राचीन ग्रन्थों में वायु पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य की उद्भावना की गई है। इस आशय के परिपोषक अन्य अनेक साक्ष्यों में बाणभट्ट की दोनों रचनाओं एवं शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य को विशेषतया सन्दर्भित किया जा सकता है, जो वायु पुराण की प्रामाणिकता एवं लोकप्रियता के संशय-रहित संकेतक हैं।[93]

2. वायुप्रोक्त पुराणों में वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण का एकत्व विवादरहित है किन्तु शिव पुराण में इस लक्षण का समन्वय मात्र वायवीय संहिता में किया गया है।

रचना की प्राचीनता तथा शैली को पुराण-सापेक्ष शुचिता की दृष्टि से वायु पुराण का पुराण वाङ्मय में महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत, हरिवंश और बाणभट्ट के द्वारा इस पुराण का उल्लेख अति प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में किया गया है। महाभारत में प्रस्तुत पुराण की तीन विशेषताओं को साग्रह उद्घाटित किया गया है -

1. अतीत और अनागत का आख्यान जिसका आशय राजवंश वर्णन से है। सम्भवतः महाभारत के रचनाकाल तक वायु पुराण के कलेवर में राजवंश वर्णन के स्थलों का समाहरण हो चुका होगा।

2. ग्रंथि के साथ आलोचित पुराण का परिचय उसकी आदरणीय स्थिति को सुव्यक्त करता है ।

3. अन्य ग्रन्थों के समान इसमें भी वायु पुराण के सन्दर्भ में वायुप्रोक्त पुराण का प्रयोग उपलब्ध होता है । दीक्षितार का मत है कि वायु पुराण ही एकमात्र पुराण है जिसके अस्तित्व की ओर स्पष्टतः महाभारत तथा हरिवंश में संकेत दिया गया है ।[94] हाप्किंस की समीक्षा के अनुसार हरिवंश और वायु पुराण के वर्णनों में विभिन्न स्थलों पर शाब्दिक साम्य मिलता है ।[95]

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" जैसी सदुक्ति के सन्निदर्शक बाणभट्ट (सातवीं शती) वायु पुराण से सुपरिचित थे और दोनों गद्यकाव्यों - कादम्बरी एवं हर्षचरित- में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया गया है । कादम्बरी के पूर्वभाग में जाबालि मुनि के आश्रम के वर्णन-प्रसंग में बाणभट्ट के द्वारा अति सुन्दर परिसंख्या अलंकार का प्रयोग किया गया है - "पुराणेषु वायुप्रलपितम्" - अर्थात् पुराणों में वायु के द्वारा कथन उपलब्ध हैं ।[96]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बाण के युग तक विरचित पुराणों में वायु पुराण की प्रामाणिकता सर्वाधिक मान्य थी । हर्षचरित में पुराण के दो उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं । एक स्थल पर वायु पुराण के जनसाधारण में पठन-पाठन के प्रचलन की चर्चा है तथा अन्यत्र इसी पुराण को पवमान-प्रोक्त पुराण सम्बोधित करते हुए इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है । इसके अतिरिक्त आलोचित पुराण के सन्दर्भ में 'मुनिगीतम्', 'अतिपृथु', 'जगद्व्यापि' आदि विशेषण भी प्रयुक्त किये गये हैं ।[97] प्रस्तुत विवेचन में शंकराचार्य की पंक्ति का उल्लेख वांछनीय है जिसमें पुराण की जो विशेषता अतीत और अनागत के रूप में प्रतिपादित की गई है, वह पूर्णतः उसी प्रकार है जिस प्रकार महाभारत के उद्धरण में वर्णित है ।[98] उपाध्याय ने ब्रह्माण्ड पुराण, 1/4/30-32 को शंकराचार्य की उक्त पंक्ति से सम्बन्धित किया है । राय ने उपाध्याय की समीक्षा को ससम्मान स्वीकार करते हुए प्रस्तावित किया है कि इस पंक्ति का विवरण वायु पुराण,

5/43-64 में भी प्राप्त होता है अतः शंकराचार्य की पंक्ति का आधारभूत पुराण-ग्रन्थ वायु पुराण को मानना औचित्यपूर्ण है ।[99] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम शतक में वायु पुराण का प्रथम एवं प्रामाणिक संस्करण तैयार हो चुका था । वायु पुराण के आख्यान तथा राजवंश विषयक विवरण प्रमाण रूप में उद्धृत किये जाने लगे थे । अन्य प्राथमिक पुराण, जैसे ब्रह्माण्ड पुराण में भी 'वायुप्रोक्त' पुराण की परम्पराओं का अनुकरण किया गया । इन तथ्यों के आलोक में दीक्षितार महोदय ने वायु पुराण के प्राथमिक अंशों का काल 5वीं श0ई0पू0 और अंतिम अंशों को 500 ई0 का निर्धारित किया है ।[100]

वायु पुराण के किन विशिष्ट स्थलों को दीक्षितार महोदय ने प्राथमिक अंशों की मान्यता दी है, इस विषय पर स्पष्टरूपेण प्रकाश नहीं डाला गया है । प्रस्तुत विद्वान् ने महाभारत, हरिवंश एवं बाण की रचनाओं में वायु पुराण के उल्लेख तथा याज्ञवल्क्य स्मृति और वायु पुराण के कुछ अंशों की समानता के आधार पर अपना मत अनुमोदित किया है । वस्तुतः उक्त ग्रन्थों से वायु पुराण की अपेक्षाकृत प्राचीनता सिद्ध होती है न कि इसके काल-विशेष का स्पष्टीकरण होता है । याज्ञवल्क्य स्मृति और वायु पुराण में मोक्ष-लाभ हेतु उपयोगी यौगिक क्रियाओं की चर्चा अवश्य उपलब्ध है लेकिन ब्रह्माण्ड पुराण में इसका अभाव इन स्थलों के उत्तरकालीन स्तरों पर समावेशित किये जाने का संकेत देता है । वस्तुतः ब्रह्माण्ड पुराण में मूल वायुप्रोक्त वायु पुराण के विभिन्न महत्वपूर्ण अंशों को संकलित किया गया है । अपने मत के समर्थन में दीक्षितार ने वायु पुराण में वर्णित यौगिक क्रियाओं और यौगिक विधानों की प्राचीनता को उद्घाटित करते हुए उनके स्वरूप का साम्य सैन्धव संस्कृति से निर्धारित किया है । परन्तु साक्ष्यों द्वारा पुष्ट अनुसंधानों के आलोक में वायु पुराण के पाशुपत योग विषयक स्थल उत्तरकालीन ही माने गये हैं ।[101] इसके अतिरिक्त दीक्षितार ने वायु पुराण में प्राप्त होने वाले आर्ष तथा अपाणिनीय प्रयोगों की चर्चा करते हुए प्रस्तावित किया है कि छठीं शताब्दी ई0पू0 में भास के द्वारा इस प्रकार की शैली का नाटक प्रणयन में प्रयोग किया गया था । परन्तु यह शैली मात्र वायु पुराण की विशेषता नहीं

है अपितु अनेक पुराणों में यह उपलब्ध है तथा पौराणिक संरचना में लोक प्रचलित शैली की सूचक है। पुराणों की भाषा को व्यावहारिक बनाने के उद्देश्य से कुछ उन्मुक्त होकर तद्-भिन्न शब्दों तथा शब्द रूपों को ग्रहण कर लिया गया था। अतएव यह शैली किसी विशेष पुराण काल की द्योतक नहीं है। वायु पुराण की प्राचीनता प्रमाणित करने के प्रयास में दीक्षितार ने वायु पुराण में अनुपलब्ध बौद्ध एवं जैन धर्म सम्बन्धी आचार-विचारों का भी उल्लेख किया है जो पाँचवीं-चौथी शती ई०पू० में आविर्भूत हो चुके थे। राय ने अपनी समीक्षा में इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए आलोचित पुराण में प्रयुक्त 'नग्न' शब्द का तात्पर्य वेद विरोधी धर्म के अनुयायियों से माना है। वायु पुराण के उद्धरण को सांकेतिक ऐतिहासिक तत्त्व की मान्यता देते हुए नग्न शब्द से बौद्धों की ओर अभिप्राय निश्चित किया है।[102]

वायु पुराण का उपलब्ध संस्करण, मूल वायु प्रोक्त वायु पुराण के कहाँ तक निकट है अथवा दोनों में समानता है कि नहीं, यह भी विवेचनीय है। अधिकांशतः पुराण ग्रन्थ अपने मूल संस्करण से कुछ न कुछ पृथक अवश्य हैं और आलोचित पुराण भी इसका अपवाद नहीं है। सामान्य रूप से वायु पुराण की दो प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें बंगाल की एशियाटिक सोसायटी द्वारा 1880 ई० में प्रकाशित संस्करण प्राचीन है[103] तथा द्वितीय संस्करण 1905 ई० में पूना के आनन्दाश्रम द्वारा प्रकाशित किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य प्रतियाँ वर्तमान समय में नहीं मिलती हैं जिसके कारण मूल पाठ और रूपान्तरण में कहाँ समानता और कहाँ भिन्नता है, इसका निर्धारण करना कठिन है। श्रीधर स्वामी भागवत की टीका, 1/1/4 में वायु पुराण से एक श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण में कुछ भिन्न रूप में प्राप्त होता है। सम्भवतः श्रीधर स्वामी के सामने वायु पुराण का भिन्न पाठ विद्यमान था।[104]

निबन्धकारों ने भी साक्ष्यों के रूप में वायु पुराण के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है।[105] इनमें से कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो वायु पुराण की उपलब्ध

प्रतियों में नहीं प्राप्त होते हैं । अतएव मूल वायु पुराण के साथ उपलब्ध वायु पुराण के तादात्म्य स्थापित करने की सीमा निश्चित करना दुष्कर है । वायु पुराण के सन्दर्भ में प्राचीन ग्रन्थों में वायुप्रोक्त पुराण जैसे विशेषण का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण के लिये भी यही विशेषण प्रयुक्त मिलता है जो तर्कसंगत प्रतीत होता है क्योंकि कुछ अध्यायों और यत्र तत्र कुछ श्लोकों को छोड़कर वायु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण का वर्णन-क्रम समान रूप से प्राप्त होता है । इन दोनों पुराणों की पारस्परिक अभिन्नता मूल वायु पुराण से इनके निकट सम्बन्ध को समर्थित करती है ।

वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण में चार खण्ड - ।1। प्रक्रिया-पाद ।2। अनुषंग-पाद ।3। उपोद्घात-पाद एवं ।4। उपसंहार-पाद - हैं और इसके वक्ता वायु हैं तथा रुद्र-शिव की महिमा का व्यापक प्रतिपादन किया गया है । उपाध्याय के मतानुसार हस्तलेखों की समीक्षा के आधार पर प्राचीन काल में कदाचित् इसके दो खण्ड थे - पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध क्योंकि अड्यार से प्राप्त एक हस्तलेख में यही विभाजन है ।[106] हस्तलेखों और वायु पुराण के संप्रति रूप के पृथकत्व से यह सम्भावना बढ़ जाती है कि प्राचीन काल में वायु पुराण का मौलिक संस्करण अवश्य विद्यमान था जिस पर इस पुराण की उपलब्ध प्रतियाँ आधारित हैं ।

वायु पुराण की एक प्रति इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है जिसके अध्याय परिशिष्टों में वायु पुराण शब्द प्रयुक्त करने के साथ साथ इसे शिव पुराण भी कहा गया है ।[107] अतः संभावनीय है कि जिन संकलनकर्ताओं द्वारा इसके संस्करण और प्रति संस्करण तैयार किये गये, उन्होंने प्राचीन नाम को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया परन्तु वायु प्रोक्त इ वायु पुराण की प्राचीन प्रतिष्ठा का निर्वाह करना अपरिहार्य होने के कारण उन्हें नवीन प्रस्तावित नाम के साथ मौलिक नाम भी रखना पड़ा । निश्चय ही इसका मूल नाम वायु प्रोक्त वायवीय पुराण था । इसी आधार पर शिव पुराण के सातवें खण्ड को "वायवीय संहिता" अभिधान देकर प्राचीन एवं प्रामाणिक वायु पुराण की लोकप्रियता का लाभ उठाने

की चेष्टा की गई । यह प्रयास निस्सन्देह वायु पुराण की प्रसिद्धि का प्रतिफल माना जा सकता है । परन्तु इस विषय में श्री चौधरी की धारणा है कि 13वीं 14वीं शताब्दी के लगभग वायु पुराण को शिव पुराण द्वारा अपदस्थ कर दिया गया था ।[108] इस विचार से सहमत होने में दो कठिनाइयाँ हैं - एक तो वायु पुराण की लोकप्रियता किस क्षेत्र-विशेष में समाप्त हो सकती थी और दूसरे, किस प्रवृत्ति की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप ऐसा सम्भव था । यह मानना आपत्तिजनक होगा कि सम्पूर्ण भारत में वायु पुराण के पठन पाठन का प्रचलन समाप्त हो गया था । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत में शिव पुराण की प्रतिष्ठा शैव उपासकों में वायवीय संहिता के नाम से थी । यहाँ पर श्रीधर स्वामी द्वारा भागवत टीका, 1/1/4 में उद्धृत एक श्लोक की चर्चा करना प्रसंगानुकूल है जो टीकाकार के अनुसार वायवीय संहिता से सम्बन्धित है । परन्तु इस श्लोक का यदि पुनरावलोकन किया जाये तो यह शिव पुराण का मौलिक अंश नहीं प्रतीत होता है क्योंकि वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में यही श्लोक कुछ परिवर्तित शब्द योजना के साथ उपलब्ध है ।[109] निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि श्रीधर स्वामी ने "तथा च वायवीये" शब्द का प्रयोग वायु पुराण के सन्दर्भ में किया है और वायु पुराण के जिस संस्करण से इन्होंने उद्धरण लिया, सम्भवतः उसी प्रति से शिव पुराण में भी उक्त श्लोक उद्धृत किया गया । अभी तक सन्दर्भित प्रति के उपलब्ध होने की सूचना नहीं मिली है ।

वायु पुराण का उल्लेख अष्टादश महापुराण की तालिका में चतुर्थ पुराण के रूप में नारदीय पुराण में मिलता है जिसके अनुसार वायवीय पुराण रुद्र का प्रतिपादक, चौबीस सहस्त्र श्लोकों से सम्पन्न, श्वेतकल्प के प्रसंग में वायु द्वारा निरूपित है । इसके दो भाग हैं - पूर्व भाग में सर्ग, मन्वन्तर, राजवंश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य, व्रत दान धर्म, राजधर्म आदि विषयों का विवरण दिया गया है । उत्तर भाग में नर्मदा का वर्णन तथा शिव का माहात्म्य वर्णित है ।[110] मत्स्य पुराण में भी उल्लिखित है कि वायु ने श्वेतकल्प के

प्रसंग से रुद्र की महिमा चौबीस हजार श्लोकों में प्रतिपादित की है ।[111] उत्तर-कालीन पुराणों में वर्णित यह विवरण निस्सन्देह वायु पुराण की प्राचीनता और प्रामाणिकता का ज्वलन्त उदाहरण है । इसके अतिरिक्त उत्तरकालीन स्तरों पर संयोजनों की श्रृंखला होते हुए भी वायु पुराण की पंचलक्षणभूत महत्ता का तिरोभाव नहीं हुआ । प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय तथ्य यह है कि वायु पुराण के संप्रति प्राप्त संस्करण में नारदीय पुराण में विवेचित दो विशिष्टताओं का अभाव है - एक तो इसमें श्वेतकल्प का प्रतिपादन नहीं मिलता है जिसके विषय में हाज़रा का मत है कि वराह कल्प पर अधिक बल देते हुए इसमें श्वेतकल्प एवं वराह कल्प में साम्य स्थापित करने की भी चेष्टा दृष्टिगोचर होती है । दूसरे गया माहात्म्य इसके उत्तरार्द्ध में वर्णित है न कि पूर्वार्द्ध में । हाज़रा का विचार है कि गया माहात्म्य विषयक अध्याय वायु पुराण के अभिन्न अंग न होकर प्रक्षिप्त अंश हैं ।[112] परन्तु इस सन्दर्भ में राय ने प्रस्तावित किया है कि नारदीय पुराण का विवरण उस काल-विशेष का बोधक है जबकि तीर्थों की प्रतिष्ठा .... का महत्वपूर्ण अंग बन चुकी थी । इसी आधार पर सम्भवतः नारदीय पुराण के संकलनकर्ता ने वायु पुराण की अनुक्रमणी को परिवर्तित करके समयानुकूल बनाने के उद्देश्य से गया-तीर्थ का माहात्म्य उत्तर भाग से पूर्व भाग में स्थानान्तरित कर दिया हो । इसके अतिरिक्त गया-माहात्म्य सम्बन्धी स्थल वायु पुराण में उत्तरकालीन संयोजन का परिणाम हो सकते हैं किन्तु गय का प्रसंग प्रक्षिप्त मानना तर्कसंगत नहीं है । यहाँ पर विवेचनीय है कि व्यक्तिवाचक गय शब्द का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है । ऋग्वेद के एक छन्द में गय के द्वारा देवताओं की स्तुति का वर्णन है।[113] सन्दर्भित संहिता में गय का सम्बन्ध अधिकांशतः असुर, दास तथा राक्षसों के साथ स्थापित किया गया है ।[114] नारदीय पुराण में गया-माहात्म्य शब्द का उल्लेख न करते हुए केवल यह आख्यात है कि वायु पुराण में गय के शिरश्छेदन का विस्तार-पूर्वक वर्णन दिया गया है । ध्यातव्य है कि वायु पुराण के दो अध्यायों में दो पृथक विवरण इस सम्बन्ध में मिलते हैं । अतएव बहुत कुछ सम्भव है कि वायु पुराण में निरूपित गय विषयक अध्याय वैदिक आख्यान का पौराणिक विस्तार हो ।[115]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि गद्य-विषयक स्थल वायु पुराण के मौलिक एवं पुरातन अंश ही हैं तथा अनुवर्ती स्तरों पर पुरातन स्थलों को परिवर्द्धन एवं श्लोक-संयोजन का विषय बनाया गया ।

वायु पुराण के कतिपय प्रमुख पक्षों की समीक्षा से उसकी प्राचीन महत्ता का समर्थन अवश्य होता है परन्तु उसके आरम्भिक अंशों के रचनाकाल का निर्धारण सुनिश्चित रूप में नहीं किया जा सकता है । यह निश्चित है कि गुप्त सम्राटों के काल तक वायु पुराण का प्रथम संस्करण प्रकाशित हो चुका था क्योंकि इसमें गुप्त राज्य के आदिम काल की राज्य सीमा का उल्लेख मिलता है जो समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन है ।[116] फलतः 300 ई0 से लेकर 400 ई0 के मध्य किसी समय वायु पुराण के प्रथम संस्करण को प्रस्तुत किया गया होगा ।[117] इसके पश्चात् प्रामाणिक पुराण की मान्यता होने के कारण वायु पुराण के संस्करण तथा प्रतिसंस्करण उक्त निर्धारित तिथि के बाद भी प्रकाशित किये जाते रहे ।

मूलभूत पुराणों में कालान्तर में यत्र तत्र स्फुट श्लोक ही नहीं जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय के अध्याय ही जोड़ दिये गये । वायु पुराण में भी इसी प्रवृत्ति का निर्वाह स्थान स्थान पर दृष्टिगत होता है । इसी आधार पर हाज़रा महोदय ने वायु पुराण के कतिपय अध्यायों का उत्तरकालीन स्तर पर संयुक्त माना है - अध्याय 16-17; अध्याय 18; अध्याय 57-59; अध्याय 73-83; अध्याय 101 और अध्याय 105-112. इन विभिन्न अध्यायों की उत्तरकालीनता प्रमाणित करने के लिये सन्दर्भित विद्वान् ने तर्कसंगत विचार प्रस्तावित किये हैं । अध्याय 16-17 में निरूपित पाशुपत योग के सम्बन्ध में इनका मत है कि मार्कण्डेय पुराण में उपलब्ध एतत्सम स्थल अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं संक्षिप्त है जबकि वायु पुराण में इन्हें सविस्तार वर्णित किया गया है । इसके अतिरिक्त मूल वायु पुराण के रूपान्तर ब्रह्माण्ड पुराण में पाशुपत योग का अभाव उसकी उत्तरकालीनता की पुष्टि करता है । अध्याय 18 में वर्णित यतियों के नियम-विधानों का उल्लेख भी ब्रह्माण्ड पुराण में अप्राप्त है जिसके कारण उसका उत्तरकालीन स्तर पर संयोजन सम्भावित प्रतीत

होता है । युग-धर्म विषयक अध्याय 57-58 के तिथि निर्धारण में हाज़रा महोदय ने दो महत्वपूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है । प्रथम तो, इसमें नन्द वंश से आन्ध्र वंश तक का राजनैतिक इतिहास उल्लिखित है जिससे इसकी तिथि 200 ई0 से पूर्व मान सकते हैं । दूसरे, मत्स्य पुराण के राजनैतिक इतिहास सम्बन्धी स्थल वायु पुराण पर आधारित हैं अतः सम्भव है कि इन अध्यायों को मूल वायु पुराण में तृतीय शताब्दी ई0 के पहले संयोजित किया गया था । इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस समय वायु पुराण का प्रथम संस्करण प्रकाशित होने वाला था, लगभग उसी समय ये अध्याय जोड़े गये । श्राद्ध सम्बन्धी 73-83 अध्याय की समीक्षा में हाज़रा ने दो तथ्यों को आलोकित किया है । वायु पुराण के श्राद्ध प्रसंग में जो योगियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, उसका साम्य पाँचरात्र संहिताओं के तत्सम स्थलों से है तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में इनका अनस्तित्व इन्हें उक्त स्मृतियों से बाद का निर्धारित करता है । इसके अतिरिक्त इस स्थल पर नग्न व्यक्तियों को श्राद्ध वर्जित बताया गया है जिनके सन्दर्भ में हाज़रा ने जैन एवं बौद्ध मतावलम्बियों को मान्यता दी है । अतएव जब बौद्ध तथा जैन धर्म पतनोन्मुख स्थिति में पहुँच रहे थे तब इन अध्यायों का संकलन हुआ तथा इन्हें वायु पुराण में समाहृत किया गया । अध्याय 101 में निरूपित है जिसे अध्याय 73-83 के समकालीन माना जाना औचित्यपूर्ण है । गया-माहात्म्य पर वायु पुराण में विशेष प्रकाश डाला गया है और 105-112 अध्याय को मूलभूत वायु पुराण का अंश मानने में कठिनाई प्रतीत होती है । वायु पुराण की सभी प्रतियों में गया-माहात्म्य का विवेचन नहीं उपलब्ध है तथा वायु पुराण से पूर्णतः पृथक् भी यह अंश स्वतन्त्र कृति के रूप में प्राप्त है जिससे हाजरा ने प्रतिपादित किया है कि 1400 ई0 के लगभग वायु पुराण में इन अंशों को संयोजित किया गया । हाज़रा के निष्कर्ष के सन्दर्भ में राय ने प्रस्तावित किया है कि गया माहात्म्य विषयक सभी अध्याय उत्तरकालीन संयोजन का परिणाम नहीं थे अपितु गय-असुर सम्बन्धी आख्यान को वैदिक वर्णन का विस्तार मान सकते हैं जो अध्याय 105 तथा 112 दोनों में निरूपित हैं । यदि अध्याय 105 को वायु पुराण का मौलिक अंशभूत

पाठ मानें तो अध्याय 112 को वर्णन की अनुकूलता के आधार पर बाद में जोड़ा गया मानने की सम्भावना बढ़ सकती है ।[118]

कतिपय उत्तरकालीन अध्यायों का आलोचनात्मक विवेचन

आलोचित पुराण के कुछ अन्य अध्यायों के अन्तः साक्ष्यों से सम्भावित लगता है कि वे मौलिक वायु पुराण के स्थल नहीं थे और ग्रन्थ को समयानुकूलता प्रदान करने के लिये उन्हें संयुक्त करके उसका विस्तार कर दिया गया । यहाँ सर्वप्रथम अध्याय 11-20 में प्राप्त होने वाले पाशुपत योग की चर्चा की जा सकती है जिनमें हाजरा द्वारा समीक्षित अध्याय भी निहित है । अपने परीक्षण में सन्दर्भित विद्वान् ने अध्याय 16-18 की तिथि 400 ई0 के उपरान्त निर्धारित की है जिसे उक्त अध्यायों में यथाक्रम वर्णन-योजना के अभाव के कारण समर्थित किया जा सकता है । अध्याय 17 के एक श्लोक में वर्णित है कि यौगिक क्रिया की ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् योगी को आचार्य की आज्ञा से देशाटन-लाभ करना चाहिये जिससे ज्ञान-वृद्धि सम्भव है । ध्यातव्य है कि यही उल्लेख अध्याय 16 के छठे श्लोक में प्राप्त होता है । प्रतीत होता है कि मूलतः एक अध्याय में ही यह विधान निरूपित था जिसे बाद में बढ़ाया गया अथवा किसी अन्य ग्रन्थ से, सम्भवतः मार्कण्डेय पुराण से इन्हें शिवोपासना के प्रचार के लिये उद्धृत करके वायु पुराण में उत्तरकालीन स्तर पर संयोजित कर दिया गया । पाशुपत योग से सम्बन्धित अन्य अध्यायों के सम्यक् विवेचन से व्यक्त होता है कि इनमें उन सामाजिक तत्वों को संश्लेषित किया गया है जो पौराणिक संरचना के उत्तरकालीन स्तर पर प्रचलित थे । अध्याय 11 के आठवें तथा नवें श्लोक में अतीत, आधुनिक एवं अनागत तत्वों के दर्शन से योगियों के बुद्धत्व प्राप्त करने का उल्लेख है । अध्याय 12 के चौबीसवें श्लोक में आख्यात है कि असत् तत्व का साक्षात्कार होने पर, और सार्वजनीन बुद्धि के अवगत होने पर योगी, बुद्ध होता है । निश्चित रूपेण यह वर्णन बौद्ध धर्म से प्रभावित है जिसका पुराण रचना की प्रारम्भिक अवस्था में सर्वथा

अभाव था । पाँचवीं शताब्दी ई0 में बौद्ध धर्म का समाहार पौराणिक संरचना में अनुमानित है अतएव इन अध्यायों में वर्णित श्लोकों को भी तत्कालीन कहा जा सकता है ।

प्रस्तुत अध्यायों में निरूपित साम्प्रदायिक तत्वों के उद्घाटन से भी उनकी उत्तरकालीनता की पुष्टि होती है क्योंकि पौराणिक संरचना के आरम्भिक स्तर पर दैवी समन्वयवाद पर अधिक बल दिया गया था जबकि इनमें शिव के उपास्य तत्व को ही प्रकर्षमय बनाया गया है । दृष्टान्त रूप में, अध्याय 20 के छठे श्लोक में विष्णु के तीन पदों का उल्लेख है जिनका सम्बन्ध न योगी से निश्चित किया गया है और न ही उनके दैवी तत्व पर प्रकाश डाला गया है । परन्तु इसी अध्याय के अन्तिम श्लोकों में शिव-माहात्म्य का अतिरेक के साथ वर्णन महेश्वर के प्रति आलोचित पुराण की एकनिष्ठता का पुष्ट प्रमाण है ।

कल्प निरूपण सभी पुराण - ग्रन्थों में उपलब्ध है और आलोचित पुराण के अध्याय 21-22 में उसकी विद्यमानता पुराण-रचना शैली के निर्वाह की सूचक है । परन्तु मूल वायु पुराण के रूपान्तर ब्रह्माण्ड पुराण में इन अध्यायों का लोप इनकी मौलिकता को संदिग्ध बना देता है । इसके अतिरिक्त वर्णन क्रम के व्यवधान से भी इन्हें मौलिक पुराण का अंशभूत मानने में कठिनाई प्रतीत होती है । अध्याय 21 में नैमिषारण्य के ऋषियों में श्रेष्ठ सावर्णि के द्वारा वायु के समक्ष दो पृच्छना की गई जो एक दूसरे से पूर्णतः पृथक थीं । ब्रह्मा की उत्पत्ति, विष्णु और शिव की मैत्री तथा रुद्र शिव की उपासना स्वयं विष्णु भी किस कारण वश करते हैं, आदि से प्रथम पृच्छना सम्बन्धित थी जिसका निराकरण करने के स्थान पर द्वितीय पृच्छना का उल्लेख कर दिया गया है जो कल्प के कारण एवं विस्तार विषयक है । एक ही अध्याय के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विषयों का समाहार एक से अधिक संकलनकर्ताओं की संसक्ति का परिचायक है । पौराणिक वर्णन-योजना के आधार पर यदि कल्प-निरूपण को पहले का मान लिया जाये तब विष्णु, रुद्र आदि देवताओं की चर्चा प्रसंगानुकूल नहीं है । यह भी उल्लेखनीय है कि पुराण-

सृजन के प्राथमिक स्तरों पर सभी देवताओं को आराध्य घोषित किया गया न कि उनकी पारस्परिक तुलना को वर्ण्य-विषय बनाया गया । अध्याय 22 में कल्प-निरूपण अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप में है परन्तु अन्तिम श्लोकों को प्रक्षिप्त मानना ही औचित्यपूर्ण है । अध्याय की समाप्ति 19वें श्लोक के साथ ही सम्भावित लगती है जहाँ ब्राह्मणों के ब्रह्मलोक में प्रवेश एवं प्रत्यागमन से मुक्ति का वर्णन है । परन्तु पुनः अन्तिम श्लोकों में आख्यात है कि धर्म की स्थापना के बाद ब्राह्मण रुद्रलोक में प्रवेश करते हैं और उनका पुनरागमन नहीं होता है।[119] अतएव अन्तिम श्लोकों को उत्तरकालीन प्रक्षिप्त अंश कहा जा सकता है जिनमें संकलनकर्ता ने अपनी शैवात्मक अभिरुचि का प्रतिपादन वर्णन क्रम के नैरंतर्य की ओर ध्यान न देते हुए किया है ।

आलोचित पुराण के अध्याय 23 के 100वें श्लोक में विष्णु एवं नारायण में तादात्म्य स्थापित करते हुए वराह-अवतार विष्णु की संभूति मानी गई है । यह स्थल पौराणिक धार्मिक प्रवृत्ति का पोषक होते हुए भी वायु पुराण की वर्णन विधा से भिन्न है । इस निष्कर्ष का आधार इसी पुराण का छठा अध्याय है जिसमें नारायण और वराह का वर्णन उपलब्ध है और उन्हें ब्रह्मा से अभिन्न माना गया है । स्मरणीय है कि वैदिक वर्णनों में भी ब्रह्मा और वराह का अभेद सम्बन्ध निर्देशित है । यदि पौराणिक वर्णन को वैदिक परम्परा के निर्वाह का द्योतक मान लिया जाये तब अध्याय 23 को उत्तरकालीन स्तर पर संयुक्त मानना तर्कसंगत है । इस अध्याय के कुछ अन्य श्लोकों के परीक्षण से इसका कालान्तर में संयोजित होना पुष्ट हो जाता है । श्लोक संख्या 93 में तीर्थ-फल की अपेक्षा ध्यान-योग को उत्कृष्ट बताया गया है । तीर्थ-फल की चर्चा तभी सम्भव है जब उसका सम्यक् ज्ञान हो, अतः तीर्थ विषयक अध्यायों के समावेश के पश्चात् ही यह वर्णन आलोचित पुराण का अंश बन सका होगा । हाज़रा ने अपने विवेचन में छठी शताब्दी ई० का अन्तिम चरण, पुराणों में तीर्थ-महत्ता विषयक अध्यायों के सन्निवेश का काल निश्चित किया है ।[120] श्लोक संख्या

57 तथा उसके बाद के श्लोकों में श्वेतकल्प का उल्लेख है । हाज़रा ने अपनी समीक्षा में इस तथ्य पर बल दिया है कि वायु पुराण में वराह कल्प पर अधिक प्रकाश डाला गया है जो ब्रह्माण्ड पुराण में भी उपलब्ध है । परन्तु नारदीय पुराण में श्वेतकल्प का निरूपण वायु पुराण के विशिष्टताबोधक स्थल के रूप वर्णित है । ऐसी स्थिति में श्वेतकल्प-निरूपण को वायु पुराण के उत्तरकालीन स्तर पर संयुक्त मान सकते हैं जो नारदीय पुराण की रचना से पूर्व वायु पुराण की विशेषता के रूप में प्रचलित हो चुका था । नारदीय पुराण के रचना काल के विषय में यदि हाज़रा द्वारा प्रस्तावित तिथि को माना जाये तो वायु पुराण के मौलिक पाठ में इस अध्याय को सातवीं तथा नवीं शताब्दी के मध्य में अन्तर्निविष्ट माना जा सकता है ।

अध्याय 24 में निरूपित श्लोकों के वर्ण्य-विषय का परीक्षण करने पर इन्हें उत्तरकालीन स्तर पर संयुक्त कहा जा सकता है । श्लोक संख्या 73-76 तक प्रस्तुत अध्याय में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं वायु के द्वारा अण्डभेद पर प्रकाश डाला गया है । यहाँ उल्लेखनीय है कि आलोचित पुराण के अध्याय 3 के 59वें श्लोक में इन्हीं तथ्यों का वर्णन है । अतएव दोनों में से मौलिकता की दृष्टि से किसे असंदिग्ध माना जाये, यह विचार्य है । सम्भवतः अध्याय 3 को मूल वायु पुराण का अंशभूत मानना युक्तिपूर्ण होगा क्योंकि ब्रह्माण्ड पुराण ।1/5। में भी यह विवरण उपलब्ध है । दोनों पुराणों में अण्डभेद की क्रिया का सम्बन्ध वायु के स्थान पर त्वष्टा से स्थापित किया गया है ।[121] श्लोक संख्या 117 में शिव को अहिंसा तत्त्व से युक्त कहा गया है जिसके आधार पर प्रस्तुत अध्याय का काल 5वीं श०ई० के उपरान्त रखा जा सकता है जबकि बौद्ध धर्म के प्रभाव से पुराण संकलनकर्ताओं ने मनोनुकूल विचारों का प्रतिपादन पुराण ग्रन्थों में किया । श्लोक संख्या 163 में शिव को महिमान्वित करते हुए पक्ष-प्रकल्पित कहा गया है ।[122] इससे आभासित होता है कि शिव को सर्वोपरि स्थान प्रदानार्थ ही ऐसा वर्णित है अन्यथा पौराणिक विचारधारा इसके विपरीत है तथा स्वयं वायु पुराण के वर्णन

भी परस्पर विरोधी हैं । वायु पुराण 21/1, ब्रह्माण्ड पुराण 2/13/72 तथा मत्स्य पुराण 13/14 के वर्णनों से पौराणिक परम्परा सुस्पष्ट हो जाती है जहाँ शिव को यज्ञ में आमन्त्रित करने का निषेध किया गया है । निष्कर्ष स्वरूप इसके उत्तरकालीन संयोजन की सम्भावना प्रबल हो जाती है क्योंकि यदि प्रस्तुत अध्याय के संकलनकर्ता को वायु पुराण के विवरण तथा वर्णन-क्रम का ज्ञान होता तो इस विरोधात्मक वर्णन का समावेश नहीं किया होता । यह भी हो सकता है कि दो पृथक कालों में भिन्न संकलनकर्ताओं ने इस अध्याय को प्रणीत किया हो।

अध्याय 25 के श्लोकों में अभिव्यंजित साम्प्रदायिक आग्रह इसकी उत्तर कालीनता की संपुष्टि करती है । मधु और कैटभ की उत्पत्ति एवं विनाश से सम्बन्धित इस पौराणिक आख्यान को शिव और विष्णु में समन्वय स्थापित करके वायु पुराण के मूल पाठ में संसृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । शिव के संस्तवन के लिये विष्णु के द्वारा मधु और कैटभ का संहार भी उन्हीं की अनुकम्पा से घोषित है । इसके अतिरिक्त श्लोक संख्या 6 में विष्णु के सन्दर्भ में कृष्ण शब्द का प्रयोग पौराणिक संरचना की उस अवस्था का द्योतक है जब अवतारवाद की कल्पना निष्पन्न हो चुकी थी । हाज़रा के मतानुसार पौराणिक-लेखन प्रक्रिया के आरम्भिक काल में श्रीकृष्ण को विष्णु का अल्पांश अवतार ही माना गया था परन्तु कालान्तर में उन्हें विष्णु के पूर्णावतार अथवा स्वयं विष्णु के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया । अतएव इस अध्याय को भागवत का सम-सामयिक अथवा इसके बाद का मानना ही समीचीन है ।[123]

अध्याय 26 के वर्ण्य-विषय का सम्बन्ध सृष्टिकरण तथा देवोपासना को गौरव-मण्डित करने से है । यदि परम्परागत पुराणस्थ विषयों का अवलोकन किया जाये तो सृष्टि निरूपण की प्राचीनता निःसन्देह प्रामाणिक है । प्रस्तुत अध्याय के प्रथम चार श्लोकों में सूत द्वारा शिव के अवतारों को प्रकाशित करने के लिये प्रश्न किया गया है जो निरर्थक प्रतीत होता है क्योंकि अध्याय 23 में इसका

विस्तार वर्णन उपलब्ध है । पृच्छना के उपरान्त शिव के अवतारों का उल्लेख न करते हुए वायु के द्वारा सृष्टितत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय के केवल प्रथम चार श्लोकों के अतिरिक्त ब्रह्मा के सृष्टिकरण और उसके फलस्वरूप स्वरोत्पत्ति का प्रसंग ही विस्तारसहित निरूपित है । यहाँ नाना वर्णात्मक चौदह स्वर अत्यन्त सुन्दर रूप से विशब्दित है जो पुराणकारों की प्राथमिक वर्णनशैली से सर्वथा भिन्न होने के साथ ही व्याकरण से सम्बन्धित लगते हैं । वर्णन-क्रम में व्यवधान और विषय-वस्तु का पारस्परिक पृथकत्व उत्तर-कालीन संकलनकर्ताओं द्वारा प्रदत्त माना जा सकता है ।

अध्याय 32 में शिवोपासक संकलनकर्ता की अभिरुचि का ज्वलन्त प्रमाण 21वाँ श्लोक है जिसमें कृतयुग में ब्रह्मा, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में विष्णु की उपासना का विधान घोषित करते हुए शिव को सार्वयुगीन तथा सार्वकालिक पूजित होने वाला कहा गया है । इस स्थल पर युग-धर्म वर्णन के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि तथा इन्द्र की तुलना में शिव की सर्वोच्चता प्रकाशित करते हुए श्लोक संख्या 2 से 4 तक उनका ही गौरव-गान किया गया है । श्लोक संख्या 16 में शिव से ही यज्ञ का प्रवर्तन माना गया है जो पौराणिक परम्परा के नैरंतर्य में व्यतिक्रम का सूचक है । अतएव देव-समन्वयवाद के पौराणिक दृष्टिकोण के विपरीत यहाँ उपलब्ध साम्प्रदायिक भावना उत्तरकालीन संयोजन का परिणाम है ।

अध्याय 34 में भुवन-विन्यास निरूपण में विभिन्न द्वीपों एवं पर्वतों का लालित्यपूर्ण शैली में उल्लेख करते हुए श्लोक संख्या 36 से 45 तक प्रासंगिक प्रतिकूलता के फलस्वरूप शैवपरक विचारों का सन्निवेश कर दिया गया है । माल्यवान् तथा गन्धमादन पर्वत की विशेषताओं को उद्घाटित करने के पश्चात् श्लोक संख्या 36 की पंक्तियों के पूर्वार्ध में मेरु पर्वत-वर्णन आरम्भ करके क्रम-भंग कर दिया गया है । अनुवर्ती श्लोकों में श्लोक संख्या 45 तक महेश्वर को सृष्टि का कारणभूत बता कर पर्वत व नदियों के साथ सम्पूर्ण सनातन जगत उन्हीं के द्वारा रचित कहा

गया है । श्लोक संख्या 46 में मेरु पर्वत की वर्णन-श्रृंखला पुनः विस्तारित है । ध्यातव्य है कि ब्रह्माण्ड पुराण में मेरु पर्वत का वर्णन वायु पुराण के समान ही है किन्तु प्रस्तुत अध्याय में अन्तर्भुक्त श्लोकों का ब्रह्माण्ड पुराण में तिरोभाव उनकी मौलिकता को संदिग्ध कर देता है । शिव को प्रदत्त महादेव, जगत-ज्येष्ठ, महेश्वर, महायोगी आदि अभिधानों के अतिरिक्त उन्हें प्रजापति-पति, ब्रह्मा, ईशान आदि नामों से सम्बोधित किया गया है । यहीं पर शिव द्वारा संपादित समस्त कार्यों को "वैष्णव" संज्ञा दी गई है । 'वैष्णव' शब्द इस स्थल पर व्यापनशीलता के लिये प्रयुक्त है । पौराणिक परम्परा में अधिकांशतः 'वैष्णव' का प्रयोग विष्णु के सन्दर्भ में ही मिलता है किन्तु यहाँ उसका शैव-मतांतरित होना असंगति का परिचायक है । निष्कर्ष रूपेण प्रस्तावित किया जा सकता है कि साम्प्रदायिक आग्रह से प्रेरित संकलनकर्ता ने उत्तरकालीन स्तर पर इन श्लोकों को संयुक्त किया ।

अध्याय 40-49 तक भुवनकोश का विस्तारण ही उपलब्ध है । इनमें से अध्याय 45, 46, 47 तथा 49 में उल्लिखित विवरण ब्रह्माण्ड पुराण के सत्सम अध्यायों में भी मिलते हैं । भौगोलिक वर्णन से सम्बन्धित प्रस्तुत अध्यायों में कहीं कहीं विषयांतर दृष्टिगोचर होता है जहाँ शैवोपासना को प्रधानता दी गई है । अध्याय 40 के देवकूट पर्वत-वर्णन में सिद्ध, ऋषि, गन्धर्व तथा नागेन्द्र-गण को शिव का उपासक बताते हुए कल्याणकारी शिव को महादेव का अभिधान दिया गया है । अध्याय 42 के 39वें श्लोक में पुनः शिव को 'महादेव' कहकर सम्बोधित किया गया है और करंज पर्वत पर निवास करने वाला बताया गया है । श्लोक संख्या 37 में गंगा पापविनाशिनी और धीमान् शंकर के अंग-स्पर्श से द्विगुणित पवित्र [illegible] रूप में वर्णित है । यह उल्लेखनीय है कि अध्याय 47 में गंगा की पवित्रता का वर्णन है जो ब्रह्माण्ड पुराण 2/19 में भी उपलब्ध है । अतएव श्लोक संख्या 37 को कालान्तर में जोड़ा गया मानना ही उपयुक्त है । अध्याय 43 के 38वें श्लोक के अनुसार भद्राश्व के निवासी देव-देव शंकर और गौरी का आराधन यज्ञ एवं अर्चना द्वारा करते हैं । शंकर और यज्ञ का उल्लेख पौराणिक परम्परा के

प्रतिकूल है जिसका निर्देश पहले दिया जा चुका है। गौरी के सन्दर्भ में 'परम-वैष्णवी' शब्द साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के आधार पर परिवर्तित है जिसे उत्तरकालीनता का प्रमाण मान सकते हैं।

आलोचित पुराण के अध्याय 49 में निहित कतिपय श्लोक उत्तरकालीन संश्लेषण का परिणाम है। इनमें संकलनकर्ता के द्वारा मौलिक शब्द-योजना को यथोचित विस्तार दिया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में प्लक्ष द्वीप के निवासियों को प्लक्ष-वृक्ष की उपासना करने वाला कहा गया है।[124] वायु पुराण के एतत्सम स्थल पर पूज्य देवता के रूप में शिव का नामोल्लेख है।[125] ब्रह्माण्ड पुराण में दैवी शक्ति को अनन्तदेव का सम्बोधन दिया गया है जबकि श्लोक संख्या 160 के समरूप प्रसंग में अनंत शब्द के स्थान पर "शिव" प्रयुक्त है।[126] दोनों श्लोकों की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित श्लोक मूल वायुप्रोक्त पुराण का अंशभूत था जिसमें व्याकरण की दृष्टि से 'समसोते' पाठ अशुद्ध था। वायु पुराण के संकलनकर्त्ता ने इस पाठ का मार्जन 'समसोऽन्ते' में करके अपनी शैव-परक मनोवृत्ति की अभिव्यंजनार्थ अनंतस्य देवस्य को सतस्तस्य शिवस्य पाठ में परिवर्तित कर दिया। संकलनकर्ता के शैवात्मक विचारों का विशद प्रभाव श्लोक संख्या 93 के अन्तर्गत शाकद्वीप की नदियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'शिवोदका' शब्द से समर्थित किया जा सकता है। स्मरणीय है कि ब्रह्माण्ड पुराण में भी शाकद्वीप की नदियों के लिये 'शीततोयवहा' शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है।[127] इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्णन वायु पुराण के समान ही है। शाकद्वीप की प्रमुख एवं गौण नदियों की चर्चा करते हुए दोनों पुराणों में सात प्रमुख नदियों के नाम प्रकाशित किये गये हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित संख्या के अनुसार सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, वेणुका, इक्षु, रेणुका, गभस्ति ये सात प्रमुख नदियाँ हैं परन्तु वायु पुराण में प्रमुख नदियों के चौदह नाम सुकुमारी, गंगा, शिवकान्ता, अनुतप्ता, कुमारी, सिद्धा, सती, नन्दा, पार्वती, शिवेतिका, त्रिदिवा, इक्षु, क्रतु, धेनुका निरूपित हैं। विष्णु पुराण और शिव पुराण में उपलब्ध सात विशिष्ट नदियों के नामों के आधार पर सात नदियाँ ही पौराणिकों

द्वारा मान्य प्रतीत होती हैं ।[128] इसके अतिरिक्त वायु पुराण में अन्य पौराणिक वर्णन के अनुरूप संख्या निर्धारण सात का ही किया गया है परन्तु इसके प्रतिकूल अनुवर्ती विवरण में चौदह नदियों का नामोल्लेख है । यह स्थिति उत्तरकालीन संयोजन को पुष्ट कर देती है जहाँ संकलनकर्ता ने शिवकला, सती, नन्दा, पार्वती, शिवेतिका आदि नामों के द्वारा अपनी शिवभक्ति को अभिव्यक्त किया है । सम्भवतः वायु पुराण के मूल पाठ में सात नदियाँ ही वर्णित रही होंगी क्योंकि ब्रह्माण्ड पुराण यही संख्या उपलब्ध है ।

उक्त विवेचन के आलोक में प्रस्तावित किया जा सकता है वायु पुराण के उपलब्ध संस्करण को 'प्राचीन' संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा अनुचित है, यद्यपि वायु पुराण का मौलिक स्वरूप साम्प्रदायिकता विहीन था जबकि अवान्तरकालीन प्रतिसंस्करण में यह प्रवृत्ति पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त होती है । इसकी प्राचीनता भी सर्वमान्य थी और पुराणों की पंचलक्षणभूत विशेषता का इसमें सन्निधान था । इसे प्रामाणिक घोषित करने के लिये वायुप्रोक्त पुराण अथवा पवमानप्रोक्त पुराण के नाम से सम्बोधित किया जाता था । मूल वायुप्रोक्त पुराण के कलेवर में शैवात्मक तथा वैष्णवात्मक धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधित्वार्थ चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के लगभग इसका पृथक्करण दो शाखाओं में कर दिया गया ।[129] परन्तु यदि इस तिथि को विश्वसनीय माना जाये तब बाणभट्ट के द्वारा परिचित पुराण का विशिष्ट नाम अवश्य दिया गया होता न कि पवमानप्रोक्तं पुराणं अथवा वायुप्रलपितं पुराणं जैसे शब्द प्रयुक्त किये गये होते जिनसे एक ही वायुप्रोक्त पुराण ध्वनित होता है । अतएव ऐसी सम्भावना भी निराधार नहीं है कि वायुपुराण और ब्रह्माण्ड पुराण का मूल वायुप्रोक्त पुराण से पृथक्करण सातवीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् हुआ । यदि इस तिथि को स्वीकार करें तो निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि मध्यकालीन निबन्धकारों के युग तक वायु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किये जा चुके थे जिनमें अध्याय-संयोजन तथा श्लोक-संयोजन के द्वारा संकलनकर्त्ताओं ने मनोनुकूल परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर दिया था।

मूल वायुप्रोक्त पुराण के किसी भी अध्याय अथवा प्रसंग में वर्णन-क्रम की अवहेलना करते हुए संकलनकर्ताओं ने धर्मपरक विचारों का समावेश कर दिया । शैवात्मक परम्परा के समर्थकों ने इसे प्राचीन परिश्रुत नामानुसार वायु पुराण ही अभिधान दिया जबकि वैष्णवात्मक धर्मानुयायियों ने इसे ब्रह्माण्ड पुराण के रूप में मान्यता प्रदान की । यही कारण है कि दोनों पुराणों के पृथक अध्याय, परिशिष्टों में वायुप्रोक्त होने की घोषणा की गई है ।

सन्दर्भ सूची

1. प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, वाल्यूम 3.

2. पुराण-पत्रिका - वाल्यूम 1.

3. जर्नल आफ बी0एन0 झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, वाल्यूम 7, 1949.

4. इस सन्दर्भ के लिये द्रष्टव्य -

   आर0एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ एंशेन्ट इण्डिया;

   के0पी0 जायसवाल, जर्नल आफ बिहार, ओरीसा रिसर्च सोसायटी 1924, वाल्यूम 10, भाग 3, पृष्ट 205-207.

   आर0 मार्टन स्मिथ, डेटस एण्ड डायनेस्टीज इन अंशियेंट इण्डिया, पृष्ठ 370.

5. द्रष्टव्य, राय, हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन दि पुराणाज, पृष्ठ 170.

6. इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, जनवरी 1976, वाल्यूम 2, न0 2, पृष्ठ 263.

7. एंशेन्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, पृष्ठ 16-17.

8. पुराण-पत्रिका, वाल्यूम 2, अंक 3 जुलाई 1969, पृष्ठ 253-287.

9. जर्नल आफ बिहार ओरीसा सोसायटी, वाल्यूम 1, भाग 13.

10. पुराण-पत्रिका, भाग 3, पृष्ठ 215-222.

11. आर0जी0 भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सेक्ट्स, पूना, 1928.

12. इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, 10, पृष्ठ 37-130.

13. भारत कौमुदी, 1, पृष्ठ 61-68.

14. एच0सी0 रायचौधरी, मैटीरियल्स फॉर दि स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव सेक्ट,

15. सागर यूनिवर्सिटी जर्नल, 6, पृष्ठ 81-85.

16. गोपीनाथ राव, ऐलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, वाल्यूम 1, भाग 2, पृष्ठ 56.

17. इस विषय पर अन्य विद्वानों ने भी शोध किये हैं -

जितेन्द्रनाथ बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृष्ठ 455.

नलिन माधव चौधरी, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग 24, 1948, पृष्ठ 269.

यदुवंशी, शैव मत, पृष्ठ 133.

सि0ना0 राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ 388-394.

18. राय, "अर्ली पुराणिक अकाउन्ट ऑफ सन एण्ड सोलर कल्ट", द्रष्टव्य जर्नल ऑफ इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, 1963, पृष्ठ 39-59.

19. विष्णु पुराण, 3/4; वायु पुराण 96/22.

20. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, जर्नल ऑफ इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, 1963, पृष्ठ 39-59.

21. यद्धि ह व अप्यमद् भ्रातृव्येन प्रतिक्रमणाय, शतपथ ब्राह्मण, 4/4/5/5.

22. आर0सी0 हाज़रा, स्टडीज़ इन दि पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृष्ठ 5-8.

23. ओरियन्टल हेरिटेज, 4, पृष्ठ 67-88.

24. एस0एन0 दासगुप्त, इण्डियन फिलासफी, भाग 3.

25. बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 502-503.

26. वी0आर0आर0 दीक्षितार, पालिटी इन दि पुराणाज ।

27. जगदीश लाल शास्त्री, पालिटिकल थॉट इन दि पुराणाज ।

28. बलदेव उपाध्याय, वही, पृष्ठ 307.

29. बंश बहादुर मिश्र, पालिटी इन दि अग्निपुराण, पृष्ठ 304.

30. तारापद भट्टाचार्य, कैनन्स आँफ इण्डियन आर्कीटेक्चर, 1947.

31. पी0के0 गोडे, कामोमेरशन वाल्यूम 3, पृष्ठ 194–198.

32. पी0के0 गोडे, कामोमेरशन वाल्यूम 2, पृष्ठ 1–18.

33. मुन्शी इन्डोलाजिकल फेमिलिटेशन वाल्यूम, पृष्ठ 232.

34. बी0बी0 लाल "एक्सकेवेशन्स रेट हस्तिनापुर", एंशेन्ट इण्डिया, 10–11, 1954–55।.

35. प्रोसीडिंग्स आँफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 22, पृष्ठांक, 28–32.

36. पुराण पत्रिका, 6, पृष्ठ 307–332.

37. सुब्बाराव, पर्सनाल्टी आँफ इण्डिया, परिशिष्ट 1, आर्क्योलाजी एण्ड ट्रेडीशन ।

38. सांकलिया, प्री हिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री आँफ इण्डियाएण्ड पाकिस्तान

39. हिस्टोरियन्स आँफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृष्ठ 291.

40. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः । विष्णु पु0 3/6/15;
वायु पुराण, 60/21; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/34/31.

41. बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 70.

42. जर्नल आॅफ दि बाम्बे ब्रान्च आॅफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी,
[illegible] नं0 , पृष्ठ 67-77.

43. पार्जीटर, एंशेन्ट हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ 22-23.

44. ए0डी0 पुसाल्कर, स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज, भूमिका, पृष्ठ 52.

45. हाजरा, वही, पृष्ठ 5.

46. यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते । वायु पुराण 1/203.

47. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 1/1/173.

48. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् । पद्म पुराण, 5/2/53.

49. निरुक्त, 3/19.

50. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 3.

51. राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृष्ठ 22.

52. राय, वही, पृष्ठ 23.

53. पार्जीटर, वही, पृष्ठ 19-20.

54. जर्नल आॅफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड [illegible],
1941, पृष्ठ 1027.

55. पार्जीटर, डाइनेस्टीज आॅफ दि कलि एज, पृष्ठ 77-83.

56. जर्नल आॅफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, 19[illegible],
पृष्ठ 1027-1028.

57. जे0डी0एम0डी0, 48; पृष्ठ 407;
पुसाल्कर द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ 28.

58. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, पाणिनि, 1/1/16.

59. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 582.

60. गायत्री वा इयं पृथिवी, शतपथ ब्राह्मण, 4/3/4/9.
वैराजो वै पुरुषः, ताण्ड्य ब्राह्मण, 2/7/8.
अष्टाक्षरा गायत्री, ऐतरेय ब्राह्मण, 6/20 तथा
दशाक्षरो विराट्, तैत्तिरीय संहिता, 1/1/5/3.

61. अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म, मुण्डकोपनिषद् ।
द्रष्टव्य पं गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पुराण परिशीलन, पृष्ठ 26.

62. मधुसूदन ओझा, पुराणोत्पत्ति-प्रसंग, पृष्ठ 5-10.

63. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम 1,
पृष्ठ 521-522;
हाजरा, वही, पृष्ठ 2;
पुसाल्कर, वही, पृष्ठ 52.

64. राय, वही, पृष्ठ 48-49.

65. हाजरा, वही, पृष्ठ 3.

66. ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य ---- ।
'तस्मात् प्रमाणतः प्रतिषेधः'
न्यायसूत्र 4/1/62 पर वात्स्यायनभाष्य ।
द्रष्टव्य उपाध्याय, वही, पृष्ठ 220.

67. स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः कलौ ।
तन्त्रवार्त्तिक, 1/3/7 के आधार पर ।

68. उपाध्याय द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ 27.

69. विष्णु पुराण, 3/17-18;
मत्स्य पुराण, अध्याय 24.

70. तथा स्वर्ग शब्देनापि ------------ पौराणिक याज्ञिक
...निनोच्यते --- यदि वेतिहासपुराणात्पन्नं मेरुपृष्ठम् ---।
तन्त्रवार्तिक, जैमिनी सूत्र, 1/3/30.
द्रष्टव्य उपाध्याय, वही, पृष्ठ 27.

71. मत्स्य पुराण, 11/37-38;
पद्म पुराण, पाताल खण्ड, 8/72-73.

72. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 27.

73. राय, वही, पृष्ठ 36.

74. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम 1, पृष्ठ 527.

75. हाज़रा, वही, पृष्ठ 20.

76. पुराणे वातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति ।
वेदान्त सूत्र, 2/1/36 पर शंकरभाष्य की अन्तिम पंक्ति ।
ब्रह्माण्ड पुराण, 1/4/30-32.

77. अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणं ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदन्ति भूयः।
वायुपुराण, 1/185, उपाध्याय द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ 30.

78. ब्रह्माण्ड पुराण, 1/1/74.

79. राय, वही, पृष्ठ 38.

80. मनुस्मृति, 2/24; 3/124 आदि के आधार पर ।

81. हाज़रा, वही, पृष्ठ 6.

82. हारीत संहिता, 4/70.

83. हाज़रा, वही, पृष्ठ 6.

84. राय, वही, पृष्ठ 39.

85. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/289 के आधार पर विज्ञानेश्वर ।

86. हाज़रा, वही, पृष्ठ 6.

87. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/7 के आधार पर अपरार्क;
दृष्टव्य, जे0डी0एम0 डेरेट, पुराणाज़ इन व्यवहार पोर्शन;
पुराण पत्रिका, वाल्यूम 5, अंक 1, पृष्ठ 13.

88. प्रस्तुत समस्या के सन्दर्भ में दृष्टव्य, काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र,
वाल्यूम 3, पृष्ठ 73; डेरेट, वही, पृष्ठ 13.

89. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 32.
राय, वही, पृष्ठ 41-42.

90. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 32; कूर्म पुराण, 1/4/6/16;
विष्णु पुराण, 1/2/29-30; अग्नि पुराण, 17/1-7.

91. विशेष विवरण के लिये दृष्टव्य,
हाज़रा, पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृष्ठ 13;
दीक्षितार, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ वायु पुराण, पृष्ठ 49;
पुसाल्कर, स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज़, पृष्ठ 39.

92. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ 521.

93. उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 100;
पुसाल्कर, वही, पृष्ठ 89.

94. द्रष्टव्य, नित्याचार प्रदीप, पृष्ठ 19;
भागवत, 12/13/4 पर श्रीधर स्वामी की टीका तथा
वीरमित्रोदय: परिभाषा-प्रकाश, पृष्ठ 13.
इनकी समीक्षा हाज़रा महोदय के द्वारा की गई है, वही, पृष्ठ 13.

95. दीक्षितार, वही, पृष्ठ 47.

96. हाप्किंस, दि ग्रेट एपिक, पृष्ठ 40;
विन्टरनित्स, वही, पृष्ठ 533;
हाज़रा, वही, पृष्ठ 13.

97. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 34.

98. हर्षचरित, तृतीय परिच्छेद, चतुर्थ अनु0;
द्रष्टव्य, उपाध्याय, पृष्ठ 35.

99. एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा ।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम् ।
वनपर्व, अध्याय 191, श्लोक 16.

100. राय, पृष्ठ 55.

101. दीक्षितार, वही, पृष्ठ 46.

102. हाज़रा, वही, पृष्ठ 15.

103. राय, वही, पृष्ठ 57.

104. बिब्लियोथेका इण्डिका में उपलब्ध, द्रष्टव्य, पाटिल, डी0आर0
कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 4.

105. उपाध्याय, वही, पृष्ठ 99.

106. हाज़रा, वही, पृष्ठ 14.

107. द्रष्टव्य, उपाध्याय, वही, पृष्ठ 100.

108. इंगलिंग, कैटलाग आॅफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आॅफ दि इण्डिया आफिस, भाग 4; क्रम संख्या 3587, 3588, 3589 एवं 3595; द्रष्टव्य, पुसाल्कर, वही, पृष्ठ 32.

109. जे०बी०बी०आर०ए०एस०, 15, पृष्ठ 189;
विशेष समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, पुसाल्कर, वही, पृष्ठ 36.

110. एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते ।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः ।
श्रीधर स्वामी द्वारा उद्धृत ।

भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत ।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्। वायु पुराण, 2/8.

गच्छतस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्विशीर्यते ।
पुण्यः स देशो मन्तव्यः प्रत्युवाच तदा प्रभुः ।
ब्रह्माण्ड पुराण, 1/1/158.

111. नारदीय पुराण, 1/95/1-16;
इस अंश की समीक्षा के लिये द्रष्टव्य,
हाजरा, वही, पृष्ठ 14;
पुसाल्कर, वही, पृष्ठ 33-34.

112. श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
मत्स्यपुराण, 53/18.

113. हाजरा, वही, पृष्ठ 13.

114. अस्ता यि बनो दिव्यो गयेन । ऋग्वेद, 10/63/17.
दिव्यो दिविभवो बनो देवगणो गयेनैतन्नाम्नेन मयास्ता यि अभिष्टुतोऽभूत् । सायण-भाष्य ।

115. दासस्य ---------- माया । ऋग्वेद, 7/99/4.
यातुधानस्य ------ मायया । वही, 7/105/24.

116. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, चतुर्थ भाग, पृष्ठ 645.

117. अनुगगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः। वायु पुराण, 99/383.

118. हाजरा, वही, पृष्ठ 15-17.

119. राय, वही, पृष्ठ 64.

120. प्राणायामपरायुक्ता ब्रह्मणिष्व्यवसायिनः ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्रजन्ति च ।

ते सर्वे पापनिर्मुक्ता विमला ब्रह्मवर्चसः।
रुद्रलोकं गमिष्यन्ति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ।

वायु पुराण, 22/19, 35.

121. हाजरा, वही, पृष्ठ 159.

122. वायु पुराण, 22/27;
ब्रह्माण्ड पुराण, 3/59/28.

123. वेदानामध्यः कोशलस्त्वया यज्ञः प्रकल्पितः । वायु पुराण, 24/163.

124. हाजरा, वही, पृष्ठ 22.

125. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/19/29.

126. तत्र पूज्यते स्थाणुर्मध्ये जनपदस्य हि । वायु पुराण, 49/27.
स्थाणु शिव का पर्यायवाची है, द्रष्टव्य, अमरकोश, 1/1/30.

127. तमसो ति विद्यातमाकाशाति ह्यभास्वरम् ।
मर्यादायामंतस्य देवस्यायतनं महत् । ब्रह्माण्ड पुराण, 2/19/168.
तमसो न्तो विद्यातमाकाशाति च भास्वरम् ।
मर्यादायामंतस्य शिवस्यायतनं महत् । वायु पुराण, 49/160.

128. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/19/97.

129. विष्णु पुराण, 2/4/65;
शिव पुराण, उ०सं०, 18/55.

130. हाजरा, वही, पृष्ठ 18.

--------::0::--------

प्रथम खण्ड

सामाजिक गठन

पौराणिक वर्ण व्यवस्था का स्वरूप एवं विभिन्न जातियाँ

वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज के आधार स्तम्भों में एक मानी जाती है । इसकी प्राचीनता विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित भी हो चुकी है जिनमें पुराणों का भी महत्वपूर्ण स्थान है । आलोचित पुराण में वर्णों की सृष्टि के सम्बन्ध में दो मत प्रतिपादित किये गये हैं ।[1] एक तो सर्वमान्य ब्रह्मोद्भूत मत जिसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं ।[2] दूसरा कल्पित उत्पत्ति सूचक मत जिसमें दक्ष के द्वारा शिव की स्तुति करते हुए दक्ष ने उन्हें वर्ण व्यवस्था का स्त्रोत कहकर सम्बोधित किया है ।[3] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रथम मत वैदिक परम्परा के निर्वाह का परिचायक है तथा अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी इसका समर्थन होता है । ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में चातुर्वर्ण्य का दैवी उद्भव मानते हुए मूल पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरण से शूद्र की उत्पत्ति बताई गई है ।[4] वैदिक वाङ्मय में अन्य स्थलों पर भी इसी मान्यता का परिपोषण किया गया है । अथर्ववेद, [illegible] व शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इसके प्रमाण स्वरूप उल्लेख उपलब्ध है ।[5] मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में चातुर्वर्ण्य के दैवी सृजन का स्पष्टतः वर्णन किया गया है । मत्स्य पुराण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भगवान् वामदेव के मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं ।[6] विष्णु पुराण में भी विष्णु के सत्तम अंगों से चारों वर्णों का उद्भव बताया गया है ।[7] पुराणों के अतिरिक्त वेदो[illegible] साहित्य में स्मृतियाँ भी विशेष महत्व रखती हैं । मनुस्मृति का कथन है कि ब्रह्मा ने लोक वृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को अपने मुख, बाहु, जंघा और चरण से उत्पन्न किया ।[8] निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि पौराणिक संरचना के काल में समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी ।

आलोचित पुराण में वर्णों के विषय में जो प्रसंग मिलते हैं उनसे भी तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की प्रशंसा के दृष्टिकोण से आलोचित पुराण का एक प्रसंग उल्लेखनीय है जहाँ पर रुद्र दक्ष से कहते हैं कि देवों के बीच भी चतुर्वर्ण व्यवस्था है, पर वे सभी एक साथ ही बैठकर खान पान कर लिया करते हैं ।[9] ब्रह्माण्ड पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से संयुक्त सृष्टि की व्यवस्था को शाश्वत घोषित किया गया है ।[10] विष्णु पुराण के अनुसार जम्बुद्वीप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र व्यवस्थित होकर निवास करते हैं ।[11] आलोचित पुराण के एक अन्य स्थल पर शाक-द्वीप की प्रशंसा करते हुए वर्णित है कि यहाँ पर चारों वर्णों के लोग बसे हुए हैं । सभी वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले हैं । न कोई वहाँ वर्णसंकर है ।[12]

वर्ण व्यवस्था का आदि कारण

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि गुप्त रूप से पापाचरण करने वाले मनुष्य पृथ्वी पर वशीभूत नहीं हो सके अतः उनको वश में करने के लिये धर्म की मर्यादा के स्थापनार्थ वर्णों का विभाग, तपोमय मन्त्र एवं संहिताओं का ऋषियों और ब्राह्मणों ने प्रचार किया ।[13] यहीं पर प्रसंगान्तर में उल्लिखित है कि ब्राह्मणों के जप को, क्षत्रियों के युद्ध और उद्योग को, वैश्य के हवन और परिचर्या को तथा शूद्रों के तीनों श्रेष्ठ वर्णों की सेवा को, यज्ञतम माना गया ।[14] यहाँ पर धर्माचरण को वर्ण व्यवस्था की स्थापना का प्रधान कारण माना गया है । विष्णु पुराण में भी चातुर्वर्ण्य के उद्भव का उद्देश्य यज्ञ निष्पादन माना गया है ।[15] मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी का समर्थन प्राप्त होता है ।[16]

प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर कहा गया है कि प्रत्येक युग में अवसान के समय समाज में अव्यवस्था आ जाती है ।[17] युगों के स्वभाव के क्रम से धर्म, पूजा तथा वेदों के वाक्य समूह अपने विविध अंगों सहित विकार को प्राप्त हो जाते हैं । अतएव सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से वर्णों का विभाजन किया जाता है । त्रेतायुग के सन्दर्भ में वर्णित है कि इस युग में वर्णाश्रम धर्म के विभाग की व्यवस्था सम्पन्न होती है,

मर्यादा के स्थापनार्थ उसमें दण्ड की व्यवस्था भी की जाती है ।[18] सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ही वर्णन मिलता है कि त्रेतायुग में धर्म से रक्षित ब्रह्मणादि चारों वर्णों के व्यक्ति आनन्दमय रहते थे । वे सर्वदा सत्कर्मपरायण, सन्तानयुक्त, समृद्ध तथा सुखी रहते थे । क्षत्रिय ब्राह्मणों की आज्ञा का पालन एवं उनकी सेवा शुश्रूषा में तत्पर रहते थे, इसी प्रकार वैश्य लोग क्षत्रियों की तथा शूद्र लोक वैश्यों की आज्ञा का पालन करते थे अर्थात् सभी एक दूसरे की सुख सुविधा का ध्यान रखते थे । सभी वर्णों के लोगों की कल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्ति रहती थी ।[19] अतः सामाजिक क्रम को नियमितता प्रदान करने के लिये वर्ण विभाजन किया गया था जहाँ सभी अपने अपने कर्तव्यों द्वारा एक दूसरे को अनुगृहीत कर सकें । इसी भावना की पुष्टि विष्णु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराण से भी होती है जिसमें वर्ण विभाजन का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्थापन निर्धारित किया गया है ।[20]

धर्माचरण और सामाजिक नियमन के अतिरिक्त आलोचित पुराण में वर्ण विभाजन के मूल में दार्शनिक विचारों को भी समाविष्ट कर लिया गया है । एक स्थल पर वर्णित है कि शुभाशुभ कर्म के गुरुत्व और लघुत्व के अनुसार यथाक्रम से ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और इन तीनों का द्रोहकारी शूद्र, इस प्रकार चतुर्विध प्रजा की उत्पत्ति होती है ।[21] विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्मा की सन्तान सत्त्व गुण युक्त ब्राह्मण हैं, रजोगुण सम्पन्न क्षत्रिय, रज एवं तम से युक्त वैश्य तथा केवल तम से युक्त शूद्र है ।[22]

आलोचित पुराण में वर्णों के अनुसार सामाजिक स्तर का भी निर्धारण किया गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों को द्विजाति के अन्तर्गत माना गया है । एक प्रसंग में स्पष्टतः वर्णित है कि कलियुग के प्राप्त होने पर प्रत्येक जीवों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है, उस समय द्विजाति वर्ग न तो वेदों का अध्ययन करते हैं और न भलीभाँति यज्ञों का अनुष्ठान ही करते हैं । तथा क्षत्रिय वैश्यों सहित सभी लोग नष्ट होने लगते हैं ।[23] विष्णु पुराण में कहा गया है कि शूद्र का कर्म द्विजातियों के आश्रित है ।[24] धर्मशास्त्रों में भी इन्हीं वर्णों को द्विजाति कहा गया है ।[25]

द्विजाति शब्द से इन वर्णों के वेदाध्ययन का अधिकार निरूपित होता है ।[26]

लोक वर्गीकरण

प्रस्तुत पुराण में वर्णों के सम्बन्ध में लोकों का भी वर्गीकरण किया गया है । एक स्थल पर उल्लिखित है कि ब्रह्मा ने चारों वर्णों को कर्म और जीविका देकर उनकी सिद्धि के अनुरूप लोकान्तर में भी स्थानों का निर्देश कर दिया । स्वकर्म निरत ब्राह्मणों के लिये प्राजापत्य लोक, संग्राम में डटे रहने वाले क्षत्रियों के लिये ऐन्द्रलोक, स्वधर्म के लिये निश्चित किये गये कार्यों को सम्पादित करने वाले वैश्यों को मारुत लोक तथा अपने आचरण में निरत शूद्रों के लिये गान्धर्व लोक का निर्धारण किया ।[27] ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराण में भी इसी प्रकार की व्यवस्था का वर्णन किया गया है ।[28]

इस प्रकार विभिन्न लोकों को प्रत्येक वर्ण के लिये निश्चित करने के अतिरिक्त आलोचित पुराण में युगों को भी वर्णों के अनुसार माना गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि सतयुग को ब्राह्मणों का युग कहा गया है, त्रेता क्षत्रियों का युग कहा जाता है, द्वापर वैश्यों का युग है, इसी प्रकार कलियुग शूद्रों का युग कहा गया है ।[29] अन्य पौराणिक स्थलों पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की महत्ता विभिन्न युगों में स्वीकार की गई है ।[30]

कर्तव्य निर्धारण

प्रस्तुत पुराण में वर्णों के कर्तव्य ब्रह्मा द्वारा निश्चित किये जाने का उल्लेख है । इस विषय में कहा गया है कि ब्रह्मा ने प्रजाओं के जीविकोपाय के विवाद संवाद में अधिकांशतः व्यवस्था स्थापित की । उनमें जो बलवान् और भूमिगत थे, उन क्षत्रियों को दूसरों की रक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा । जो उन क्षत्रियों के निकट निर्भय होकर जाते थे, सत्यवादी और सर्वभूतों में ब्रह्मज्ञानवान् थे, वे ब्राह्मण कहलाये । जो उनकी अपेक्षा निम्न क्रूर कर्म करने वाले तथा यम के समान बान-

क्षुब्ध कर पृथ्वी पर प्रजाओं का नाश करते थे, उन्हें कीनाश पद से अभिहित कर वैश्य कहा और उन्हें सर्वसाधारण के वृत्ति साधन कार्य में लगाया गया । जो सोचते हुए शोक करते हुए इधर उधर भ्रमण करते थे और निस्तेज थे, उन्हें शूद्र कहा गया और उन्हें परिचर्या कार्य में संलग्न किया गया । इस प्रकार ब्रह्मा ने उनके धर्म-कर्म का प्रणयन किया ।[31] यहीं पर प्रसंगान्तर में कहा गया है कि प्रभु ब्रह्मा ने यथार्थतः उनके आचरणों का जानकर क्षत्रियों को बल, शासन और युद्ध जीविकोपाय बताया, ब्राह्मणों को याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह रूप तीन कर्म बतलाये, वैश्यों को पशु-पालन, वाणिज्य एवं कृषिकर्म रूप जीविकोपाय दिया तथा शूद्रों के लिये शिल्प व दासत्व की व्यवस्था की । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये यजन, अध्ययन एवं दान की सामान्य रूप से व्यवस्था की ।[32] इस उद्धरण से चारों वर्णों की स्तर-भिन्नता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा, क्षत्रिय वैश्य की अपेक्षा, वैश्य शूद्र की अपेक्षा समाज में श्रेष्ठ माने जाते थे । अन्य पौराणिक स्थलों से भी इसी भावना का समर्थन मिलता है ।[33] वास्तव में उत्तर वैदिक काल में ही समाज में इन वर्ण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया जा चुका था । शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ; इनमें क्रमशः पहले को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है ।[34] धर्मशास्त्र साहित्य में भी यही व्यवस्था प्राप्त होती है । वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एवं दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये आवश्यक कर्तव्य माने गये हैं । वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं । युद्ध करना एवं प्रजा जन की रक्षा करना क्षत्रियों के तथा कृषि कर्म, पशु पालन, व्यापार आदि वैश्यों के विशेषाधिकार हैं ।[35]

अन्य विभिन्न भेद

आलोचित पुराण में उपलब्ध वर्ण विषयक स्थलों में अनेक ऐसे भी हैं जो चातुर्वर्ण्य के पारस्परिक भेदों को और प्रकाशित करते हैं । धार्मिक कृत्यों के आचरण से प्राप्त होने वाले फल का स्वरूप भी वर्णानुसार पृथक पृथक होता है । एक प्रसंग में

वर्णित है कि महादेव के पवित्रतम नीलकण्ठोपाख्यान को सुनने वाला ब्राह्मण वेदाध्यायी हो जाता है, क्षत्रिय को पृथ्वी विजय में सफलता मिलती है, वैश्य को व्यापार में धनलाभ होता है तथा शूद्र को सामान्य सुख की प्राप्ति होती है ।[36] इसी प्रकार का उल्लेख मत्स्य पुराण में तीर्थ यात्रा की फलागम उपादेयता के सन्दर्भ में किया गया है ।[37]

प्रस्तुत पुराण में अन्यत्र वर्णों की विषमता का संकेत मिलता है । जहाँ कहा गया है कि किसी की मृत्यु हो जाने पर ब्राह्मण को दस रात का अशौच लगता है । क्षत्रिय को बारह रात का कहा जाता है । वैश्य पन्द्रह दिनों तक तथा शूद्र एक मास तक शुद्ध होता है ।[38] विष्णु पुराण में भी एतत्सम निर्देश का प्रतिपादन मिलता है ।[39] धर्मशास्त्रों में भी सभी वर्णों के लिये यही अवधि निरूपित की गई है । गौतम धर्मसूत्र और मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिये क्रमशः दस, बारह, पन्द्रह एवं तीस दिनों की अशुद्धि का नियमन किया गया है ।[40]

जाति परिवर्तन

वर्णों के सम्बन्ध में जटिल एवं कठोर विधानों के साथ ही प्रस्तुत पुराण में ऐसे भी प्रसंग उपलब्ध हैं जो जाति विशेष के परिवर्तन के सूचक हैं । एक स्थल पर वर्णित है कि अपनी परम कठोर तपस्या के बल पर शूद्र से उत्पन्न ऐश्वर्यशाली कक्षीवान् ने दीर्घ काल के पश्चात् सिद्धि प्राप्त की और अपने सभी पापों को नष्टकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया ।[41] अन्यत्र उन ब्राह्मणों का उल्लेख भी मिलता है जिन्होंने क्षात्र धर्म को स्वीकार किया था ।[42] विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि नृप दुरक्षय के पुत्र ने बाद में विप्रत्व को अंगीकार कर लिया था ।[43] आलोचित पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि महाराज बलि के वंशज क्षत्रिय भी कहे जाते हैं और ब्राह्मण भी कहे जाते हैं ।[44] इसी प्रकार के विवरण ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होते हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार गोवध के कारण नृप पुत्र पृषध्र शूद्रता को प्राप्त हुआ था ।[45]

इन विभिन्न उदाहरणों से जाति प्रथा की शिथिलता का भी ज्ञान होता है । इसके अतिरिक्त जाति निर्धारण में मनुष्य के कर्म का भी स्थान न्यूनाधिक रूप में अवश्य विद्यमान था । वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों जैसे मनुस्मृति तथा महाभारत में भी ऐसे दृष्टान्त वर्णित हैं जिनसे उन क्षत्रियों की सूचना मिलती है जो अपने कर्मों के कारण शूद्र हो गये थे ।[46] विशेष परिस्थितियों में वर्णों के कर्तव्यों में परिवर्तन की व्यवस्था धर्मशास्त्रों में भी प्राप्त होती है ।[47] परन्तु सामान्यतः प्रत्येक वर्ण को निर्धारित कर्म परिधि के अन्तर्गत रहना अनिवार्य था । विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि आपत्कालीन स्थिति में ब्राह्मण, क्षात्र धर्म को अपना सकता है तथा ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वैश्य के कर्म को भी कर सकते हैं, परन्तु शूद्र के कर्म का अनुसरण नहीं कर सकते हैं ।[48] इस स्थल पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि यह व्यवस्था केवल आपात्-काल के लिये हैं और समर्थ होने पर अपना ही कर्म करना चाहिये ।

वर्णों के विशेष अधिकार और उनका समाज में स्थान – ब्राह्मण

पौराणिक प्रसंगों में प्रकाशित सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोपरि माना गया है जो वैदिक विचारधारा के अनुकूल ही था । आलोचित पुराण में एक बार एक स्थल पर ब्राह्मण के लिये द्विजाति शब्द का प्रयोग किया गया है । प्रत्येक मन्वन्तर के मूल, ऊर्ध्व, स्तम्भ, द्रोण, ऋषभ, दत्तात्रि, निश्चल और धावान् नामक सात ऋषि, मनु, देवगण एवं पितर माने गये हैं । मनु से क्षत्रिय और वैश्यों की तथा सातों ऋषियों से द्विजातियों की उत्पत्ति बताई गई है ।[49] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी ब्राह्मण के लिये 'द्विज' शब्द का व्यवहार हुआ है ।[50] इसी तरह प्रस्तुत पुराण में अन्यत्र ब्राह्मण के सन्दर्भ में 'विप्र' कहा गया है । ब्राह्मणों को मीमांसा से परे मानते हुए उन्हें परमपवित्र और सभी जातियों में उत्तम बताया गया है ।[51] विष्णु पुराण में ब्राह्मण के लिये विप्र और द्विज दोनों का प्रयोग हुआ है ।[52] मनुस्मृति में भी कव्य दान के अधिकारी ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण के लिये 'द्विज' शब्द का प्रतिपादन किया गया है ।[53]

ब्राह्मण के महात्म्य विषयक अन्य प्रसंग भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध हैं । नित्य व्रतपरायण, ज्ञानार्जन में प्रवृत्त रहकर योगाभ्यास करने वाले, देवता में भक्ति रखने वाले ब्राह्मण दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देते हैं ।[54] अन्यत्र वर्णित है कि जो मनुष्य वेनपुत्र राजा पृथु के जन्म वृत्तान्त को ब्राह्मणों को नमस्कार करके किसी को सुनाता है, उसे अपने कृताकृत (पुण्य पाप अथवा जो कुछ किया है और जो नहीं किया है) का शोच नहीं करना पड़ता है ।[55] आलोचित पुराण में ऋषियों को देवों के साथ निवास करने वाला बताया गया है जो उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि का परिचायक है । वे देवताओं के साथ मेरु के शिखर पर[56], कैलाश पर्वत पर[57], शुक्राचार्य के आश्रम में[58], ब्रह्मक्षेत्र में[59] और शाक द्वीप में मन्दर पर्वत पर[60] निवास करते हैं । वे देवों और गन्धर्वों के साथ स्वर्ग में दिखाई पड़ते हैं ।[61] पुष्कर द्वीप में वे तैंतीस देवताओं के साथ मिलकर रहते हैं ।[62] इस स्थल पर विष्णु के अवतारों के सम्बन्ध में वर्णित घटना महत्वपूर्ण है । देवासुर संग्राम के समय शुक्राचार्य की माता ने कुपित होकर देवताओं को इन्द्र विहीन करने का प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप विष्णु ने अपने चक्र से उनका सिर काट दिया । इस कठोर स्त्रीवध को देखकर परम ऐश्वर्यशाली महर्षि भृगु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उसी समय विष्णु को इस प्रकार शाप दिया - यतः धर्म की महत्ता को भलीभाँति समझते हुए भी तुमने एक अबला की हत्या की, अतः तुम सात बार मनुष्य लोक में जन्म धारण करके निवास करोगे ।[63] इस प्रकार भगवान् विष्णु की सम्भूतियों की तालिका में किसी न किसी ब्राह्मण का योगदान अवश्य दिखाई पड़ता है ।

ब्राह्मणों को देवताओं के समकक्ष मानने की परम्परा वैदिक काल से प्राप्त होती है । तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि ब्राह्मण ऐसे देवता हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं ।[64] अथर्ववेद में भी ब्राह्मणों की महत्ता गाई गई है और उन्हें सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[65] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवताओं के दो प्रकार हैं ; देवता तो देवता हैं ही और ब्राह्मण भी, जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते हैं और उसे पढ़ाते हैं, मानव देवता हैं । स्मृतियों में भी इसी प्रकार की चर्चा प्राप्त होती है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि विधाता ने ब्राह्मणों को वेदों की रक्षा के लिये, देवों तथा पितरों की तुष्टि और धर्म की रक्षा के लिये उत्पन्न किया है।[66] विष्णु स्मृति में ब्राह्मण को साकार देवता माना गया है।[67]

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के प्रतिपादक अनेक प्रसंग प्रस्तुत पुराण में विकीर्ण हैं। देवता और ब्राह्मण के साथ विद्वेष रखने वाले पापात्मा के लिये कृमिभक्ष्य नामक घोर नरक की व्यवस्था मिलती है।[68] अन्यत्र वर्णित है कि ब्राह्मण के आचरण के विषय में कभी तर्क नहीं करना चाहिये।[69] एक स्थल पर उल्लिखित है कि स्वयं ब्रह्मा ने ब्राह्मणों से कहा कि जो लोग तुम लोगों की पूजा अर्चा करेंगे, वे मानो हमारी ही पूजा अर्चा करेंगे। तुम्हारी पूजा से हम सर्वदा सन्तुष्ट होंगे।[70] एक प्रसंग में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्राह्मणों से विशेषकर यतियों से सृष्टि की कथा को तीर्थों और मन्दिरों में स्वयं सुनता है तथा दूसरों को सुनवाता है, वह दीर्घायु प्राप्त करता है तथा कुछ समय बाद पुराणकीर्तन के फलस्वरूप स्वर्गलोक में भी पूजित होता है।[71] एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा के आदेशों का पालन करने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहे जाने का उल्लेख है।[72] मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्म का अंश सभी प्राणियों में विद्यमान रहता है, परन्तु ब्राह्मण में उसका अंश विशेष होता है।[73] ब्रह्माण्ड पुराण में ब्राह्मण का अपमान करना अनुचित ठहराया गया है।[74] ब्राह्मणों की महत्ता वैदिक युगीन समाज में भी सर्वस्वीकृत थी और केवल जन्म से ही वे अन्य वर्णों से बहुत ऊँचे थे। धर्मशास्त्रों में भी इसी परम्परा को यथासम्भव माना गया है। स्मृतियों में ब्राह्मणों के स्तुति गान प्रचुर रूप से उपलब्ध हैं। विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि यह विश्व ब्राह्मणों द्वारा धारण किया गया है, ब्राह्मणों की कृपा से ही देवता स्वर्ग में स्थित है। ब्राह्मण द्वारा कहे गये वचन असत्य नहीं होते हैं।[75] मनु ने जन्म से ब्राह्मण को मान सम्मान के योग्य माना है।[76] उपनिषदों में भी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में यही भावना मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्राह्मण की निन्दा करने का निषेध किया गया है।[77] महाभारत में बहुधा ब्राह्मणों का गुणगान प्राप्त होता है। आदिपर्व के अनुसार ब्राह्मण जब क्रुद्ध कर दिया जाता है तो वह अग्नि, सूर्य, विष एवं

शान्त हो जाता है; ब्राह्मण सभी जीवों का गुरु है ।[78]

इस प्रकार ब्राह्मण की सर्वोपरि स्थिति के आधार पर इस विचार को भी महत्व दिया गया कि ब्राह्मणों के आचरण पर ही सम्पूर्ण समाज का कल्याण निर्भर है । आलोचित पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि ब्राह्मण जाति की कुशिक्षा, दुष्ट उपायों से यज्ञाराधन, करने, असत् उपायों से जीविका उत्पन्न करने, दुराचारी एवं दुर्व्यसनी होने के कारण प्रजा को भय उत्पन्न होता है ।[79] अतः पौराणिक संरचना के काल में ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता एवं योग्यता के कारण समाज में सदैव आदरणीय बने रहे ।

प्रस्तुत पुराण में ब्राह्मण को अवध्य माना गया है जिसका समर्थन इस प्रसंग से होता है जहाँ ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य तथा शाकल्य ऋषि के मध्य हुए वाद-विवाद में परास्त होने के उपरान्त शाकल्य ऋषि की मृत्यु हो गई । वाद-विवाद में उपस्थित सभी ऋषियों को शाकल्य की मृत्यु के कारण ब्रह्महत्या का पाप लगा, जिससे अतिचिन्तित होकर वे ब्रह्मा के निकट गये । उस समय ब्रह्मा ने उनकी इच्छाओं को जानकर उन्हें पवनपुर भेज दिया और कहा कि वहाँ जाने से शीघ्र ही तुम सब लोगों के पाप नष्ट हो जायेंगे ।[80]

अन्यत्र एक वृत्तान्त में उल्लिखित है कि प्राचीन काल में किसी कारणवश सभी ऋषियों को सुमेरु पर्वत पर सम्पत्ति के लिये एकत्रित होना पड़ा । उस समय उन सभी के द्वारा यह प्रण किया गया कि जो ब्राह्मण सात रात के बीच उनकी मन्त्रणा में सहयोग देने नहीं आयेगा, वह ब्रह्महत्या का पाप ग्रहण करेगा । ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर सभी ऋषि मुनि अपने शिष्यों को लेकर वहाँ उपस्थित हुए, केवल वैशम्पायन ऋषि नहीं गये और इस प्रकार समान ब्राह्मणों के वचनानुसार वे ब्रह्महत्या के भागी हुए ।[81] विष्णु पुराण में भी ब्राह्मण हन्ता तथा ऐसे लोगों के साथ सम्पर्क रखने वाले व्यक्ति को नरकगामी घोषित किया गया है ।[82] मत्स्य पुराण के अनुसार ब्राह्मण की हत्या करना अनुचित है, चाहे वह पापाचारी ही क्यों न हो ।[83] इन पौराणिक उद्धरणों

में स्पष्टतः वैदिक प्रवृत्ति को मान्यता दी गई है क्योंकि ब्रह्महत्या को वैदिक काल से ही घृणित एवं निन्दित माना जाता रहा है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्रह्महत्या के लिये प्रायश्चित करना पड़ता था।[84] तैत्तिरीय संहिता में आया है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाला ब्राह्मण हत्या से भी मुक्ति पा लेता है।[85] छान्दोग्य उपनिषद् ने ब्रह्महत्या को पाँच महापातकों की श्रेणी में रखा है।[86] धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी ब्राह्मण के प्रति यही भावना प्राप्त होती है। गौतम धर्मसूत्र ने ब्रह्महत्या करने वाले को पतितों में सबसे बड़ा माना है।[87] मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में भी ब्रह्महत्या को पाँच महापातकों में गिना गया है।[88]

ब्राह्मण के लिये निर्दिष्ट कर्म

अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मणों के सर्वप्रथम कर्तव्य एवं विशेषाधिकार सदैव ही माने गये और आलोचित पुराण में भी इसी का निर्वाह किया गया है। एक स्थल पर वर्णित है कि राजर्षि जनक के अश्वमेध यज्ञ में आये हुए सहस्त्रों ऋषिगणों में से सर्वश्रेष्ठ को पहचानने की जिज्ञासा वश राजा ने कहा - आप लोगों में से जो मुनि सर्वश्रेष्ठ हो, वे मेरे द्वारा लाये गये द्रव्यादि समूह को ग्रहण करें, क्योंकि श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग एक मात्र विद्या के धनी होते हैं अर्थात् उनकी श्रेष्ठता का परिचय विद्या से ही होता है।[89]

प्रसंगान्तर में वर्णित है कि अच्छे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण का बल उसका विद्या का तत्वार्थ ज्ञान ही समझा जाता है।[90] अन्यत्र कहा गया है कि बृहस्पति, कश्यप, औशिज, विश्रवा, उतथ्य, कर्दम, बालखिल्य, उशना - ये समस्त ऋषिगण अपने ज्ञान के बल से ऋषित्व को प्राप्त हुए कहे जाते हैं।[91] मत्स्य पुराण में भी विद्या की श्रेष्ठता ब्राह्मणों की कसौटी बताई गई है।[92] वैदिक काल में ही ब्राह्मणों और विद्या में अभेद सम्बन्ध समझा जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् में अविद्वान् ब्राह्मण के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है।[93] कुछ आचार्यों ने यहाँ तक लिखा है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी (श्रौत क्रिया संस्कारों के लिये अग्नि प्रतिष्ठा) का त्याग हो गया हो, वह तीन पीढ़ियों में दुर्ब्राह्मण हो जाता है।[94]

अध्ययन के अतिरिक्त अध्यापन को भी ब्राह्मणों का ही विशेष कर्म माना जाता था जिसके द्वारा उनकी जीविका चलती थी । आलोचित पुराण के एक स्थल पर वेद का प्रचार ब्राह्मणों द्वारा किये जाने की चर्चा है ।[95] एक अन्य प्रसंग में वसिष्ठ को प्रजापति के मानस पुत्र, विद्वान्, धर्मात्मा और वेद का निर्णायक माना गया है ।[96] प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर ऋषियों के लक्षण वर्णित किये गये हैं । ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले ब्रह्मर्षि कहलाते हैं । अतीत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता, आत्मज्ञानी, सत्यभाषी, मन्त्रवेत्ता ऐसे द्विज देवर्षि नाम से विख्यात होते हैं जो प्रजाओं का रंजन करते हुए उनकी बुद्धि एवं भावनाओं तक पहुँचने वाले होते हैं, वे राजर्षि नाम से प्रसिद्ध हैं । उत्तम कुलोत्पन्न तप और मन्त्रों का उपदेश करने से दिव्यगुण सम्पन्न राजर्षि भी ब्रह्मर्षि कहे जाते हैं ।[97] यहाँ पर भी ऋषियों के ज्ञान और विद्या के आधार पर ही उनका विभाजन प्राप्त होता है । अन्यत्र उल्लिखित है कि जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को यजुर्वेद का अध्ययन कराया था और परम ऐश्वर्यशाली अपने पुत्र सुत्वा को उसे पढ़ाया ।[98] मत्स्य पुराण के एतत्सम विषयक स्थल पर कण्डरीक नामक मन्त्री को वेद एवं शास्त्र का प्रवर्तक बताया गया है ।[99] ब्राह्मणों के द्वारा अध्यापन के वर्णन उत्तर वैदिक साहित्य में प्रचुर रूप से प्राप्त होते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से धर्मशास्त्र काल तक सर्वत्र वेदाध्ययन का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था । बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षत्रिय का ब्राह्मण द्वारा अध्यापित होना अनुकूल व्यवस्था मानी गई है ।[100] आपस्तम्बधर्मसूत्र में वर्णित है कि गुरु केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं, किन्तु आपत्काल में ब्राह्मण गुरु की अनुपस्थिति में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से पढ़ सकता है ।[101]

आलोचित पुराण में ब्राह्मण के लिये निर्धारित कर्मों में तृतीय स्थान पर प्रतिग्रह वर्णित है ।[102] अन्य प्रसंग में कहा गया है कि दान विशेषकर ब्राह्मणों को देना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण ही देवों के मुख कहे जाते हैं ।[103] अन्यत्र वर्णित है कि वृद्ध नहुषपुत्र राजर्षि ययाति ने जब अपने पुत्र यदु से अपनी वृद्धता और पाप ग्रहण करने के लिये कहा तब यदु ने उत्तर दिया कि मैंने अनन्तकाल तक ब्राह्मण को भिक्षादान करने

की प्रतिज्ञा की है जो विशेष परिश्रम से साध्य होगी, अतः मैं आपकी वृद्धता ग्रहण करने में अशक्त हूँ ।[104] एक स्थल पर उल्लिखित है कि पृश्नि के पुत्र परम सम्माननीय स्वफल्क ने काशिराज की अत्यन्त रूपवती कन्या गान्दिनी के साथ विवाह किया था जो प्रतिदिन ब्राह्मणों को गोदान करती थी ।[105] प्रस्तुत पुराण में भगवान् विष्णु के द्वारा तृतीय अवतार ग्रहण करने के वृत्तान्त में कहा गया है कि अदिति के कुल को आनन्दित करने वाले भगवान् यज्ञ के अनुष्ठान में निरत दैत्येन्द्र विरोचन के पुत्र बलि की यज्ञशाला में ब्राह्मण का वेश धारण करके पहुँचे थे तथा तीन पग भूमि का दान माँगा था । बलि ने ब्राह्मण वेशधारी भगवान् को आकृति में वामन होने के कारण सहर्ष दान देना स्वीकार किया था ।[106] एक प्रसंग में यज्ञ की सम्यक् प्रतिष्ठापना के लिये ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणा देने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[107] मत्स्य पुराण में भी प्रतिग्रह का अधिकार उसी ब्राह्मण को देने का वर्णन है जो ब्रह्म का ज्ञाता हो ।[108] स्मृतियों और धर्मसूत्रों से भी इसी परम्परा की पुष्टि होती है । गौतम, याज्ञवल्क्य, विष्णुधर्मसूत्र आदि के अनुसार ब्राह्मण को अपने योगक्षेम (जीविका और रक्षण) के लिये राजा या सम्पन्न व्यक्ति के पास जाना चाहिये ।[109] स्मृतियों में राजाओं का कर्तव्य बताया गया है कि वे श्रोत्रियों (वेदज्ञाता ब्राह्मणों) या दरिद्र ब्राह्मणों की जीविका का प्रबन्ध करें ।[110]

प्रस्तुत पुराण में श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण को सन्तुष्ट करने का वर्णन मिलता है ।[111] अन्य प्रसंग में कहा गया है कि लोक के ऊपर अनुग्रह करने के तात्पर्य से देवगण, पितरगण और अग्निदेव ब्राह्मणों में आविष्ट होकर श्राद्ध आदि में भोजन करते हैं ।[112] एक स्थल पर वर्णित है कि श्राद्ध के अवसर पर आये हुए सहस्त्रों ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये ।[113]

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में श्राद्ध कर्म में बुलाये जाने वाले पंक्तिपावन ब्राह्मणों के गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है । वेद के छः अंगों के अध्ययनकर्ता, विनयशील, धर्मपरायण, सभी शास्त्रों में स्वतन्त्र विचार रखने वाले तथा किसी एक निर्दिष्ट स्थान

पर निवास न करने वाले - इन पाँच प्रकार के ब्राह्मणों को पंक्तिपावन समझना चाहिये ।[114] श्राद्ध के समय ब्राह्मणों को केवल भोजन कराने का विशेष महात्म्य नहीं है वरन् इस अवसर पर उन्हें दान देने से भी मनोकामनाओं की पूर्ति का उल्लेख आलोचित पुराण में किया गया है । एक स्थल पर वर्णित है कि विविध प्रकार की शय्या, मनोहर आसन, प्रचुर भूमि एवं विविध वाहन - इन सबको जो व्यक्ति श्राद्ध के अवसर पर सर्वगुण सम्पन्न ब्राह्मणों को दान करता है वह तीव्र स्मरण शक्ति और बुद्धि को प्राप्त करता है ।[115] अन्य पौराणिक दृष्टान्तों से भी श्राद्ध में ब्राह्मणों के विशेष महत्व का समर्थन मिलता है । मत्स्य पुराण में कहा गया है कि ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने से पितरों को प्रसन्नता होती है ।[116] ब्राह्मणों को श्राद्धीय भोजन के लिये आमन्त्रित करने की परम्परा धर्मसूत्रों और स्मृतियों के काल में भी पूर्णतः प्रचलित थी । मनुस्मृति के अनुसार श्रुति के ज्ञाता तथा योग्यतम ब्राह्मणों को श्राद्धीय भोजन कराने से अधिक फल मिलता है ।[117]

ब्राह्मणों को याजन कर्म से सदैव अभिन्न माना जाता रहा है और आलोचित पुराण में भी ब्रह्मा के द्वारा ब्राह्मणों के लिये निर्धारित कर्मों में प्रथम स्थान याजन को ही दिया गया है ।[118] अन्यत्र उल्लिखित है कि ब्राह्मणों ने राजा जनमेजय का यज्ञ सम्पन्न कराया था ।[119] विष्णु और मत्स्य पुराणों के अनुसार पूर्वकाल में वसिष्ठ निमि के पुरोहित थे ।[120] वैदिक काल में भी इस प्रथा के प्रचलन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रमाण मिलते हैं । ऋग्वेद में तृत्सु वंश के शासक सुदास के पुरोहित विश्वामित्र एवं वसिष्ठ का वर्णन मिलता है ।[121] उत्तरवैदिक काल तक पुरोहित/केवल ब्राह्मणों का विशेषाधिकार हो गया । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुरोहित के अभाव में राजा द्वारा दिये गये हवनीय पदार्थ को देवता स्वीकार नहीं करते ।[122] जैमिनि ने लिखा है कि क्षत्रिय या वैश्य ऋत्विक् नहीं हो सकता, अतः सत्र (दीर्घकाल तक चलने वाला यज्ञ) केवल ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पादित हो सकता है ।[123]

ब्राह्मण और राजनीति

प्रस्तुत पुराण में कहा गया है कि सभी चक्रवर्ती राजाओं के लिये सात प्राण-धारी रत्न प्रयोजनीय हैं - स्त्री, पुरोहित, सेनापति, रथकार, मन्त्री, अश्व और गज शावक । सभी युगों में जितने भी चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न हो गये हैं, वर्तमान हैं अथवा भविष्य में होंगे - उन सभी महीपालों के लिये ये दिव्य रत्न कल्याणकारी हैं ।[124] एक अन्य प्रसंग से राज्य के क्रिया कलापों में पुरोहित का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है । महाबलवान् एवं पराक्रमी सगर से अत्यन्त पीड़ित एवं भयभीत होकर शत्रु-गण शरण खोजते हुए जब महर्षि वसिष्ठ के पास पहुँचे तब महामुनि ने उनको वचन देकर अभयदान दिया तथा राजा सगर को इस संहार कार्य से निवारित किया ।[125] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण में ब्राह्मण वर्ग का राजनीति में महत्वपूर्ण प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । राजा ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु को उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया जो परम्परा के विरुद्ध था तब ब्राह्मणों के नेतृत्व में सभी वर्णों के व्यक्तियों ने उनसे पूछा कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य क्यों नहीं दे रहे हैं । इसका उत्तर देते हुए राजा ने कहा कि सभी पुत्र ने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया है जबकि सबसे छोटे पुत्र पुरु ने विशेष सम्मान देते हुए आज्ञा मानी है । इस राज्य के योग्य पुरु ही हैं, जो तुम्हारा हितकारी है, प्रिय है, वही हम सबको भी प्रिय है, ऐसा कहते हुए ब्रह्मणादिकों ने राजा ययाति के मत का अनुमोदन किया ।[126] अन्यत्र वर्णित है कि रजि नरेश के पुत्र, ब्राह्मणों से द्वेष के कारण नष्ट हो गये ।[127] ब्राह्मणों के द्वारा राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखने के विषय में वैदिक युग के अनेक प्रसंग उप-लब्ध हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित को राजा के अर्द्धांश-सदृश माना गया है ।[128] धर्मसूत्रों और स्मृतियों के रचनाकाल में भी ब्राह्मणों के प्रति यही भावना बनी रही । राजा ब्राह्मण द्वारा बताये गये विधान के अनुसार शासन करता था ।[129] राजाओं की नियुक्ति में भी ब्राह्मणों का योगदान रहता था । आलोचित पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि दम्भ के कारण राजा वेन को उचित मार्ग पर नहीं लाया जा सका अतः महर्षियों ने वेन के कर-स्थल का मन्थन करके पृथु को उत्पन्न करके उसका राज्या-

भिषेक किया ।[130] राजा की अनुपस्थिति में स्वयं ब्राह्मण शासन कार्य सम्भालते थे । एक प्रसंग में इसकी पुष्टि होती है जहाँ वर्णित है कि अयोध्यापति अय्यारुण तथा उनके पुत्र सत्यव्रत द्वारा राज्य छोड़ने पर पुरोहित वसिष्ठ ने कुछ काल के लिये राज्य में प्रशासन का उत्तरदायित्व सम्भाला था ।[131]

<u>क्षत्रिय</u>

आलोचित पुराण में क्षत्रियों के लिये 'क्षत्र' शब्द का व्यवहार भी किया गया है । राजा हरिश्चन्द्र को सम्पूर्ण क्षत्र का विजेता कहा गया है ।[132] जमदग्नि के पुत्र परशुराम के द्वारा पृथ्वीपति राजाओं के साथ सम्पूर्ण क्षत्र का समूल संहार करने के पश्चात् चन्द्र और सूर्य दोनों वंश के क्षत्रियों की पुनः उत्पत्ति हुई ।[133] अन्यत्र क्षत्र और ब्रह्म शब्दों को क्रमशः क्षत्रिय और ब्राह्मण के अर्थ में प्रयुक्त किया गया ।[134] प्रस्तुत पुराण में क्षत्रिय के लिये राजन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ।[135] परन्तु सामान्यतः क्षत्रिय शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग किया गया है । ये स्थल भी वैदिक परम्परा से प्रभावित हैं क्योंकि ऋग्वेद में भी इन तीनों ही शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में 'क्षत्र' शब्द उल्लिखित है लेकिन पराक्रम के अर्थ में ।[136] चतुर्थ मण्डल में क्षत्रिय शब्द राष्ट्र-शास्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[137] इसके अतिरिक्त दशम् मण्डल में राजन्य शब्द का भी उल्लेख हुआ है ।[138] वैदिक वाङ्गमय में इसी प्रकार अनेक स्थलों पर क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्दों का व्यवहार मिलता है ।[139] इसी भावना का निर्वाह धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी किया गया है ।[140]

<u>निर्धारित कर्म</u>

क्षत्रियों के लिये निर्धारित कर्तव्यों में पौराणिक उद्धरणों में रण कौशल को सर्वप्रधान माना गया है । एक स्थल पर वर्णित है कि जो क्षत्रिय युद्ध क्षेत्र से पलायमान नहीं होते हैं उन्हें इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है ।[141] अन्यत्र उल्लिखित है कि क्षत्रिय की साधना का उद्देश्य है; आक्रमण में सफलता और युद्ध में विजयश्री को प्राप्त करना।[142]

एक प्रसंग में कहा गया है कि जो योद्धा क्षत्रियों के अग्रज राजा पृथु के यशों का कीर्तन करके रणभूमि में जाता है वह कल्याण भाजन यशस्वी योद्धा विकट संग्राम में भी विजय लाभ करता है ।[143] इस प्रकार क्षत्रिय के लिये समर में विजयी होना परम आवश्यक माना गया । मत्स्य पुराण के अनुसार क्षत्रिय को हस्ति और अश्व की शिक्षा में निपुण होना चाहिये । व्यूह रचना आदि युद्ध विषयक कलाओं का उसे पूर्ण ज्ञान रहना चाहिये ।[144]

वैदिक काल में क्षत्रियों द्वारा युद्धकला में निपुणता तथा शौर्य का प्रतिपादन हो चुका था । शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि क्षत्रिय विजेता के रूप में उत्पन्न होता है ।[145] पुराणों के अतिरिक्त अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थों जैसे गौतम धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में भी क्षत्रियों का श्रेष्ठतम कर्तव्य रणकौशल ही निर्देशित किया गया है ।[146]

प्रस्तुत पुराण में ब्रह्मा के द्वारा क्षत्रियों को दूसरों की रक्षा का भार सौंपने का वर्णन प्राप्त होता है ।[147] प्रजा पालन भी क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य निश्चित किया गया । एक स्थल पर वर्णित है कि महाराजा कार्तवीर्य के राज्य में किसी का भी द्रव्य नष्ट नहीं होता था, न किसी को शोक था न सन्ताप था । उस महाराज के शासनकाल में धर्मपूर्वक प्रजाओं की रक्षा हुई ।[148] अन्यत्र कहा गया है कि नरश्रेष्ठ महाराज ययाति ने कड़े अनुशासन और दण्ड की व्यवस्था करके दस्युओं को समाज में आतंक फैलाने से रोका । इस प्रकार दूसरे इन्द्र के समान उन्होंने धर्मपूर्वक अपनी प्रजाओं का पालन किया ।[149] विष्णु पुराण में भी निर्दिष्ट किया गया है कि [illegible] को उचित मार्ग पर लाने तथा शिष्ट जनों का पालन करने से क्षत्रिय अभीष्ट लोक को प्राप्त करने में सफल होते हैं ।[150] धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में भी क्षत्रियों के कर्म क्षेत्र में पालन (प्रजापालन) पर विशेष प्रकाश डाला गया है ।[151]

आलोचित पुराण के विभिन्न स्थलों पर क्षत्रियों के कर्तव्य विवेचन में समुचित

शासन सामर्थ्य का भी उल्लेख किया गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि पुरु की अनुमति प्राप्त होने पर नहुषपुत्र महाराज ययाति ने यौवनावस्था को ग्रहण करके अनुग्रह द्वारा दीनों निर्धनों का हितचिन्तन किया, मनोवांछित पदार्थों की पूर्ति द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया, अन्न पानादि द्वारा अतिथियों का समुचित सत्कार किया, व्यापार आदि में उपयुक्त सहायता देकर वैश्यों को सन्तुष्ट किया । अपनी कृपा और दया से शूद्रों को प्रसन्न किया ।[152] अन्यत्र उल्लिखित है कि राजा कार्तवीर्य अर्जुन ने दस सहस्त्र वर्षों तक परम कठोर तपस्या कर अत्रि के पुत्र दत्त की आराधना की ; दत्त ने उसे परम महत्वपूर्ण चार वरदान प्रदान किये थे जिनमें से दो थे - अधर्म में नष्ट होते हुए लोक को सदुपदेशों द्वारा निवारित करना और धर्मपूर्वक पृथ्वी विजय करके धर्म की मर्यादा के अनुसार उसका पालन करना।[153] इनसे साम्य रखने वाले प्रसंग अन्य पौराणिक उद्धरणों में भी प्राप्त होते हैं । मत्स्य पुराण में चारों वर्णों को उनकी कर्तव्य सीमा में स्थिर करने वाले राजा बलि का उल्लेख है ।[154] विष्णु पुराण के अनुसार राजा को चाहिये कि वह वर्णों को ।उनके धर्म में। स्थिर करे ।[155]

दानशीलता को भी वायु पुराण में क्षत्रियों की श्रेष्ठ उपलब्धि माना गया है । अनेक स्थलों पर यशस्वी शासकों की दक्षिणा मूलक प्रवृत्तियों और याज्ञिक क्रियाओं को प्रकाशित किया गया है जो वैदिक भावना के निर्वाह के परिचायक हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः उल्लिखित है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को चाहिये कि वह सुवर्ण, भूमि तथा पशु का दान करे ।[156] इसी प्रकार प्रस्तुत पुराण में राजा बृहदाश्व के इक्कीस सहस्त्र पुत्रों के गुणों के वर्णन में उन्हें प्रचुर दक्षिणा देने वाला, यज्ञकर्ता और धार्मिक विचारों वाला कहा गया है ।[157] अन्यत्र पुरुषरत्न राजर्षि क्रोष्टु के वंश में उत्पन्न राजा स्वाहि को यज्ञकर्ताओं में श्रेष्ठ, महाराज रुशद्गु को दानियों में अग्रगण्य, उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रसूत को ऐसे महान् यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला जिसमें प्रचुर दक्षिणायें दी गई थीं, कहा गया है ।[158] एक स्थल पर महाराज आहुक के वंश की प्रशस्ति में वर्णित है कि उसके वंश में उत्पन्न होने वाला

ऐसा कोई भी राजा नहीं हुआ जो असत्यवादी हो, यज्ञादि का अनुष्ठान न करता हो, एक सहस्त्र से कम दान करने वाला हो, अधर्मी हो अर्थात् इन अवगुणों से सर्वथा रहित राजा हुए ।[159] कौटिल्य-अर्थशास्त्र और स्मृति ग्रन्थों में भी पौराणिक उदाहरणों के समान प्रसंग उपलब्ध होते हैं ।[160]

क्षत्रियों द्वारा ज्ञानार्जन और अध्ययन का भी विशेष महत्व माना जाता रहा। प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि राजा बृहदश्व के सभी पुत्र विद्या में पारंगत थे ।[161] अन्यत्र वर्णित है कि इन्द्र के द्वारा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने पर यज्ञ मण्डल में समागत महर्षिगणों को यज्ञ में की जाने वाली जीवहिंसा से असन्तोष हुआ और इन्द्र के साथ इस विषय पर उनका विवाद भी हुआ । इसी कारण राजा वसु से उन्होंने परामर्श लिया । तब राजा वसु ने उन्हें शास्त्रीय उपदेशों के आधार पर किये जाने वाले यज्ञ के विषय में बताया ।[162] एक अन्य स्थल पर महाराज स्वफल्क और गान्दिनी के पुत्र अक्रूर को परम दानी, परम यज्ञकर्ता और वेदज्ञ कहा गया है ।[163] मत्स्य पुराण में भी राजा के ज्ञानार्थ दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और वार्ता आदि परम्परा प्रसिद्ध विद्यायें अपेक्षित मानी गई हैं ।[164] यह परम्परा भी वैदिक युगीन थी क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक को वेद और उपनिषदों का ज्ञाता बताया गया है ।[165] मनुस्मृति में भी इसकी पुष्टि प्राप्त होती है ।[166]

आलोचित पुराण में अनेक ऐसे राजाओं का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होकर अपनी योग साधना और तपस्या द्वारा परम सिद्धि की प्राप्ति की । इनमें नरपति, विश्वामित्र, मान्धाता, संकृति, कपि, पुरुकुत्स, अजमीढ आदि मुख्यतः वर्णित हैं ।[167] अन्यत्र एक प्रसंग में इक्ष्वाकुवंशीय कुश के वंश में उत्पन्न शीघ्रक के पुत्र मनु को योग मार्ग का अवलम्बन लेकर कलाप ग्राम में निवास करने वाला बताया गया है ।[168] महाराज ययाति के सम्बन्ध में कहा गया है कि भृगुतुंग नामक स्थान पर उन्होंने तपस्या करके वहीं पर सौ व्रतों का विधिवत् पालन कर स्वर्ग प्राप्त किया ।[169] राजा मित्र ज्योति के पुत्रों ने गृहस्थाश्रम का परित्याग करके

वैराग्य पथ का अनुगमन किया और अन्त में सन्यासियों का धर्म अपना कर ब्रह्मत्व को प्राप्त किया ।[170] महाराज बलि के परम धार्मिक कार्यों से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें महायोगी, एक कल्प की दीर्घायु वाला, संग्राम में अजेय एवं धर्म में परम निष्ठावान होने का वरदान दिया था ।[171] पौरववंशीय देवापि नामक राजा, जो महान् योगाभ्यासी होगा, कलाप ग्राम में निवास करेगा ।[172] इस प्रकार के योगी के समान तपस्वी शासकों के विवरण विष्णु व मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध होते हैं । राजा ययाति और रैवत का विष्णु में, रजि का मत्स्य में, राजा ऋषभ का ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में प्रसंग वर्णित है ।[173]

आलोचित पुराण में क्षत्रिय व ब्राह्मणों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकाशित करने वाले अनेक स्थल मिलते हैं । 'क्षात्त्रोपेता द्विजातयः' शब्द का प्रयोग वंश वर्णन की तालिका में विभिन्न प्रसंगों में प्राप्त होता है जहाँ पर राजाओं को ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों ही वर्णों से संयुक्त किया गया है । सम्राट भरत के द्वारा किये गये पुत्रप्राप्ति हेतु मरुत्सोमात्मक यज्ञ से प्रसन्न होकर मरुद्गणों ने बृहस्पति और ऋषिवर अंगिरा की पत्नी ममता के अवैध पुत्र भरद्वाज को भरत को दे दिया । सम्राट भरत के पालन पोषण के कारण दिव्य विभूति सम्पन्न भरद्वाज ब्राह्मणत्व से क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए।[174] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि वितथ भरद्वाज के पौत्र गार्ग्य के उत्तराधिकारी गार्ग्य के नाम से विख्यात हुए - ये सभी क्षत्रियोचित गुण धर्म समन्वित ब्राह्मण कहे जाते हैं ।[175] राजा रिक्ष के पाँच पुत्र मुद्गल, सृञ्जय, बृहदिषु, यवीयान् और काम्पिल्य थे । इनमें से मुद्गल के वंशज क्षत्रिय गुणधर्म वाले द्विज हुए और आंगिरस गोत्र में सम्मिलित हो गये ।[176]

ब्राह्मण और क्षत्रियों के वैवाहिक सम्बन्धों की भी सूचना प्रस्तुत पुराण में मिलती है । राजर्षि ययाति की पत्नी देवयानी महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री थी ।[177] राजा वध्यश्व की पुत्री यशस्विनी अहिल्या ऋषिवर शतानन्द की पत्नी थी जिनकी सन्तानें शारद्वत के नाम से जानी जाती हैं ।[178] वसिष्ठ की पुत्री पुण्डरीका पाण्डु

की रानी थी ।[179] परम तपस्वी जमदग्नि की पत्नी रेनुका इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुवेणु की पुत्री थी ।[180] प्रजापति कर्दम ऋषि की पुत्री काम्या का विवाह राजा प्रियव्रत से हुआ और इन्हीं के पुत्रों द्वारा क्षत्रकुल की वृद्धि हुई ।[181]

वैश्य

वर्ण व्यवस्था के तृतीय क्रम पर अवस्थित वैश्य के लिये आलोचित पुराण में वैश्य शब्द का ही अधिकांशतः प्रयोग किया गया है । एक स्थल पर द्विजाति शब्द की विवेचना करते हुए इनके लिये विश शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ।[182] उत्तर वैदिक वाङ्मय में भी वैश्यों के सन्दर्भ में विश शब्द का व्यवहार किया गया है । तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रिय और वैश्य विवरण में क्रमशः क्षत्र और विश शब्दों का उल्लेख हुआ है ।[183] ऋग्वेद में विश शब्द का प्रयोग अवश्य प्राप्त होता है किन्तु उसका तात्पर्य जनसमुदाय ध्वनित होता है ।[184] धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में भी विश शब्द वैश्यों के लिये प्रयोग किया गया है ।[185]

निर्धारित कर्म

वैश्यों के लिये प्रतिपादित कर्तव्य परिधि में अर्थ सम्बन्धी विषयों का ही निरूपण मिलता है । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि ब्रह्मा ने पशुपालन, वाणिज्य और कृषिकर्म रूप जीविकोपाय वैश्यों को दिया तथा उन्हें सर्वसाधारण के वृत्ति साधन कार्य में लगाया ।[186] अन्यत्र उल्लिखित है कि महाराज ययाति ने व्यापार आदि में उपयुक्त सहायता प्रदान करके वैश्यों को सन्तुष्ट किया ।[187] एक अन्य स्थल पर दूध, मदिरा, मांस, लाक्षा, सुगन्धित पदार्थ, तेल इत्यादि तथा घोड़े के विक्रेता के लिये नरक की व्यवस्था का वर्णन मिलता है ।[188] विष्णु पुराण में भी निरूपित है कि लोकपितामह ब्रह्मा ने पशुपालन, वाणिज्य और कृषि वैश्य के जीविकार्थ निर्धारित किया था ।[189] ये पौराणिक उद्धरण वैदिक परम्परा में परिवर्तन के सूचक हैं और साथ ही साथ धर्मसूत्रों व स्मृतियों में उपलब्ध व्यवस्था के समर्थक भी ।

वैदिक युगीन समाज में कृषि और पशुपालन को ही वैश्यों का प्रधान कर्म निश्चित किया गया था तथा 'पणि' अथवा व्यापार का केवल बीजारोपण ही हो पाया था ।[190] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य अन्य जनों का भोजन है और कर देने वाला है ।[191] तैत्तिरीय संहिता में आया है कि मनुष्यों में वैश्य, पशुओं में गाय अन्य लोगों के उपभोग की वस्तुएं हैं; वे भोजन के आधार से उत्पन्न किये गये हैं अतः संख्या में अधिक है ।[192] धर्मसूत्रों और स्मृतियों में स्पष्ट रूपेण वैश्यों के कर्मक्षेत्र में कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त व्यापार को भी प्रधानता दी गई[193] । गौतम धर्मसूत्र में भी वैश्यों के लिये कृषि, वाणिज्य और कुसीद जैसे धनार्जन के कार्य बताये गये ।[194] महाभारत के अनुसार भी कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म माने गये थे ।[195] कौटिल्य ने भी कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बताया ।[196]

अध्ययन और यज्ञादि अनुष्ठानों के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा के द्वारा वैश्यों के लिये यज्ञ, अध्ययन और दान भी कर्तव्यों की श्रेणी में निर्धारित किये गये ।[197] यही विचार विष्णु पुराण में भी वर्णित है । ब्राह्मण और क्षत्रिय के समान वैश्य को भी यज्ञ, अध्ययन और दान में निरत रहना चाहिये[198] । वैदिक काल में वैश्य के विषय में इन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हो चुका था । तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि पशुओं की कामना करने वाले वैश्य वास्तव में यज्ञ करते हैं ।[199] इस परम्परा का निर्वाह स्मृतियों में भी प्राप्त होता है ।[200] इस प्रकार इन पौराणिक तथा अन्य पुराण समर्थक उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैश्यों का सामाजिक स्तर उन्नत था और उन्हें पर्याप्त संरक्षण भी प्राप्त था । महाभारत के अनुसार सर्वाधिक धनाढ्य होने के कारण यही वर्ग राज्य को सबसे अधिक कर देता था ।[201] आलोचित पुराण में मनु से क्षत्रिय और वैश्यों की उत्पत्ति वर्णित है ।[202] अन्यत्र उल्लिखित है कि जो व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा किसी वैश्य की हत्या करता है वह घोर नरक मे निपतित होता है ।[203] एक अन्य प्रसंग में चम्पावती नगरी में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी जातियों का अपने धर्म पर रहने का उल्लेख

है ।[204] ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के साथ वैश्यों का वर्णन उनकी सामाजिक महत्ता को प्रकाशित करता है ।

आलोचित पुराण में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो वैश्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय की अपेक्षा निम्न स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं । एक स्थल पर वैश्य के लिये जीविका की प्रेरणा राजा की अनुकम्पा बताई गई है । महायशस्वी राजर्षि पृथु वैश्य वृत्ति (व्यापार) करने वालों का भी आदरणीय था क्योंकि उन्हें वह वृत्ति देता था ।[205] अन्यत्र वैश्यों को पापी बाते हुए उनका वर्णन शूद्रों के साथ हुआ है ।[206] यह प्रवृत्ति भी वैदिक कालीन दृष्टिगोचर होती है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्यों को पराश्रयी, दूसरों की कृपा पर आश्रित तथा इच्छानुसार विजित करने का विषय माना है ।[207] ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों से निम्न श्रेणी के हैं ।[208] गौतम धर्मसूत्र, महाभारत तथा मनुस्मृति में ब्राह्मण को वैश्य से यज्ञीय उपकरण-उपहार का अधिकार निर्देशित है ।[209]

शूद्र

आलोचित पुराण में शूद्रों का उत्पत्ति स्थान अचिन्त्य परमात्मा और सब भूतों के उत्पादक का चरण स्थल बताया गया है[210] और उनके लिये शूद्र शब्द के अतिरिक्त 'वृषल' शब्द का व्यवहार भी किया गया है ।[211] वैदिक कालीन साहित्य में शूद्रों के सन्दर्भ में शूद्र शब्द ही सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है[212] तथा 'वृषल' शब्द के प्रयोग की परम्परा उत्तरवैदिक साहित्य में प्राप्त होती है ।[213] परन्तु अधिकांशतः शूद्र शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग मिलता है । स्मृतियों में भी यदा कदा शूद्र के लिये 'वृषल' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[214]

निर्धारित कर्म

प्रारम्भ में ब्रह्मा ने शूद्रों को केवल परिचर्या कार्य में लगाया क्योंकि वे शोक

करते हुए इधर उधर भ्रमण करते थे और निस्तेज थे ।[215] परन्तु वर्णधर्म का अनादर होने पर पुनः प्रभु, ब्रह्मा ने यथार्थतः उनके आचरणों को जानकर शूद्रों के लिये शिल्प कर्म और दासत्व की व्यवस्था की ।[216] अन्यत्र शूद्रों को अन्य तीन वर्णों के आश्रित बताया गया है ।[217] प्राचीन काल से शूद्रों के लिये विहित कर्तव्यों में सेवा कार्य प्रधान था । अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी इस विचार का समर्थन होता है । विष्णु पुराण में शूद्र के लिये 'परिचर्यानुवर्ती' अभिधान दिया गया है जो उसकी सेवा वृत्ति को स्पष्ट करता है ।[218] मत्स्य पुराण के अनुसार परिचर्या वृत्ति को शूद्र के प्रति यही भावना यह कल्प कहा गया है ।[219] वैदिक समाज में भी शूद्र के प्रति यही भावना प्रतिपादित हो चुकी थी । ऐतरेय ब्राह्मण में शूद्रों को दूसरों का सेवक माना गया है ।[220] प्राचीन आचार्यों के अनुसार शूद्रों का विशिष्ट कर्तव्य था द्विजातियों की सेवा करना एवं उनसे भरण पोषण पाना ।[221]

शूद्रों की दयनीय स्थिति के प्रमाण स्वरूप अन्य प्रसंग भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध हैं । एक प्रसंग में वर्णित है कि परमप्रभावशाली वायु देवता ने ब्राह्मणों की संख्या से द्विगुणित संख्या में शूद्रों की स्थापना की और उन सबसे कहा कि तुम प्रत्येक दो व्यक्ति ब्राह्मण की अनुचर वृत्ति स्वीकार कर उनकी सेवा करते जाओ ।[222] राजा बलि की शूद्र वर्ण की धाय से दीर्घतमा ऋषि के दो पुत्र हुए, कक्षीवान् और चक्षु जिन्होंने भलीभाँति ज्ञान प्राप्त किया और ब्रह्मवेत्ता, योगपरायण, धर्मतत्वों के [illegible] हुए । राजा बलि से दीर्घतमा ऋषि ने कहा कि ये हमारे पुत्र हैं और शूद्र योनि में उत्पन्न होने के कारण ये असुरों में श्रेष्ठ होंगे ।[223] मनुपुत्र पृषध्र अपने गुरु महात्मा च्यवन की गौ मारकर खा गये, जिसके कारण शापवश शूद्र वर्ण में उत्पन्न हुए ।[224] एक स्थल पर शूद्रों को श्राद्ध में अवशिष्ट भोजन देने से श्राद्ध के फल न प्राप्त होने की सूचना दी गई है ।[225] विष्णु पुराण में वर्णित है कि शूद्रों का यज्ञ सम्पादित करने से ब्राह्मण नरकगामी होता है ।[226] स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में भी शूद्र के लिये विभिन्न प्रकार की वर्जनायें निश्चित की गई जिनसे उनकी दयनीय

स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । शूद्रों को वेदाध्ययन और पवित्र अग्नि जलाने का आदेश नहीं था । कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार वेदज्ञानविहीन, नपुंसक और शूद्रों को छोड़कर सभी यज्ञ कर सकते हैं ।[227] एक श्रुतिवाक्य भी है -(विधाता ने) गायत्री (छन्द) से ब्राह्मण को निर्मित किया, त्रिष्टुप् (छन्द) से राजन्य को, जगती (छन्द) से वैश्य को किन्तु उसने शूद्र को किसी भी छन्द से निर्मित नहीं किया, अतः शूद्र (उपनयन) संस्कार के लिये अयोग्य है ।[228] मनुस्मृति और विष्णु स्मृति दोनों ही ग्रन्थों में शूद्रार्थ यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को निन्दित माना गया है ।[229]

धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में आलोचित पुराण में शूद्रों को निर्देश दिये गये हैं उल्लिखित है कि वेद में मनुष्य के लिये पाँच महायज्ञों की चर्चा की गई है जिनका उसे सर्वदा अनुष्ठान करना चाहिये । ये पाँचों महायज्ञ - केवल मंत्रोच्चारण को छोड़कर शूद्रों को भी करने चाहिये ।[230] अन्यत्र वर्णित है कि यदि शूद्र परम गुह्य दक्षकृत स्तोत्र को सुनता है तो उसे रुद्रलोक की प्राप्ति होती है ।[231] मनुस्मृति के अनुसार उनके समस्त क्रिया संस्कार बिना वैदिक मन्त्रों के हो सकते हैं ।[232] गौतम धर्मसूत्र एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के उद्धरणों से भी इसी भावना की पुष्टि होती है कि धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में शूद्र को मन्त्रोच्चारण का अधिकार नहीं दिया गया था ।[233]

शूद्रों को समाज के निम्न वर्ग में होते हुए भी कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त थे और उनके प्रति उदार दृष्टिकोण भी रखा जाता था । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में राजा ययाति द्वारा शूद्रों को प्रसन्न करने का वर्णन है ।[234] अन्यत्र उल्लिखित है कि यदि शूद्र भक्ति में निमग्न रहे, मदिरापान न करे, इन्द्रियों को वश में रखे और निर्भय रहे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।[235] अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी तत्कालीन परिस्थितियों में शूद्रों के प्रति उदार भावनाओं का ज्ञान होता है । विष्णु एवं मत्स्य पुराण में शूद्र के द्वारा दान देने का उल्लेख है ।[236] धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में भी शूद्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचारों की चर्चा की गई है ।[237]
नारदस्मृति में वर्णित है कि आपत्काल में शूद्र क्षत्रियों और वैश्यों के कर्म कर सकते थे ।

भारद्वाज श्रौतसूत्र ने कुछ आचार्यों के यह मत प्रकाशित किये हैं कि शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नि जला सकते हैं ।[238] शूद्र वैदिक क्रियायें अवश्य नहीं कर सकते थे किन्तु वे कूप, तालाब, मन्दिर, वाटिकाओं आदि का निर्माण तथा ग्रहण आदि अवसरों पर भोजन दान आदि कर सकते थे ।[239]

आलोचित पुराण में भविष्य में होने वाली राजनैतिक घटनाओं और राजाओं के शासनकाल की तालिका में महापद्मनन्द का उल्लेख है । शूद्र योनि में उत्पन्न सेविका से राजा महानन्दिन के महापद्म नामक पुत्र हुआ जिसने अपने पराक्रम और शौर्य से समस्त क्षत्रिय राजाओं का [illegible] करके एकछत्र राज्य की स्थापना की ।[240] अतः राजनीति में भी शूद्रों की उपलब्धियों का ज्ञान प्रस्तुत पुराण से होता है ।

दास

आलोचित पुराण में दस्यु अथवा दास शब्द का प्रयोग भी यत्र तत्र प्राप्त होता है । एक स्थल पर वर्णित है कि राजा जनक ने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर ग्राम, रत्न और सुवर्ण के साथ साथ दासों का भी दान किया था ।[241] राजा ययाति से सम्बन्धित प्रसंग से भी स्पष्ट हो जाता है कि दास शूद्रों से पृथक थे जिनको समुचित नियन्त्रण और कृपा द्वारा सन्तुष्ट किया गया था । परम विद्वान् एवं प्रभावशाली राजा त्र्य्यारुण के पुत्र सत्यव्रत ने वन में निवास करते हुए एक दिन क्षुधापीड़ित होने पर जब महर्षि वसिष्ठ की सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु को देखा तब यह विचार किया कि इस समय दस्युओं के समीप निवास करते हुए मुझे उन्हीं के समान आचरण करना चाहिये । यह सोच कर अपने वसिष्ठ की उस कामधेनु को मारकर खाया ।[242] इस प्रसंग से सम्भावना है कि दस्यु वे लोग थे जो गौ की चोरी करते थे । मत्स्य पुराण के एक स्थल पर दास और दासी से युक्त राज्य का उपभोग करना उत्कट साधना का फल बताया गया है ।[243] इन विभिन्न पौराणिक दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि समाज में दासों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी और उन्हें

व्यक्तिगत सम्पत्ति की श्रेणी में रखा जाता था । दासों के प्रति यह भावना वैदिक समाज में भी विद्यमान थी क्योंकि ऋग्वेद में एक स्थल पर दो सौ दासों के लाभार्थ प्रार्थना की गई है ।[244] स्मृतियों में भी पुराणों के समान ही विचार निरूपित हैं। मनुस्मृति और नारदस्मृति में दास को निर्धन बताया गया है । मनुस्मृति के अनुसार अर्जित धन पर दास का स्वत्व नहीं रहता है ।[245] इसके अतिरिक्त मनु ने दासों को निर्धन बताया तथा उनके अपराध करने पर रज्जु अथवा वेणुदल (बांस की छड़ी) से पीटने की बात कही है ।[246] पतंजलि ने भी 'महाभाष्य' में दासी को कामुकता की पात्री के रूप में वर्णित किया है ।[247] याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन आदि अन्य स्मृतिकारों ने भी दासों के दशा पर प्रकाश डालते हुए उनकी दीन हीन स्थिति का विशद चित्रण किया है ।

चाण्डाल

आलोचित पुराण में चाण्डालों को अत्यन्त पतित और निम्न श्रेणी में रखा गया है । एक प्रसंग में कहा गया है कि चाण्डाल का स्पर्श करना भी पाप है जिसका निराकरण प्रायश्चित से होता है ।[248] राजा त्रय्यारुण ने अपने पुत्र सत्यव्रत के दुरा-चरण पर क्रोधित होकर उसका परित्याग कर दिया और उससे चाण्डालों के समीप जाकर निवास करने के लिये कहा ।[249] मत्स्य पुराण में भी चाण्डाल को अधम और पातकी माना गया है ।[250] विष्णु पुराण में चाण्डाल को कुत्ता और पक्षियों की श्रेणी में रखा गया है ।[251] इस पौराणिक व्यवस्था की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् के वर्णन से भी होती है कि चाण्डाल योनि में वही लोग जन्म ग्रहण करते हैं, जिनमें पूर्वजन्म का कर्म असत् रहता है ।[252] स्मृतियों और शास्त्रों में भी चाण्डाल के प्रति तिरस्कारपूर्ण भावना ही वर्णित है । आपस्तम्ब की दृष्टि से चाण्डाल को स्पर्श करना ही पाप नहीं था, बल्कि उससे सम्भाषण करना और उसका दर्शन करना भी पाप था, जिसके लिये प्रायश्चित का विधान किया गया था ।[253] मनु के अनुसार 'सर्व-धर्म-बहिष्कृत' होने के कारण उसके देखते रहने पर भोजन ही बन्द कर देने का निर्देश दिया

गया है ।[254] इस प्रकार समाज में अवस्थित होते हुए भी चाण्डाल अत्यन्त निकृष्ट जीवन व्यतीत करते थे ।

सम्मिश्रित तथा वर्णसंकर जातियाँ

छान्दोग्य उपनिषद् तथा महाभारत से विदित होता है कि प्राचीन काल से ही समाज में चारवर्णों के अतिरिक्त अनेक जातियाँ विद्यमान थीं जो अनुलोम और प्रतिलोम जैसे अन्तर्जातीय विवाह का परिणाम थीं ।[255] धर्मसूत्रों में भी ऐसी विभिन्न जातियों का उल्लेख मिलता है ।[256] मनु के अनुसार ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर कही गई ।[257] पौराणिक उद्धरणों से भी वर्णसंकर के विषय में अनेक प्रकार की सूचना प्राप्त होती है । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि सूत का वर्ण विकृत है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति क्षत्रिय और ब्राह्मणी के संयोग से हुई है ।[258] वर्णसंकर जातियों को सामाजिक व्यवस्था से बहिष्कृत और निकृष्ट स्तर पर ही रखा जाता था । एक स्थल पर कहा गया है कि विकृत वर्ण वालों के यहाँ भिक्षान्न ग्रहण करना जघन्य वृत्ति है ।[259] कलियुग के पापाचारों के वर्णन में उल्लिखित है कि इस युग में प्रत्येक जीवों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है । इस समय शूद्र एवं अन्त्यज (वर्णसंकर) वर्णों के साथ ब्राह्मणों का शयन, आसन तथा भोजनादि में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।[260] शाकद्वीप की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वहाँ के निवासी वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले हैं । न वहाँ कोई वर्णसंकर है न कोई वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करता है ।[261] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार अन्त्यजों के घर लक्ष्मी अधिक दिनों तक निवास नहीं करती ।[262] मत्स्य पुराण में अन्त्यज का [illegible] ब्राह्मण के लिये निषिद्ध कहा गया है ।[263] स्मृतियों में भी एतत्सम विचार ही प्रतिपादित किये गये हैं । मनुस्मृतियों में वर्णित है कि जब किसी वर्ण के सदस्य दूसरे वर्ण की स्त्रियों से विवाह करते हैं जिनसे नहीं करना चाहिये तथा अपने वर्णों के कर्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, तब वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है ।[264] वर्णसंकरता को रोकने के लिये स्मृतिकारों ने राजाओं को उद्बोधित किया कि वे उन लोगों को, जो वर्णों

के लिये बने हुए निश्चित नियमों का उल्लंघन करें, दण्डित करें ।[265] महाभारत में भी वर्णसंकर के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि धन, लोभ, काम, वर्ण के अनिश्चय एवं वर्णों के अज्ञान से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है ।[266]

आलोचित पुराण में जिन सम्मिश्रित जातियों का वर्णन प्राप्त होता है वे इस प्रकार हैं :-

भविष्यकालीन जातियों में 'अन्ध्र' की चर्चा की गई है । मनुस्मृति के अनुसार वैदेह पुरुष और निषाद स्त्री से उत्पन्न होने वाले लोग अन्ध्र कहे गये ।[267]

नगर और ग्राम से दूर नदी तट पर निवास करने वाली 'आभीर' जाति का उल्लेख भी भविष्य की जातियों में किया गया है । मनु ने इस जाति का ब्राह्मण पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न होना बताया है ।[268]

'कैवर्त' और 'क्षत्तृ' जातियों को भी प्रस्तुत पुराण में भविष्य में होने वाली जातियों में परिगणित किया गया है । नाव चलाकर अपनी जीविका अर्जित करने वाली कैवर्त जाति निषाद पुरुष और आयोगव स्त्री की सन्तान है ।[269] शूद्र और क्षत्रिया के संयोग से उत्पन्न जाति को बौधायन धर्मसूत्र में 'क्षत्तृ' के अन्तर्गत गृहीत किया गया है ।[270]

आलोचित पुराण में नदी तट पर निवास करने वाली जातियों में धीवर और किरात भी वर्णित हैं ।[271] मत्स्य पुराण में किरातों का निवास स्थान हिमालय बताया गया है ।[272] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान धीवर के नाम से जानी गई ।[273] अमरकोश के अनुसार किरात जाति म्लेच्छों का ही एक भेद थी ।[274]

प्रस्तुत पुराण में निषादों की उत्पत्ति का सम्बन्ध राजा वेन के कर मन्थन

से बताया गया है । क्रुद्ध महर्षियों द्वारा राजा वेन के बायें कर मन्थन के फलस्वरूप व्याकुल इन्द्रियों वाला और दीन हीन चेष्टा करता हुआ पुरुष उत्पन्न हुआ जिसे आर्तदशा में देखकर महर्षियों ने कहा, निषीद । इस प्रकार अनन्त विक्रम सम्पन्न वह पुरुष निषाद वंश का कर्ता हुआ ।[275] मनुस्मृति में ब्राह्मण और शूद्र के संयोग से इस जाति की उत्पत्ति बताई गई है ।[276]

पुलिन्द और पाराशव जातियों का वर्णन आलोचित पुराण में भविष्यत्कालीन जातियों के प्रसंग में किया गया है ।[277] वैखानस स्मार्त सूत्र के अनुसार पुलिन्द वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न जाति है ।[278] मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में निषाद जाति का ही दूसरा नाम पाराशव बताया गया है ।[279]

सूत और मागध का उल्लेख भी साथ साथ हुआ है । इसी पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि पितामह ब्रह्मा के पवित्र महायज्ञ के अवसर पर सूती के गर्भ से सूत उत्पन्न हुए । सामगान के समय उत्पन्न होने के कारण वे मागध कहे गये । असाव-धानी के ऊँच नीच का पारस्परिक संयोग होने से सूत और मागधों के वर्णों में विकार आ गया । सूत का मध्यम धर्म क्षत्रियों के समान जीविका अर्जन करना हुआ, रथ और हाथियों का परिचालन तथा औषधि आदि निन्द्य कार्यों को भी वे करने लगे । प्रसंगान्तर में वर्णित है कि राजा के द्वारा भविष्यत्काल में होने वाले क्रियाकलापों के गान करते हुए स्तुति करने के लिये ऋषियों ने सूतों और मागधों से कहा ।[280] मनु-स्मृति के अनुसार वैश्य और क्षत्रिया के संयोग से उत्पन्न सन्तान मागध कहलाई ।[281] स्मृतिकारों के अनुसार सूत का जन्म क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण कन्या के संयोग से हुआ था ।[282]

प्रस्तुत पुराण में कलियुग के सन्ध्यांश होने पर चन्द्रमा के गोत्र का प्रमति नामक राजा का विष्णु के अंश से उत्पन्न होने का उल्लेख है जो वर्णसंकर और उनके सहायकों का समूल विनाश करेगा । यहीं पर शौलिक जाति का नामोल्लेख हुआ है ।[283] वैखानस

स्मार्त सूत्र में शूलिक को क्षत्रिय और शूद्रा से उत्पन्न माना गया है ।[284] आलोचित पुराण के इसी प्रसंग में पारद, यवन, बर्बर, पह्लव आदि भी वर्णित हैं । महाभारत में पारद को अनार्यों में तथा म्लेच्छों के साथ परिगणित किया गया है ।[285] यवन को मनु ने शूद्रों की स्थिति में पतित क्षत्रिय माना है ।[286] गौतम धर्मसूत्र में वर्णित आचार्यों के मत से यह शूद्र पुरुष और क्षत्रिया से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है ।[287]

प्रस्तुत पुराण में इन विभिन्न जातियों के वर्णन में किसी स्थल पर उन्हें सम्मिश्रित जाति का निरूपित नहीं किया गया है परन्तु स्मृतियों, धर्मसूत्रों तथा अन्य ग्रन्थों के तद्विषयक तुलनात्मक अध्ययन से उसका स्पष्टीकरण हो जाता है । इसके अतिरिक्त कहीं कहीं पौराणिक उद्धरणों में ही ऐसे शब्दों का व्यवहार किया गया है जो इन जातियों के विषय पर प्रकाश डालते हैं । एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि वर्णों के साथ अन्यान्य संकरवर्ण द्वारा विधेय धर्मों की चर्चा करने का वर्णन है ।[288] मत्स्य पुराण में भी एक स्थल पर ऐसी जातियों के बोधनार्थ 'विवर्ण' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[289] विष्णु पुराण के एतत्सम स्थलों पर 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग हुआ है जो बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार वर्णसंकर का बोधक है ।[290]

निष्कर्ष स्वरूप उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आलोचित पुराण में जाति प्रथा के सर्वांगीण स्वरूप को प्रकाशित किया गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि वर्णों के सन्दर्भ में अनेक शब्दों का व्यवहार, उनके निर्धारित कर्तव्य, समाज में उनका स्थान आदि विभिन्न दृष्टिकोण से वैदिक भावना का तातत्य भी दिखाई पड़ता है और परिवर्तनात्मक प्रवृत्ति का अभिव्यक्तिकरण भी मिलता है ।

सन्दर्भ

1. डी०आर० पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 19.

2. वक्त्रादस्य ब्राह्मणाः संप्रसूता यद्वक्षसः क्षत्रिया पूर्वभागे ।
वैश्याश्चोरोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णाः गात्रतः संप्रसूता ।
वायु पुराण, 9/113.

3. तत्रैव, 30/218.

4. ऋग्वेद, 10/90/12;
काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 47;
वैदिक इण्डेक्स, खण्ड 2, पृष्ठ 248.

5. ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः । तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/9/14.

6. वामदेवस्तु भगवानसृजन्मुखतो द्विजान् ।
राजन्यानसृजद्बाहोर्विट्शूद्रानूरुपादयोः । मत्स्य पुराण, 4/29.

7. त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत ।
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः । विष्णु पुराण, 1/12/63-64.

8. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् । मनुस्मृति, 1/31.

9. चातुर्वर्ण्यं हि देवानाम् ते चाप्येकत्र भुञ्जते । वायु पुराण, 30/67.

10. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रैः सृष्टिरेषा सनातनी । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/31/32.

11. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः ------ ।
विष्णु पुराण, 2/3/9.

12. तत्र पुण्या जनपदाश्चातुर्वर्ण्यसमन्विताः ------ । वायु पुराण, 49/90.
न संकरश्चतेऽप्यस्तिवर्णाश्रमकृतः क्वचित् । तत्रैव, 49/101.

13. प्रछन्नपापा ये चेतुम्राक्या मनुजा भुवि ।
धर्मसंस्थापनार्थाय तेषां शास्त्रेतयो मया: ।
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां संप्रकीर्तिता: ।
संहिताश्चततो मन्त्राऋषिभिब्राह्मणैस्तुतु । तत्रैव, 57/59-60.

14. आरंभयज्ञा: क्षत्रस्य हविर्यज्ञा विशांपते: ।
परिचारयज्ञा: शूद्रास्तु जपयज्ञा द्विजोत्तमा: । तत्रैव, 57/50.

15. यज्ञ निष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै ।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् । विष्णु पुराण, 1/6/7.

16. मत्स्य पुराण, 142/50 तथा ब्रह्माण्ड पुराण, 2/29/55.

17 तम्भेदश्चैव वर्णानां कार्याणां च विनिर्णय: । वायु पुराण, 58/4.

18. तदा प्रवर्तते धर्मो वर्णाश्रमविभागश: ।
मर्यादास्थापनार्थं च दण्डनीति: प्रवर्तते । तत्रैव, 57/82.

19. तत्रैव, 57/51-53.

20. विष्णु पुराण, 1/6/32; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/29/57; मत्स्य पुराण, 142/52.

21. ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा द्रोहिजनास्तथा ।
भविता: पूर्वजातीषु कर्मभिश्च शुभाशुभै: । वायु पुराण, 8/140-141.

22. विष्णु पुराण, 1/6/4-5.

23. ब्रह्मक्षत्रविशो युक्ता यस्मात्तस्माद्द्विजातय: । वायु पुराण, 59/21.

24. विष्णु पुराण, 3/8/32.

25. ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातय: । मनुस्मृति, 10/4.

26. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् । आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/1/1-6.

27. वायु पुराण, 8/173-174.

28. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/165-167;
विष्णु पुराण, 1/6/34-35.

29. ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेतातु क्षत्रियस्य स्मृतम् ।
वैश्यं द्वापरमित्याहुः शूद्रं कलियुगं स्मृतम् । वायु पुराण, 78/38.

30. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्राश्च द्विजसत्तम् ।
युगे युगे महात्मानः समतीतास्सहस्रशः । विष्णु पुराण, 4/24/116.

31. वायु पुराण, 8/161-166.

32. तत्रैव, 8/169-172.

33. विष्णु पुराण, 2/3/9; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/161-163;
मत्स्य पुराण, 114/12.

34. तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णा पश्चादनुयन्त्यक ।
शतपथ ब्राह्मण, 6/4/4/13.

35. ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । पूर्वेषु नियमस्तु ।
राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् । वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम् ।
गौतम धर्मसूत्र, 10/1-3, 7, 50; आपस्तम्ब 2/5, 10/5-8;
बौधायन, 1/10/2-5; मनु , 1/88-90.

36. ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो जयते महीम् ।
वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रः सुखमवाप्नुयात् । वायु पुराण, 54/112.

37. मत्स्य पुराण, 194/50.

38. दशरात्रमशौचं तु प्रोक्तं वै मृतसूतके ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण क्षत्रियेद्वादशं स्मृतम् ।
अर्धमासं तु वैश्यस्य मासाच्छूद्रस्तु शुध्यति । वायु पुराण, 79/23-24.

39. विष्णु पुराण, 3/13/19.

40. शावमशौचं दशरात्रम् ------ एकादशरात्रं क्षत्रियस्य ।
द्वादशरात्रं वैश्यस्य अर्धमासमेके । मासं शूद्रस्य । गौतम धर्मसूत्र, 14/1-5.
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिप: ।
वैश्य: पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति । मनुस्मृति, 5/83.

41. विधूय तानुजो दोषानब्राह्मण्यं प्राप्तवान्प्रभु: । वायु पुराण, 99/94.

42. रथीतराणां प्रवरा: क्षात्रोपेता द्विजातय: । तत्रैव, 88/7.

43. विष्णु पुराण, 4/19/26.

44. बालेया ब्राह्मणाश्चैव तस्य वंशकरा: प्रभो: । वायु पुराण, 99/29.

45. पृषध्रो गोवधाच्छूद्रो गुरुशापादजायत ।
मत्स्य पुराण, 12/25; ब्रह्माण्ड पुराण, 3/61/2.

46. शनकैस्तु क्रियालोपादिमा: क्षत्रियजातय: ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणातिक्रमेण च । मनुस्मृति, 10/43;
महाभारत, 13/33.

47. आपत्कल्पो हि ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोग: । गौतम धर्मसूत्र, 7/1.
अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मण: स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण सह्यस्य प्रत्यनन्तर: । मनुस्मृति, 10/81.

48. विष्णु पुराण, 3/8/40.

49. मनो: क्षत्रं विशश्चैव सप्तर्षिभ्यो द्विजातय: । वायु पुराण, 62/22.

50. मत्स्य पुराण, 167/28.

51. न मीमांस्या: सदा विप्रा: पवित्रंह्येतदुत्तमम् । वायु पुराण, 79/4.

52. विष्णु पुराण, 3/8/24.

53. निवसन्नात्मवान्द्विज: । मनुस्मृति, 5/42.

54. ये तु व्रते स्थिता नित्यं ज्ञाननिनोध्याननिनस्तथा ।
देवभक्ता महात्मान: पुनीयुर्दर्शनादपि । वायु पुराण, 79/91.

55. ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य ------- । तत्रैव, 62/108.

56. तत्रैव, 34/74.

57. तत्रैव, 41/48.

58. तत्रैव, 38/62.

59. तत्रैव, 59/107.

60. तत्रैव, 48/23.

61. तत्रैव, 34/93.

62. तत्रैव, 49/135.

63. तत्रैव, 97/136-142.

64. एते वै देवा: प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणा: । तैत्तिरीय संहिता, 1/7/3/1.

65. अथर्ववेद, 5/17/19.

66. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/198.

67. प्रत्यक्षदेवता: ब्राह्मणा: । विष्णु स्मृति, 19/20.

68. वायु पुराण, 101/158.

69. न ब्राह्मणान् परीक्षेत् सदा देये तु मानव: । तत्रैव, 83/21.

70. युष्मान्ये पूजयिष्यन्ति तैरहं पूजित: सदा । तत्रैव, 106/84.

71. तत्रैव, 4/5-8.

72. तत्रैव, 59/141.

73. मत्स्य पुराण, 109/13-14.

74. ब्राह्मणो नावमन्तव्यो वन्दनीयश्च नित्यश: । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/28/54

75. विष्णु धर्मसूत्र, 19/20-22.

76. मनुस्मृति, 11/84.

77. ब्राह्मणान्न निन्देत । बृहदारण्यक उपनिषद, 2/20/2.

78. आदिपर्व, 28/3-4.

79. विप्राणां कर्मदोषैस्तै: प्रजानां जायते भयम् । वायु पुराण, 58/36.

80. शाकल्ये तु मृते सर्वे ब्रह्मज्ञास्ते बभूविरे ।
----- यूयं व: सद्य: पापंप्रणश्यति । तत्रैव, 60/67-68.

81. तत्रैव, 61/12-15.

82. विष्णु पुराण, 2/6/9.

83. मत्स्य पुराण, 227/214.

84. ब्रह्महत्यायै प्रायश्चित्तिः । शतपथ ब्राह्मण, 13/3/5/4.

85. तैत्तिरीय संहिता, 5/3/12/1-2

86. छान्दोग्य उपनिषद, 5/10/9.

87. गौतम धर्मसूत्र, 21/1.

88. मनुस्मृति, 11/54; विष्णु स्मृति, 35/1; याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/227.

89. विद्या वित्तं द्विजोत्तमाः । वायु पुराण, 60/38.

90. ब्रह्मिष्ठानांबलंविद्धि विद्यातत्त्वार्थदर्शनम् । तत्रैव, 60/53.

91. तत्रैव, 59/90-91.

92. यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स वै सम्भवति द्विजानाम् ।
मत्स्य पुराण, 38/2.

93. छान्दोग्य उपनिषद, 6/1/1.

94. बौधायनगृह्यपरिभाषा 1/10/5-6; तैत्तिरीय संहिता, 2/1/5/5.

95. संहिताश्च ततो मन्त्रा ऋषिभिर्ब्राह्मणैस्तु ते । वायु पुराण, 57/60.

96. पुरा कृतयुगे विप्रो वेदनिर्णयतत्परः ।
वसिष्ठो नाम धर्मात्मा मानसो वै प्रजापतेः । तत्रैव, 54/18.

97. तत्रैव, 61/88-92.

98. तत्रैव, 61/26-27.

99. मत्स्य पुराण, 21/31.

100. प्रतिलोमं चैतद्‌ ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्‌ ब्रह्म मे वक्ष्यतीति ।
बृहदारण्यक उपनिषद्‌, 2/1/15.

101. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/2/4/25-28.

102. याजनाध्यापनं चैव तृतीयं च प्रतिग्रहम्‌ । वायु पुराण, 8/169.

103. ब्राह्मणेभ्यो विशेषेण मुखमेतत्तु दैवतम्‌ । तत्रैव, 50/199.

104. तत्रैव, 93/30-31.

105. गान्दिनीं नाम गां सा हि ददौ विप्राय नित्यशः । तत्रैव, 96/105.

106. तत्रैव, 98/75-77.

107. यज्ञस्य प्रतिष्ठार्थं विप्रेभ्यो दक्षिणां ददौ । तत्रैव, 106/42.

108. मत्स्य पुराण, 41/11.

109. गौतम धर्मसूत्र, 9/63; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/100;
विष्णु धर्मसूत्र, 61/1.

110. मनुस्मृति, 7/134; याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/44;
गौतम धर्मसूत्र, 10/9-10.

111. पूर्वं निवेदयेत्पिण्डं पश्चाद्विप्रांश्च भोजयेत्‌ । वायु पुराण, 76/26.

112. देवाश्च पितरश्चैवव ह्निश्चैव हि तान्द्विजान् ।
आविश्य भुञ्जते तद्वै लोकानुग्रहकारणात् । तत्रैव, 79/14.

113. सहस्त्रशस्तु विप्रान्वै भोजयेद्यावदागतान् । तत्रैव, 71/67.

114. तत्रैव, 79/56-58.

115. तत्रैव, 80/27-28.

116. मत्स्य पुराण, 204/1.

117. अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् । मनुस्मृति, 3/128.

118. याजनाध्यापनं -------- प्रतिग्रहम् । वायु पुराण, 8/169.

119. परीक्षितस्तु दायादो राजासीज्जनमेजयः ।
ब्राह्मणान् स्थापयामास स वै वाजसनेयिकान् । तत्रैव, 99/244.

120. विष्णु पुराण, 4/5/1-2; मत्स्य पुराण, 201/1.

121. ऋग्वेद, 3/33/8; 7/18/83.

122. ऐतरेय ब्राह्मण, 18/24.

123. ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् । जैमिनी, 6/6/18.

124. भार्या पुरोहितश्चैव सेनानी रथकृच्च यः ।
मन्त्रग्रामः कलभश्चैव प्राणिनः संप्रकीर्तिताः । वायु पुराण, 57/70.

125. तत्रैव, 88/136-138.

126. तत्रैव, 93/76-88.

127. तत्रैव, 92/99.

128. अर्धात्मा ह वा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः । ऐतरेय ब्राह्मण, 34/8.

129. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 1/39-41; मनुस्मृति, 7/37, 10/2; तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/2/1.

130. वायु पुराण, 62/125-126.

131. अयोध्यां चैव राज्यं च तथैवान्तःपुरं मुनिः ।
याज्योपाध्यायसंयोगाद्वसिष्ठः पर्यरक्षत । तत्रैव, 88/94.

132. तत्रैव, 88/120.

133. तत्रैव, 99/449.

134. कीर्तनं ब्रह्मक्षत्रस्य ------ । तत्रैव, 1/47.

135. तत्रैव, 28/37.

136. ऋग्वेद, 1/157/2.

137. तत्रैव, 4/42/1.

138. बाहू राजन्यः कृतः । तत्रैव, 10/90/12.

139. तत्क्षत्रायैवैतद्विशं ------- । शतपथ ब्राह्मण, 5/3/3/10.
तस्माद् क्षत्रियेण ------ । तत्रैव, 4/1/4/6.
तस्माद् ब्राह्मणो राजन्यवान् । तैत्तिरीय संहिता, 4/1/10.

140. ------- क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः । गौतम धर्मसूत्र, 5/44.
क्षत्रियं चैव --------- मनुस्मृति, 4/135.
ब्रह्मक्षं च --------- तत्रैव, 9/322.
न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते । तत्रैव, 3/110.

141. स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वपलायिनाम् । वायु पुराण, 8/173-174

142. ------- क्षत्रियो जयते महीम् । तत्रैव, 54/111.

143. तत्रैव, 63/8.

144. मत्स्य पुराण, 215/8-10.

145. द्रष्टव्य, सेक्रेड बुक ऑफ ईस्ट, 44, पृष्ठ 295.

146. क्षत्रियश्च ---- जेता लभते सांग्रामिकं वित्तम् । गौतम धर्मसूत्र, 10/18-19.
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं -------- । मनुस्मृति, 7/44.
ये आहवेषु बध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः । याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/324.

147. वायु पुराण, 8/162.

148. अनष्ट द्रव्यश्चैवाऽऽसीन्न शोको न च विभ्रमः ।
प्रभावेण महाराज्ञः प्रजा धर्मेण रक्षताः । तत्रैव, 94/22.

149. दस्यून्संनिग्रहेण च ------- । तत्रैव, 93/66.

150. विष्णु पुराण, 3/8/27.

151. राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् । गौतम धर्मसूत्र, 10/7.
प्रजानां रक्षणं ---------- । मनुस्मृति, 1/89.

152. प्रजाभ्यस्त्वभयं सदा ------- । याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/323.

152. दीनांश्चानुग्रहैरिष्टैः कामैश्चद्विजसत्तमान् ।
अतिथीनन्नपानैश्च वैश्यांश्च परिपालनैः ।
आनृशंस्येन शूद्राश्च ------------- । वायु पुराण, 93/65-66

153. तत्रैव, 94/11-12.

154. चतुरो नियतान्वर्णान्स वै स्थापयिता प्रभुः । मत्स्य पुराण, 48/28.

155. वर्णसंस्थां करोति यः । विष्णु पुराण, 3/8/29.

156. ऐतरेय ब्राह्मण, 39/6.

157. बहुधार्मिकाः सर्वे यज्वानो भूरिदक्षिणाः । वायु पुराण, 88/31.

158. तत्रैव, 95/15-17.

159. नाऽसत्यवादी न त्वासीन्नायज्वानासहस्त्रदः । तत्रैव, 96/122.

160. कौटिल्य-अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री-सम्पादित), पृष्ठ 7;
प्रजानां रक्षणं दानमिज्या ------ मनुस्मृति, 1/89.

161. सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः । वायु पुराण, 88/30.

162. संधाय वाक्यमिन्द्रेण प्रपच्छुश्चेप्सितं वसुम् । तत्रैव, 57/103.

163. तत्रैव, 96/109.

164. मत्स्य पुराण, 215/54.

165. बृहदारण्यक उपनिषद, 4/2/1.

166. मनुस्मृति, 1/89.

167. वायु पुराण, 91/115-117.

168. मनुस्तु योगमास्थाय कलापग्राममास्थितः । तत्रैव, 88/209.

169. तत्रैव, 93/102.

170. तत्रैव, 93/5-6.

171. महायोगित्वमायुश्च कल्पायुः ------- । तत्रैव, 99/29-30.

172. तत्रैव, 99/437-438.

173. विष्णु पुराण, 4/9/30; मत्स्य पुराण, 24/42; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/14/61.

174. वायु पुराण, 99/142-158.

175. स्मृताश्चैतेततोगार्ग्याः क्षात्त्रोपेता द्विजातयः ।तत्रैव, 99/161.

176. मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः क्षात्त्रोपेता द्विजातयः ।
एते ह्याङ्गिरसः पक्षे संश्रिताः ---------- । तत्रैव, 99/198.

177. तत्रैव, 93/77.

178. तत्रैव, 99/201-205.

179. तत्रैव, 28/34-35.

180. तत्रैव, 91/89-90.

181. तत्रैव, 28/27-29.

182. ब्रह्मक्षत्रविशोयुक्ता यस्मात्तस्माद्‌द्विजातयः । तत्रैव, 59/21.

183. तस्माद् ब्रह्मणश्च क्षत्रस्य विशोन्यतोऽपक्रमिणीः ।
तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/6/5;
तत्क्षत्रायैवैतद्विशं ------- । शतपथ ब्राह्मण, 4/3/3/10.

184. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग 2, खण्ड 1, पृष्ठ 33.

185. प्राणसंमितो वैश्यस्य । वसिष्ठ धर्मसूत्र, 11/57.
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो ---- । मनुस्मृति, 11/67.

186. वैश्यानेव तु तानाहुः कीनाशान्वृत्तिसाधकान् । वायु पुराण, 8/165.

187. विष्णु पुराण, 3/8/30.

188. वायु पुराण, 93/66.

189. तत्रैव, 101/162.

190. वैदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 333-334.

191. ऐतरेय ब्राह्मण, 35/3.

192. वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात आद्या अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः । तैत्तिरीय संहिता, 7/1/1/5.

193. वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणञ्चैव --------------- । मनुस्मृति, 8/410.

194. वैश्यस्याधिकं कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यकुसीदम् । गौतम धर्मसूत्र, 2/5/50.

195. कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् । महाभारत, भीष्मपर्व, 42/44.

196. ------- कृषिपाशुपाल्येवाणिज्या च । अर्थशास्त्र, 3/7.

197. सामान्यानि तु कर्माणि ब्रह्मक्षत्रविशां पुनः ।
यजनाध्ययनं दानं सामान्यानि तु तेषु च । वायु पुराण, 8/172.

198. तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते । विष्णु पुराण, 3/8/31.

199. पशुकामः खलु वैश्यो यजते । तैत्तिरीय संहिता, 2/5/10/2.

200. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । मनुस्मृति, 1/90.

201. वैश्य इव करप्रदा । महाभारत, 2/47/28.

202. मनोः क्षत्रं विशश्चैव ------- । वायु पुराण, 62/21.

203. तत्रैव, 101/153.

204. ब्राह्मणैः क्षत्त्रियैर्वैश्यैः सर्वैः स्वधर्मानुष्ठिते । तत्रैव, 99/106.

205. वैश्यैरपि --- पृथुरेव --- वृत्तिदाता --- । तत्रैव, 63/10.

206. पापकारिणः वैश्या --- शूद्राश्च ------- । तत्रैव, 30/320.

207. ऐतरेय ब्राह्मण, 29/4.

208. ताण्ड्य ब्राह्मण, 6/1/10.

209. द्रव्यादानं ----- अन्यत्रापि शूद्राद् । गौतम धर्मसूत्र, 18/25-28.
तदलाभे वैश्यात् । मस्करिभाष्य, पृष्ठ 296, महाभारत, 12/165-167.
यो वैश्यः स्याद्बहुपशु --- तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये । मनुस्मृति, 11/12.

210. ------- पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसूताः । वायु पुराण, 9/121.

211. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या वृषलाश्चैव सर्वशः । तत्रैव, 78/29.

212. पद्भ्यां शूद्रोऽजायत । ऋग्वेद, 10/90/12.

213. बृहदारण्यक उपनिषद्, 6/4/18.

214. कुशीलवोऽवकीर्णाश्च वृषलीपतिरेव च । मनुस्मृति, 3/154.

215. शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु येरताः ।
निस्तेजसोऽल्पवीर्याश्च शूद्रांस्तानब्रवीत्तु सः । वायु पुराण, 8/165-166.

216. शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः । तत्रैव, 8/171.

217. तत्रैव, 7/27.

218. ----- शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् । विष्णु पुराण, 1/6/35.

219. ----- परिचारयक्षा: शूद्राश्च । मत्स्य पुराण, 142/50.

220. अन्यस्य प्रेष्य: कामोत्थाप्यो ----- । ऐतरेय ब्राह्मण, 35/3.

221. शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् । आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/1/1/7-8;
परिचर्या चोत्तरेषाम् । गौतम धर्मसूत्र, 10/57-59;
तेषां परिचर्या शूद्रस्य नियता च वृत्तिः । वसिष्ठ धर्मसूत्र, 2/20;
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया । मनुस्मृति, 1/91.

222. शूद्रास्तद्द्विगुणास्तत्र ----- द्वयं द्रुतं नु प्रत्येकं द्विजान्मभवतभोद्विजा: ।
वायु पुराण, 59/111-112.

223. तत्रैव, 99/67-94.

224. तत्रैव, 86/1-2.

225. शूद्रायानुपेताय श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत । तत्रैव, 79/84.

226. विष्णु पुराण, 2/6/18.

227. कात्यायन श्रौतसूत्र, 1/4/5.

228. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं
न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते ।
वसिष्ठ धर्मसूत्र, 4/3, अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृष्ठ 23.

229. शूद्रयाजिन: ------- । विष्णु स्मृति, 82/14; मनुस्मृति, 3/178.

230. शूद्रेणापि कर्त्तव्या पंचैते मन्त्रवर्जिताः । वायु पुराण, 76/19.

231. तत्रैव, 30/320.

232. मनुस्मृति, 10/127.

233. अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः पाकयज्ञैस्स्वयं यजेतेत्येके ।
गौतम धर्मसूत्र, 10/63-64.
नमस्कारेण मन्त्रेण पंचयज्ञान्न हापयेत् । याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/122.

234. वायु पुराण, 93/66.

235. अमात्यश्च यः शूद्रो भवभक्तो जितेन्द्रियः । तत्रैव, 101/353.

236. विष्णु पुराण, 3/8/34; मत्स्य पुराण, 17/71.

237. नारदस्मृति, ऋणादान, 58.

238. भारद्वाज श्रौतसूत्र, 5/2/8.

239. इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ ।
अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्तधर्मे न वैदिके ।
अत्रि 46; लघुशंख 6; अपरार्क पृष्ठ 24.
द्रष्टव्य काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, प्रथम भाग, पृष्ठ 163.

240. वायु पुराण, 99/326-329.

241. ग्रामरत्नानि दासांश्च मुनीन्प्राह नराधिपः ।
सर्वानहं प्रपन्नोऽस्मि शिरसा --------- । तत्रैव, 60/37.

242. तत्रैव, 88/104-105.

243. मत्स्य पुराण, 186/30.

244. शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम् ।
शतं दासां अति स्त्रजः । ऋग्वेद, 8/56/3.

245. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधना स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् । मनुस्मृति, 8/416.
त्रय एवाधना भार्या पुत्रश्च दासस्तथा सुतः । नारदस्मृति, 5/41.

246. प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्जवा वेणुदलेन वा । मनुस्मृति, 8/299.

247. पतंजलि, महाभाष्य, 2/3/69.

248. स्पृष्ट्वा श्वानं श्वपाकं वा तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् । वायु पुराण, 78/67.

249. तत्रैव, 88/82-83.

250. मत्स्य पुराण, 184/56.

251. विष्णु पुराण, 3/11/55.

252. कपूयचरणा अभ्याशो ----- चाण्डालयोनिं वा ।
छान्दोग्य उपनिषद, 5/10/7.

253. चाण्डालस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/1/8.

254. ----- चाण्डालो सर्वधर्मबहिष्कृतः । मनुस्मृति, 3/239.

255. छान्दोग्य उपनिषद, 5/10/7; महाभारत, 12/296/5-9.

256. गौतम धर्मसूत्र, 21/6-10; बौधायन धर्मसूत्र, 1/9/3;
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/2/4/9/5.

257. मनुस्मृति, 10/40.

258. अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद्वर्णवैकृतम् ।
यच्च क्षत्रात्सम्भवद्ब्राह्मण्यां हीनयोनितः ।
सूतः पूर्वेण साधर्म्यात्तुल्यधर्मः प्रकीर्तितः । वायु पुराण, 62/140.

259. भैक्षचर्या विवर्णेषु जघन्या वृत्तिरुच्यते । तत्रैव, 16/12;
'विवर्ण' पाठ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में मिलता है । आनन्दाश्रम द्वारा प्रकाशित वायु पुराण की प्रति में 'त्रिवर्ण' पाठ मिलता है ।

260. शूद्राणामन्त्ययोनेस्तु सम्बन्धा ब्राह्मणैः सह । तत्रैव, 58/39.

261. न संकरश्चतेऽवर्त्तितवर्णाश्रमकृतः क्वचित् । तत्रैव, 49/101.

262. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/7/19.

263. मत्स्य पुराण, 227/54.

264. मनुस्मृति, 10/24.

265. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/361; गौतम धर्मसूत्र, 11/9-19;
वसिष्ठ धर्मसूत्र, 19/7-8.

266. महाभारत, अनुशासन पर्व, 48/1.

267. वायु पुराण, 10/36; मनुस्मृति, 10/36.

268. वायु पुराण, 99/269; मनुस्मृति, 10/15.

269. तत्रैव, 99/269; तत्रैव, 10/34.

270. बौधायन धर्मसूत्र, 1/9/7.

271. वायु पुराण, 47/51-52.

272. मत्स्य पुराण, 121/49.

273. गौतम धर्मसूत्र, 4/17.

274. अमरकोश, 2/10/20.

275. वायु पुराण, 62/121-123.

276. मनुस्मृति, 10/8.

277. वायु पुराण, 99/269.

278. वैखानस स्मृति सूत्र, 10/14.

279. मनुस्मृति, 10/8; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/92.

280. वायु पुराण, 62/140-149.

281. मनुस्मृति, 10/11; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/94.

282. तत्रैव, 10/11 तत्रैव, 1/93.

283. तुषारान्बर्बरांश्चीनाञ्शूलिकान्दरदान्खशान् । वायु पुराण, 58/84.

284. वैखानस स्मृति सूत्र, 10/13.

285. महाभारत, द्रोणपर्व, 93/42.

286. मनुस्मृति, 10/43-44.

287. गौतम धर्मसूत्र, 4/17.

288. वायु पुराण, 104/13.

289. मत्स्य पुराण, 184/67.

290. विष्णु पुराण, 4/24/69; बौधायन धर्मसूत्र, 1/9/15.

सांसारिकता और आध्यात्मिकता की सम्मिश्रित अभिव्यक्ति

आश्रम जीवन

उत्तरवैदिक काल में प्रतिष्ठापित आश्रम व्यवस्था प्राचीन विचारकों के अद्वितीय ज्ञान का प्रतीक है जिसके माध्यम से उन्होंने समग्र रूप में मानव जीवन को क्रमबद्धता प्रदान करते हुए लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म, भोग और त्याग आदि सभी को समन्वित करके विभाजन रेखायें निर्धारित की । धर्मसूत्रों और स्मृतियों के युग में आश्रमों के विभागों के नाम, तद्विषयक नियम, कर्मगत और आचारगत व्यवस्थायें स्थिर हुई । पौराणिक संरचना के काल में आश्रम सम्बन्धी विभाजन को सामाजिक सन्तुलन का आधार मानकर पूर्णरूपेण स्वीकृति दी गई । इसी भावना का निर्वाह आलोचित पुराण में भी प्राप्त होता है जिसमें आश्रम व्यवस्था का उद्भव ब्रह्मा से मानते हुए इसे दैवी अभिव्यक्ति दी गई है । एक स्थल पर वर्णित है कि ब्रह्मा ने वर्ण धर्म की प्रतिष्ठा हो जाने पर आश्रमों का स्थापन किया। प्रजावर्ग को कर्मनिष्ठ बनाने के लिये चार आश्रमों का विधान किया और धर्म,आचार यम नियमादि का उपदेश दिया ।[1] अन्यत्र आश्रम का संश्रय स्थान विष्णु को बताया गया है ।[2] इस प्रकार जन समुदाय द्वारा सरलतापूर्वक इसे अनुपालित करने के उद्देश्य से देवोद्भूत माना गया । अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी इन्हीं विचारों की पुष्टि होती है । मत्स्य पुराण के एक प्रसंग में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, अरण्य तथा यति जैसे चतुराश्रम स्तर के सम्बोधनशील शब्दों को शिव के विशेषण के लिये प्रयुक्त किया गया है ।[3]

समाज का अविभाज्य अंग बन जाने पर आश्रम व्यवस्था के मूल में धर्म को समाहित कर दिया गया । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि आश्रम धर्म का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति नरक में जाते हैं ।[4] अन्यत्र इस व्यवस्था का उद्देश्य धर्म बताया गया है ।[5] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं ब्रह्मा के

अनुसार सभी आश्रम कल्याण के लिये हैं, किन्तु सत्य, दया, योग, वेद, यजन, व्रत, नियम आदि कर्म सद्भावनारहित श्रद्धाहीन व्यक्तियों के लिये फलप्रद नहीं होते हैं ।[6] विष्णु पुराण के अनुसार व्यक्ति को विभिन्न आश्रमों का पालन करने से विशिष्ट लोक की प्राप्ति होती है ।[7] यह विशिष्ट लोक ही परम लोक है, जो परम मोक्ष की ओर इंगित करता है । मत्स्य पुराण में उल्लिखित है कि इसका पालन न करने वाले अथवा निरादर करने वाले यातना के भागी होते थे ।[8] अतः धर्माचरण को आश्रम जीवन से सम्बन्धित करके समाज में मानसिक-नैतिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया । पौराणिक उद्धरणों के समान आश्रमों की महत्ता विषयक दृष्टांत अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं । छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि आश्रम धर्म का पालन करने वाले पुण्य-लोक की प्राप्ति करते हैं ।[9] नारद स्मृति के एतत्सम स्थलों पर राजशासन का उद्देश्य आश्रम व्यवस्था की रक्षा करना बताया गया है ।[10] इस प्रकार उत्कृष्ट उद्देश्यों से समन्वित आश्रम सिद्धान्त सामाजिक उत्थान की अपेक्षा व्यक्तिमात्र के जीवन को उन्नत और समृद्ध बनाने के लिये था ।

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में सुनियत और सुगठित समाज के लिये आश्रम धर्म के पालन का अनुमोदन किया गया है । एक स्थल पर वर्णित है कि कलियुग में चारों आश्रमों के शिथिल होने के कारण सूक्ष्म किन्तु महान् फल देने वाला अतिशय दुर्लभ दानमूलक धर्म भी विचलित हो जायेगा ।[11] यहीं पर प्रसंगान्तर में कहा गया है कि प्रभु सर्वदा युगों के स्वभाव के अनुसार तत्तद्युग की कार्यसिद्धि के लिये वर्णाश्रम के आचार व्यवहार से युक्त सृष्टि का विधान सम्पादित करते हैं ।[12] अन्यत्र वर्णित है कि शास्त्र से विरोध ।न। करने वाले वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुयायी शिष्ट कहे जाते हैं ।[13]

आश्रमों की क्रमानुसार संख्या

आलोचित पुराण के निर्देशानुसार आश्रमों की संख्या चार है । एक प्रसंग में ब्रह्मा द्वारा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक नामक चार आश्रमों को स्थापित

करने की चर्चा की गई है ।[14] अन्य पुराणों में भी आश्रम की संख्या चार ही बताई गई है । नामों में अवश्य परिवर्तन प्राप्त होता है । मत्स्य पुराण में गृहस्थ, भिक्षु, आचार्यकर्मा (ब्रह्मचारी) और वानप्रस्थ का उल्लेख है[15] जबकि विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राट केवल ये चार आश्रम ही संभावित हैं ।[16] यह मानना उचित होगा कि पौराणिक काल के पूर्व ही आश्रमों की संख्या का निर्धारण हो चुका था । संहिताओं अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आश्रम' शब्द नहीं मिलता है परन्तु 'ब्रह्मचारी' शब्द ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में वर्णित है । ब्रह्मचर्य की चर्चा तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में हुई है ।[17] ऋग्वेद में 'गृहस्थ' शब्द भी व्यवहृत हुआ है ।[18] सूत्रों और स्मृतियों में उल्लिखित चतुर्थ आश्रम में 'यति' की चर्चा वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है । ऋग्वेद में 'यति' शब्द का व्यवहार अनेक स्थलों पर हुआ है परन्तु अर्थ सन्देहास्पद है ।[19] वैदिक वर्णनों में सर्व आश्रमों के समानार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु किसी भी स्थल पर क्रमानुसार व्यवस्था नहीं मिलती है । उपनिषदों के काल तक आश्रम-बोधक भावना की पूर्वपीठिका अवश्य प्रस्तुत हो चुकी थी ।[20] धर्मसूत्रों में चारों आश्रमों का स्पष्ट नामोल्लेख है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन और वानप्रस्थ; ये चार आश्रम बताये गये हैं ।[21] गौतम धर्मसूत्र ने चारों को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वानप्रस्थ नाम दिया है ।[22] मनुस्मृति में भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति नामक चार आश्रमों का वर्णन है ।[23] ब्राह्मणों के लिये ये चारों आश्रम अत्यन्त आवश्यक बताये गये ।[24] महाकाव्यों में भी चारों आश्रम वर्णित हैं ।[25]

ब्रह्मचर्य आश्रम

मानसिक और बौद्धिक उत्कर्ष ब्रह्मचर्य के अनुपालन से ही सम्भव था । प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में गुरु के निकट रहने वाले अर्थात् गुरु के घर रहते हुए ब्रह्मचर्यार्थ विहित कर्मों को सम्पन्न करने वाले ब्रह्मचारी के लिये, अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषियों

ही स्थानों के समान ही स्थान की व्यवस्था का उल्लेख है ।[26] यही विचार विष्णु पुराण में भी प्रतिपादित किये गये हैं और उपनयन सम्पन्न होने के पश्चात् बालक को ब्रह्मचर्य के निर्वाह के लिये और वेदाध्ययन के उद्देश्य से गुरु गृह का आश्रय लेने की चर्चा की गई है ।[27] गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन करने की व्यवस्था पौराणिक काल के पहले से विद्यमान थी ।[28]

आलोचित पुराण में वर्णित ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में दण्ड, मेखला और जटा धारण करना, भूमि पर शयन करना, गुरु की सदैव सेवा करना और भिक्षावृत्ति, ये विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिये पालनीय धर्म बताये गये हैं ।[29] अन्यत्र उल्लिखित है कि आश्रम धर्म का पालन करने वाले अपने अपने धर्मों के पथ पर अडिग रहने के कारण साधु कहे जाते हैं, वे चाहे गृहस्थ हों, चाहे ब्रह्मचर्य व्रत में विद्याभ्यास करने वाले विद्यार्थी हों ।[30] प्रसंगान्तर में कहा गया है कि गुरु का हित करने वाला ब्रह्मचर्य व्रत परायण विद्यार्थी विद्या की साधना से तन्मय रहने के कारण साधु कहा जाता है ।[31] अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी ब्रह्मचर्य आश्रम में किये जाने वाले इन्हींकर्तव्यों का समर्थन मिलता है । मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मचर्य में तभी सिद्धि मिल सकती है जबकि ब्रह्मचारी अध्ययन में अनवरत संलग्न रहे ।[32] विष्णु पुराण के शतशम स्थलों पर वर्णित है कि ब्रह्मचारी का कर्तव्य गुरु के प्रतिकूल नहीं होना चाहिये ।[33] सूत्रों और स्मृतियों में भी ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध में ऐसी ही भावना निरूपित है । ब्रह्मचारी के भिक्षार्जन, भोजन, शयन, गुरुसेवा, समिधा दान, निवास आदि पर अनेक नियमों का विधान था ।[34] ब्रह्मचारी आचार्य की अधीनता स्वीकार करते हुए गुरु की सेवा करता ह था और ऐसा करने वाला जितेन्द्रिय विद्यार्थी स्वर्ग को प्राप्त करता था ।[35] सत्यभाषी, अनंहकारमानता और गुरु के पहले जाग जाना उसके लिये आवश्यक था ।[36]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि ब्रह्मचर्य बाधक कार्यों से पृथक होकर मन से उनकी कल्पना न करना और भोग विलास विषयक अन्य पदार्थों से भी

वास्तविक निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही ब्रह्मचर्य है ।[37] विष्णु पुराण में निरूपित है कि ब्रह्मचारी को पवित्रता से रहना चाहिये । उसे एकाग्रचित्त होना चाहिये ।[38] मत्स्य पुराण में भी प्रमाद से दूर रहने और इन्द्रिय संयम का आग्रह किया गया है।[39] ब्रह्मचारी के कर्तव्यों के विषय में मनुस्मृति में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । एक स्थल पर कहा गया है कि ब्रह्मचारी के लिये यह अपेक्षित है कि वह निष्कपट रूप से एकत्रित भिक्षा से प्राप्त अन्न को गुरु के लिये समर्पित करके भोजन करें ।[40] अन्यत्र ब्रह्मचर्य का मूल आधार इन्द्रिय निग्रह बताया गया है ।[41] ब्रह्मचर्य आश्रम की आवश्यकता इतनी अधिक मानी गई थी कि जो द्विज होकर इसका पालन नहीं करते थे, वे पतित समझे जाते थे ।[42]

गृहस्थ आश्रम

आलोचित पुराण में प्रतिपादित किया गया है कि चारों आश्रमों के मध्य गृहस्थ आश्रम ही अन्य आश्रमों की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है, अतः यह ही अन्य सभी आश्रमों का स्रोत है ।[43] इस आश्रम का अतिसम्माननीय और महत्वपूर्ण स्थान धर्मशास्त्र सम्मत है क्योंकि मनुस्मृति में भी अन्य आश्रमों को इसी पर आश्रित कहा गया है ।[44] धर्मसूत्रों के अनुसार प्रारम्भ में केवल एक ही आश्रम था - वह था गृहस्थ ।[45] कुछ धर्मशास्त्रकारों ने आश्रमों के क्रम निर्धारण में सर्वप्रथम गृहस्थ आश्रम की ही चर्चा की है ।[46] व्यास के अनुसार गृहस्थ धर्म का अनुसरण करके अपने ही गृह में कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसके समस्त पाप धुल जाते हैं ।[47] वास्तव में गृहस्थ आश्रम व्यक्ति की कर्म परायणता का काल माना जाता है, जबकि अन्य तीन आश्रमों के विपरीत उसका समाज से प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है ।[48]

प्रस्तुत पुराण में गृहस्थ के लिये कहीं कहीं पर 'गृही' शब्द का भी व्यवहार किया गया है ।[49] यहाँ वैदिक परम्परा की निरन्तरता दृष्टिगोचर होती है ।

जाबालोपनिषद् में 'गृही' शब्द का प्रयोग मिलता है ।[50] पुराणों के अतिरिक्त वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों में स्मृतियाँ उल्लेखनीय है जिनमें यह प्रवृत्ति मिलती है । मनुस्मृति के एक ही श्लोक में गृहस्थ और गृही दोनों ही शब्दों का व्यवहार हुआ है ।[51]

आलोचित पुराण में गृहस्थ के लिये निश्चित किये गये विधानों में सर्वप्रथम स्त्री परिग्रह का उल्लेख है जिसे ब्रह्मा का आदेश बताया गया है ।[52] विष्णु पुराण में भी ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् पत्नी को विधिवत अंगीकार करना व्यक्ति के लिये आवश्यक कहा गया है ।[53] शास्त्रोक्त विधि से विवाहोपरान्त ही व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है और वंश परम्परा की वृद्धि के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति करता है । ऐतरेय ब्राह्मण में भी सन्तानहीन व्यक्ति का जीवन व्यर्थ माना गया ।[54] ऋग्वेद के अनुसार भी विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवों के लिये यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना है ।[55] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि पत्नी पति की आधी (अर्धांगिनी) है अतः जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है ।[56] सूत्रों और स्मृतियों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन प्राप्त होता है ।[57] अतः पौराणिक उद्धरणों में वैदिक भावना की ही पुष्टि की गई है ।

प्रस्तुत पुराण में आख्यात है कि गृहस्थ साधु कहलाने का अधिकारी तभी हो सकता है जबकि वह कर्मक्षेत्र में साधक की भाँति आचरण करें ।[58] गृहस्थ आश्रम में रहते हुए व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और व्यक्तिगत कर्तव्यों का पालन करता है अतः इसमें ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को प्रधानता दी गई । मत्स्य पुराण में इसी विचार को समर्थित किया गया है कि वस्तुतः साधक के रूप में कर्मयोग से ही ज्ञानयोग की सम्भावना होती है ।[59] महाभारत में भी गृहस्थ आश्रम में देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिये होने वाले आयोजन बताये गये और त्रिवर्ग की प्राप्ति बताई गई ।[60]

आलोचित पुराण में ब्रह्मा द्वारा निरूपित गृहस्थ के कर्तव्यों में अतिथि सत्कार की चर्चा भी की गई है ।[61] विष्णु पुराण में भी मधुर वचनों द्वारा गृहस्थ को अतिथि सत्कार करने का परामर्श दिया गया है ।[62] मत्स्य पुराण के अनुसार अतिथि के लिये भोजन पका कर उसे सन्तुष्ट करना गृहस्थ का परम कर्तव्य समझा गया ।[63] पौराणिक दृष्टान्तों के समान ही धर्मसूत्रों और स्मृतियों में विचार प्रतिपादित मिलते हैं । वशिष्ट धर्मसूत्र में गृहस्थ के लिये अतिथि सत्कार में अग्रणी रहने और उन्हें भोजन-आसन प्रदान करने का उल्लेख है ।[64] मनु के अनुसार जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल, फल फूल से अतिथि की पूजा नहीं होती, वहाँ कोई अतिथि निवास न करें ।[65] अतः अतिथि की सेवा वांछनीय थी और उसे गृहस्थ की कर्म परिधि में रखा गया था ।

याज्ञिक अनुष्ठान और पितृ तर्पण को भी गृहस्थ के लिये निर्धारित कर्तव्य धर्म के अन्तर्गत प्रस्तुत पुराण में रखा गया है ।[66] इनके सम्पादन द्वारा व्यक्ति देव ऋण और पितृ ऋण से मुक्ति पा सकता है । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जन्म लेते ही मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता है ।[67] प्रायः सभी व्यवस्थाकारों ने भी तीन ऋणों का वर्णन किया है जो इस आश्रम में रहते हुए पूरे करने पड़ते हैं । इन ऋणों से मुक्त होना ऐच्छिक न होकर व्यक्ति का अनिवार्य कर्तव्य होता है ।[68] मनुस्मृति में ऋणों की व्याख्या करते हुए उल्लिखित है कि विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर मोक्ष में मन लगाये ।[69] इन्हीं विचारों का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप से पौराणिक उद्धरणों में किया गया है । विष्णु पुराण में वर्णित है कि देवताओं के [illegible]दार्थ गृहस्थ को यज्ञ करना चाहिये ।[70] गृहस्थ के लिये अर्जित धन का याज्ञिक अनुष्ठानों में यथोचित व्यय करना मत्स्य पुराण में भी आवश्यक बताया गया है ।[71] वास्तव में यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा व्यक्ति देवऋण से मुक्त होने के अतिरिक्त अपने लौकिक और पारलौकिक जीवन को आनन्दमय बनाता है । श्राद्ध क्रिया और पितृतर्पण द्वारा वह पितृयज्ञ की व्यवस्था को पूर्ण करता है । श्राद्ध के अवसर पर पितरों को पिण्ड तर्पण

आदि प्रदान करने का कार्य गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव है । गोभिल स्मृति के अनुसार पितरों के तर्पण और श्राद्ध पितृयज्ञ के अन्तर्गत सम्पन्न किये जाते हैं ।[72] विष्णु पुराण में आख्यात है कि गृहस्थ को पितरों की अर्चना पिण्डदान से करनी चाहिये ।[73] ब्रह्माण्ड पुराण में भी गृहस्थ के लिये अपेक्षित कर्तव्यों में श्राद्ध क्रिया पर विशेष बल दिया गया है ।[74] इस प्रकार पितरों के ऋण पितृयज्ञ के सम्पादन द्वारा समाप्त किये जा सकते हैं ।

आलोचित पुराण में आश्रमस्थ स्वधर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिये निर्दिष्ट स्थानों की चर्चा करते हुए उल्लिखित है कि गृहस्थ प्रजापति लोक में वास करते हैं ।[75] इस प्रकार निर्धारित नियमों और आचरणों को करने वाले गृहस्थ के लिये सम्मानित और सन्तोषप्रद व्यवस्था भी प्राप्त होती है ।

वानप्रस्थ आश्रम

आलोचित पुराण में वर्णित है कि राजा बृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलाश्व को राजोचित कार्यों को सम्पन्न करने के लिये निर्दिष्ट कर स्वयं पर्वत का आश्रय लिया[76]। वास्तव में समस्त गार्हस्थ्य कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के उपरान्त सांसारिक बन्धनों को त्याग कर व्यक्ति जीवन के तृतीय क्रम में वानप्रस्थ की ओर उन्मुख होता है । विष्णु पुराण में कहा गया है कि गार्हस्थ्य-उचित कर्मों को पूर्ण करने के बाद अवस्था के ढलने पर मनुष्य को वानप्रस्थी होना चाहिये ।[77] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में आख्यात है कि समस्त राजोचित सुखों से विस्पृहा उत्पन्न होने पर राजा ययाति ने वनवास ग्रहण किया था ।[78] सूत्रों और स्मृतियों में भी एतत्सम विचार प्रतिपादित किये गये हैं । मनु के अनुसार 'जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखें, उसके बाल पक जायें और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जायें तो उसे वन की ओर प्रस्थान करना चाहिये ।[79]'

प्रस्तुत पुराण में वानप्रस्थ आश्रम के लिये 'वैखानस' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । एक स्थल पर घोर जंगल में तपस्या की साधना में निरत रहने वाले वैखानस को साधु कहा गया है ।[80] वायु पुराण के समान ही इस शब्द का व्यवहार अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है । विष्णु पुराण में वानप्रस्थ आश्रम में स्थित सौभरि के क्रिया-कलाप के लिये 'वैखानस-निष्पाद्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है । वस्तुतः 'वैखानस' का प्रयोग अति प्राचीन काल से ही इस आश्रम के सन्दर्भ में किया जाता रहा है । ताण्ड्य महाब्राह्मण में उन वैखानस ऋषियों का वर्णन मिलता है जो मुनिमरण नामक स्थल पर मृत्यु को प्राप्त हुये थे ।[81] गौतम के द्वारा भी वानप्रस्थ के लिये 'वैखानस' शब्द ही वर्णित है ।[82] बौधायनधर्मसूत्र ने उसी को वानप्रस्थ माना है जो वैखानस-शास्त्र से अनुमोदित नियमों का पालन करता है ।[83] मनु ने भी वैखानस को
को वैखानस के मतानुसार चलने को कहा है ।[84] अमरकोश के भाष्यकार क्षीरस्वामी ने वैखानस और वानप्रस्थ, को एकार्थक माना है ।[85] 'वानप्रस्थ' शब्द का प्रचलन अवश्य बहुलता से दृष्टिगोचर होता है परन्तु 'वैखानस' शब्द का भी विलोप नहीं हुआ ।

आलोचित पुराण में वानप्रस्थ वालों के द्वारा करणीय धर्म के अन्तर्गत चीर, पत्र और अजिन धारण करने का उल्लेख है ।[86] ब्रह्माण्ड पुराण में भी वर्णित है कि वस्त्र की आवश्यकता मृगचर्म और पत्तों से पूर्ण करनी चाहिये ।[87] विष्णु पुराण की व्यवस्था में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है कि इस आश्रम में संस्थित व्यक्ति को अपना परिधान और उत्तरीय वन सुलभ चर्म, कुश और काश से निर्मित करना चाहिये ।[88] इन समस्त पौराणिक उद्धरणों पर प्राचीन परम्परा का निर्वाह मिलता है क्योंकि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों के द्वारा ही वानप्रस्थी के लिये इन्हीं नियमों का विधान किया गया है । मृगचर्म, वृक्ष की छाल अथवा कुश से शरीर ढकने का निर्देश देते हुए सिर के बालों और नखों को काटने के लिये भी मना किया गया है ।[89]

वानप्रस्थ जीवन में वनसुलभ आहार का ही सर्वत्र प्रतिपादन मिलता है । प्रस्तुत पुराण में भी धान्य मूल और फल भक्षण व औषधि की व्यवस्था निश्चित की गई है ।[90]

मत्स्य पुराण में भी वानप्रस्थी के आहार में नियमन की पुष्टि की गई है।[91] निश्चय ही यह आश्रम अत्यन्त साधना, संयम और त्यागपूर्ण था जिसमें व्यक्ति समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्त होने और आध्यात्मिक उत्कर्ष का उपक्रम करता था। इसी आधार पर सूत्रों और स्मृतियों में भी शाक, मूल और फल पर निर्वाह करने के लिये प्रत्येक वानप्रस्थी को कहा गया है।[92]

आलोचित पुराण में वानप्रस्थ जीवन में रहते हुए दोनों सन्ध्या काल में डुबकी लगाकर स्नान करने का आदेश दिया गया है।[93] विष्णु पुराण में नित्यप्रति तीन बार स्नान करने की व्यवस्था वानप्रस्थी के लिये की गई है।[94] प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल, तीन बार स्नान करने का नियम धर्मशास्त्रकारों द्वारा भी प्रतिपादित किया गया।[95] मनु ने दो बार स्नान (प्रातः एवं सायं) की भी व्यवस्था दी है।[96] इस प्रकार कठोर एवं शारीरिक कष्टों को सहन करना वानप्रस्थ जीवन का प्रधान नियम ही था। प्रस्तुत पुराण में वानप्रस्थी के लिये अपेक्षित कर्तव्यों में होमानुष्ठान की भी चर्चा की गई है।[97] हवन कार्य का सम्पादन मत्स्य पुराण में वानप्रस्थ जीवन के विधानों के अन्तर्गत रखा गया है।[98] इसी प्रकार विष्णु पुराण में होमकार्य वानप्रस्थी के लिये प्रशस्य बताया गया है।[99] यह पौराणिक परम्परा धर्मशास्त्रों के अनुकूल ही है क्योंकि वन में पहुँच जाने पर व्यक्ति को यज्ञ करने का निर्देश उनमें भी दिया गया है।[100] वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी वानप्रस्थी के लिए 'आहिताग्नि' विशेषणार्थ प्रयुक्त हुआ है।[101]

वानप्रस्थ आश्रम का प्रधान लक्षण तपस्या में निरत रहना था।[102] अन्यत्र महायशस्वी राजर्षि ययाति के द्वारा वन में प्रस्थान करने पर भृगुतुंग नामक स्थान पर तपस्या कर, वहीं पर सौ व्रतों का विधिवत् पालन करने का उल्लेख है।[103] मत्स्य पुराण में अगस्त्य ऋषि के द्वारा वैखानस विधि के अनुसार कठोर तपस्या का आचरण करने का वर्णन किया गया है।[104] गौतम धर्मसूत्र में वैखानस को तपःशील कहा गया है।[105] मनु के अनुसार शरीर की शुद्धि और तपस्या के लिये वानप्रस्थ का सेवन

किया जाता था ।[106] वर्षा में बाहर खड़े होकर, जाड़े में भीगे वस्त्र धारण कर कठिन तपस्या करने और शरीर को विविध प्रकार से कष्ट देने का भी उल्लेख मिलता है ।[107] अतः पौराणिक उद्धरणों में धर्मसूत्रों और स्मृतियों में निरूपित विधानों का ही समर्थन प्राप्त होता है ।

वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश सपत्नीक करना चाहिये अथवा अकेले ही, इस विषय पर धर्मशास्त्रकारों ने विकल्प की व्यवस्था की है । मनु ने इस सम्बन्ध में निर्देश दिया कि यदि ग्राम-आहार तथा परिच्छद को त्याग कर वन में जाने की इच्छा न करने वाली पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व में सौंप कर अथवा वन गमन की इच्छुक पत्नी को साथ लेकर वन को प्रस्थान करना चाहिये ।[108] याज्ञवल्क्य के द्वारा भी इसी नियम की पुष्टि की गई ।[109] पौराणिक स्थलों पर भी इन्हीं विधानों का अनुपालन किया गया है । आलोचित पुराण में राजा ययाति के द्वारा पुत्रों को शिक्षा देकर स्त्री सहित वन को प्रस्थान करने का वर्णन प्राप्त होता है ।[110] विष्णु पुराण में वानप्रस्थ के समय पत्नी संगति ऐच्छिक बताते हुए कहा गया है कि उसे पुत्रों के पास रखा जा सकता है ।[111]

आलोचित पुराण में वर्णित वानप्रस्थ आश्रम विषयक तथ्यों के विवेचन तथा धर्मशास्त्रोक्त विधानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस आश्रम में अत्यन्त जटिल कर्तव्यों का निर्धारण था तथा गृहस्थ आश्रम से यह पूर्णतः पृथक था । अनुशासन और नियमबद्ध कर्तव्यों द्वारा व्यक्ति अपने चरित्र और व्यक्तित्व को तपाता हुआ क्रमिक रूप से समाज और कुटुम्बियों से दूर होता जाता था । इसके विपरीत गृहस्थ आश्रम में अर्थ और काम की महत्ता थी ।[112] यही कारण है कि प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर गृहस्थ आश्रम को रजोगुण का आश्रित माना गया है ।[113] सांख्यकारिका के मतानुसार रजोगुण का स्वभाव उत्तेजनशील होता है ।[114] गृहस्थ के विहित कर्मों में धर्माचरण को स्थान अवश्य दिया गया परन्तु उसमें परमार्थ तत्व का अभाव था । इसी प्रकार वानप्रस्थी निर्लिप्त भाव से समाज से पृथक वन का आश्रय लेकर भावनात्मक

सम्बन्धों को समाप्त करने का प्रयत्न करता था जबकि गृहस्थ समाज में रहते हुए ही समस्त क्रिया कलाप करता था ।

संन्यास आश्रम

समाज में मर्यादा की स्थापनार्थ ब्रह्मा के द्वारा जो चतुराश्रम व्यवस्था निर्धारित की गई उसमें वानप्रस्थ के उपरान्त अन्तिम आश्रम के रूप में संन्यास का उल्लेख किया गया है ।[115] इसी आश्रम के लिये आलोचित पुराण में 'भिक्षु' शब्द का व्यवहार भी किया गया है ।[116] अन्यत्र वर्णित है कि योगाभ्यास में परायण यति योग की साधना में लीन रहने के कारण साधु कहलाने का अधिकारी होता है ।[117] यहाँ संन्यासी के सन्दर्भ में 'यति' शब्द प्रयुक्त हुआ है । एक अन्य स्थल पर भी चतुर्थ आश्रमी के लिये 'यति' शब्द का ही निरूपण मिलता है ।[118] आलोचित पुराण के एक प्रसंग में संन्यासी के लिये 'परिव्राजक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ।[119] मत्स्य और विष्णु पुराण में भी चतुर्थ आश्रमी के लिये 'भिक्षु' शब्द व्यवहृत मिलता है ।[120] विष्णु पुराण के एक प्रसंग में 'परिव्राट' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[121]

वस्तुतः प्रस्तुत पुराण में प्रयुक्त चारों ही शब्दों का व्यवहार धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी प्राप्त होता है ।[122] इनमें 'यति' शब्द सर्वाधिक प्राचीन है । ऋग्वेद में भी उन यतियों का वर्णन है जिन्होंने इन्द्र से रक्षित प्रस्कण्व के विरुद्ध भृगु की रक्षा की थी ।[123] सूत्रकाल से 'संन्यास' और 'भिक्षु' शब्द का प्रचलन अधिक होने लगा । 'संन्यास' का पूर्ण अर्थ त्याग से है[124] भिक्षु का भिक्षावृत्ति से और 'यति' का तपस्वी से ।

आलोचित पुराण में प्रतिपादित किया गया है कि आयु के अन्तिम भाग में तीनों आश्रमों का क्रमशः परित्याग करके उत्तम ज्ञान प्राप्ति के लिये चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे ।[125] अन्य पौराणिक स्थलों पर भी इसी विचार का समर्थन प्राप्त होता

है । ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में वानप्रस्थ के उपरान्त चतुर्थ आश्रम का क्रम निश्चित किया गया है ।[126] विष्णु पुराण में आख्यात है कि मनीषियों ने आश्रमों के क्रम में भिक्षु के आश्रम को चतुर्थ स्थान दिया है ।[127] स्मृतियों में भी इसी व्यवस्था को अनुमोदित किया गया है । मनु के अनुसार अपनी वय के तीसरे भाग को वानप्रस्थ में व्यतीत करके परिव्राजक बनना चाहिये ।[128] बौधायन ने कहा कि सत्तरवें वर्ष संन्यास का अनुगमन करना चाहिये ।[129] क्रमानुसार आश्रमधर्म के पालन के अतिरिक्त कहीं कहीं पर ब्रह्मचर्य अथवा गृहस्थ के उपरान्त परिव्राजक होने का विकल्प भी प्राप्त होता है । यह व्यवस्था जाबालोपनिषद् द्वारा की गई और आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने इसका समर्थन किया ।[130] सम्भवतः यह व्यवस्था सर्वजन सुलभ और समुचित नहीं थी क्योंकि संन्यास आश्रम के लिये एक ऐसी पूर्वपीठिका आवश्यक थी जहाँ मोक्ष का अनुसरण करने से पूर्व व्यक्ति क्रमिक रूप से भौतिक और सांसारिक माया मोह से अनासक्त होते हुए सक्षम बने ।[131] पौराणिक उद्धरणों में आश्रम नियमों पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है तथापि कहीं कहीं पर वैकल्पिक विधान के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं । एक प्रसंग में राजा मित्रज्योति के पुत्रों के सम्बन्ध में वर्णित है कि उन्होंने गृहस्थ आश्रम का परित्याग करने के पश्चात् यति धर्म का आश्रय लिया था ।[132] प्रसंगान्तर में उल्लिखित है कि नहुषपुत्र संयाति ने कुमारावस्था में ही मोक्ष के मार्ग का अवलम्बन करके मुनियों के समान ब्रह्म पद की प्राप्ति की ।[133] मत्स्य पुराण में भी इस प्रकार के दृष्टान्त उपलब्ध हैं ।[134]

सन्यास आश्रम का लक्ष्य निर्लिप्त-निस्पृह होकर मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना था जिसके लिए कठोर साधना अपेक्षित थी । आलोचित पुराण के एक स्थल पर उल्लिखित है कि अन्तिम आश्रम के विधानों का पालनकर्ता, बन्धन के आधारभूत शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग कर, जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है, तब वह जन्म मरण के आवर्त से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।[135] मत्स्य पुराण में भी एतत्सम स्थलों पर आख्यात है कि इस आश्रम को पालन करता हुआ व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त करता

है ।[136] विष्णु पुराण में वर्णित है कि चतुर्थ आश्रम का विधिपूर्वक पालन करने वाला मनुष्य इन्धनहीन अग्नि के समान गतिशून्य शान्ति का अनुभव करते हुए, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ।[137] स्मृतियों में भी इसी विचार का समर्थन करते हुए मनु द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि चतुर्थ आश्रम के नियमों का पालन से द्वन्द विहीन परम गति मिलती है ।[138] अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये संन्यास आश्रम की सहायता आवश्यक थी ।

इस आश्रम में संस्थित व्यक्ति के लिये अनेक कर्तव्य भी निर्धारित किये गये थे जिनके अनुसरण से वह उद्देश्य प्राप्ति में सफल हो सकता था । आलोचित पुराण के अनुसार अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अक्रोध, सत्य, गुरुसेवा आदि गुणों का अनुपालन करने का नियम स्वयं ब्रह्मा द्वारा निश्चित किया गया है ।[139] वास्तव में संन्यासी का जीवन राग द्वेष से विलग पूर्णतः एकाकी था और संयमित आचरण उसके लिये अनिवार्य था । विष्णु पुराण में भी संन्यासी को क्रोध, लोभ, मोह, काम, अहंकार आदि समस्त दुर्गुणों को परित्याग कर अनासक्त रहने के लिये कहा गया है ।[140] इन्हीं कर्तव्यों की व्यवस्था सूत्रों और स्मृतियों में भी संन्यासी के लिये की गई है। संन्यासी को क्रोधावेश में नहीं आना चाहिये । यदि उसका कोई बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दों का उच्चारण करना चाहिये । उसे कभी भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये ।[141] आध्यात्मिक उन्नयन के लिये इन गुणों का विकास अपेक्षित था । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में ध्यान, सदाचार, विनय, शुद्धता, विलासहीनता आदि संन्यासी के उपव्रत बताये गये हैं ।[142]

प्रस्तुत पुराण में संन्यासी के योग्य कर्तव्यों में भिक्षाटन और अल्पाहार की चर्चा की गई है । एक स्थल पर उल्लिखित है कि जिस समय मुसल का शब्द नहीं सुना जाता हो, उस समय भिक्षा माँगने जाना चाहिये ।[143] यहीं पर प्रसंगान्तर में वर्णित है कि सर्वत्र जाकर बिना कटु वचन कहे भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।[144] अन्यत्र भिक्षा में प्राप्त आहार को ही योगियों के लिये श्रेष्ठ कहा गया है ।[145] इन्हीं विचारों

का निरूपण अन्य पौराणिक उद्धरणों में भी किया गया है । विष्णु पुराण में आख्यात है कि भिक्षु को भिक्षा में प्राप्त अन्न केवल प्राण के निर्वाह के लिये ही खाना चाहिये।[146] सूत्रों और स्मृतियों में भी संन्यासियों के लिये इन्हीं विधानों की व्यवस्था मिलती है । संन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिये, उसे केवल उतना ही प्राप्त होना चाहिये जिससे वह अपने शरीर और आत्मा को एक साथ रख सके ।[148] यहाँ तक कि संन्यासी को आठ ग्रास भोजन ही करना चाहिये ।[148] गौतम धर्मसूत्र में वर्णित है कि भिक्षु को भिक्षा ग्रहण करने के लिये ग्राम में जाना चाहिये ।

आलोचित पुराण में संन्यासी के लिये इन्द्रिय संयम भी अनिवार्य बताया गया है ।[150] एक अन्य स्थल पर ध्यान, इन्द्रिय निग्रह और इन्द्रियों को सुखानुभूति देने वाले उपचारों का निरादर संन्यासियों का धर्म कहा गया है ।[151] मत्स्य पुराण में भी यथार्थ रूपेण भिक्षु उसी को माना गया है जो जितेन्द्रिय है ।[152] इन पौराणिक स्थलों की पुष्टि धर्मशास्त्रों से भी होती है । मनुस्मृति में उल्लिखित है कि इन्द्रिय संयम से भिक्षु अमरत्व को प्राप्त करने में सफल होता है ।[153] इसके अतिरिक्त सन्यासी के लिये इन्द्रिय सुख, आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहने का निर्देश दिया गया है ।[154] इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर सन्यासी नियमों और सच्चरित्रता का समुचित पालन कर सकता ह था ।

आलोचित पुराण में सन्यासी के लिये भ्रमणशीलता का अनुमोदन किया गया है ।[155] मत्स्य पुराण में भी कहा गया है कि भिक्षु वही है जिसका कोई निवास स्थान नहीं है और जो अनेक स्थलों पर भ्रमण करता है ।[156] सन्यासी के लिये यह नियम इसलिये निर्धारित किया गया था कि वह एक स्थान पर अधिक काल तक ठहरने के फलस्वरूप पुनः सांसारिक बन्धनों में न फंस जाये । मनु के अनुसार शारीरिक कष्ट होते हुए भी उसे भ्रमण करना अनिवार्य है ।[157] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार सन्यासी के बिना जीवों को कष्ट दिये सदैव भ्रमण करना चाहिये ।[158]

प्रस्तुत पुराण में सन्यासियों के एकान्तशील और अनासक्त जीवन का समर्थन करते हुए कहा गया है कि भिक्षु को ब्रह्म प्राप्ति में सहायक ज्ञान का लाभ उसी दशा में हो सकता है, जब वह सांसारिक पदार्थों के प्रति विरक्त हो जाये ।[159] विष्णु पुराण में वर्णित है कि सन्यासी को पुत्र, द्रव्य और पत्नी के प्रति अनासक्तिपूर्ण होना चाहिये ।[160] इसी आधार पर सन्यासी को कोई भी वस्तु संचित करने से रोका गया है, उसके ब पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षापात्र ही होने चाहिये ।[161]

आलोचित पुराण के एक स्थल पर सन्यासी के पास वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड स्वरूप तीन दण्ड बताये गये हैं । जिनके पास ये तीनों दण्ड हैं, वे त्रिदण्डी कहलाते हैं ।[162] स्मृतियों में भी इसका समर्थन प्राप्त होता है । मनु के अनुसार जो व्यक्ति वाणी, मन एवं शरीर पर नियन्त्रण रखता है वह त्रिदण्डी है ।[163] याज्ञवल्क्य के अनुसार उसे त्रिदण्डी होना चाहिये ।[164] बौधायन धर्मसूत्र का कहना है कि संयासी एक दण्डी अथवा त्रिदण्डी हो सकता है; उसे प्राणियों को वाणी, क्रियाओं एवं विचारों से हानि नहीं पहुँचानी चाहिये ।[165]

मोक्ष प्राप्ति के लिये किये जाने वाले इन अनिवार्य क्रिया कलापों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण में तत्वजिज्ञासा, सम्यक् विवेचन और नित्य स्वाध्याय को योगियों के नियमों के अन्तर्गत वर्णित किया गया है ।[166] मनु के अनुसार सन्यासी को यज्ञों, देवों एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित वैदिक तत्वों का अध्ययन एवं उच्चारण करना चाहिये ।[167] अहिंसा और परमार्थ को सन्यासी के विहित कर्मों में स्थान दिया गया है ।[168] गौतम धर्मसूत्र में भी उल्लिखित है कि संन्यासी को अहिंसानुयायी और निर्द्वन्द होना चाहिये ।[169]

आश्रम सम्बन्धी समीक्षा से स्पष्ट हो जाता है कि आलोचित पुराण में प्राचीनता

के निर्वाह के साथ साथ नवीन [illegible] को भी संयुक्त किया गया है । वैदिक परम्परा का प्रभाव मिलने के अतिरिक्त धर्मसूत्रों और स्मृतियों से भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है । अतः पौराणिक व्यवस्था में परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलता और सन्तुलन प्राप्त होता है । आश्रमों के नाम, स्वरूप और क्रम सभी पौराणिक दृष्टिकोण को प्रमाणित कर देते हैं ।

सन्दर्भ

1. ततः स्थितेष्ववर्गेषु स्थापयामास चाऽऽश्रमान् । वायु पुराण, 8/176-179.

2. चातुराश्रम्यसंश्रयः । तत्रैव, 97/37.

3. मत्स्य पुराण, 47/139.

4. वेदश्रमान्सुप्तचित्तः कुंभीकानधिगच्छति । वायु पुराण, 83/60.

5. वर्णानामाश्रमाणां संस्थितिः धर्मतस्तथा । तत्रैव, 1/101.

6. सर्वे ते श्रेयसे प्रोक्ता आश्रमा ब्रह्मणा स्वयम् । तत्रैव, 8/189-192.

7. वर्णानामाश्रमाणां च धर्मन्धर्मभृतां वर ।
   लोकांश्च ------- अनुपालिनाम् । विष्णु पुराण, 1/6/33.

8. मत्स्य पुराण, 141/66-67.

9. छान्दोग्य उपनिषद्, 2/23/1.

10. चतुर्णामाश्रमाणां च रक्षणात् । नारद स्मृति, 1/12.

11. चतुराश्रमशैथिल्याद्धर्मः प्रविशलिष्यति । वायु पुराण, 58/45.

12. वर्णाश्रमविभागश्च युगानि युगसिद्धये । तत्रैव, 58/126.

13. वर्णाश्रमविरोधी यः शिष्टशास्त्रविरोधकः । तत्रैव, 102/70.

14. गृहस्थोब्रह्मचारित्वंवानप्रस्थंसभिक्षुकम् । तत्रैव, 8/176.

15. मत्स्य पुराण, 40/1.

16. विष्णु पुराण, 3/18/36.

17. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 418.

18. ऋग्वेद, 2/1/29, 10/85/36.

19. तत्रैव, 8/3/9.

20. द्रष्टव्य, रानाडे, ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, पृष्ठ 60-61;
पी0एन0 प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ 84.

21. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/9/21/1.

22. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः । गौतम धर्मसूत्र, 3/2.

23. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः । मनुस्मृति, 6/87.

24. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/10-14.

25. महाभारत, शान्तिपर्व, 192/8; रामायण, 106/22.

26. अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतं तु तेषां तत्स्थानंत देवगुरुवासिनाम् । वायु पुराण, 8/194.

27. विष्णु पुराण, 3/9/1.

28. बौधायन गृह्यसूत्र, 1/2/42.

29. दण्डी च मेखली चैव ह्यधः शायी तथा जटी ।
गुरुशुश्रूषणं भैक्ष्यं विद्यार्थी ब्रह्मचारिणः । वायु पुराण, 8/182-183.

30. स्वमाश्रमधर्माणां साधनात्साधवः स्मृताः ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च ------------- । तत्रैव, 59/25.

31. विद्यायाः साधनात्साधुब्रह्मचारी गुरोर्हितः । तत्रैव, 59/23.

32. स्वाध्यायशील: सिध्यति ब्रह्मचारी । मत्स्य पुराण, 40/2.

33. विष्णु पुराण, 3/8/3-6.

34. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/22/2;

35. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 7/4/17.

36. सत्यवादी ह्रीमाननहंकारः । बौधायन गृह्यसूत्र, 1/2.

37. वायु पुराण, 59/46.

38. शौचाचारव्रतं तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः । विष्णु पुराण, 3/9/2.

39. मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः --- । मत्स्य पुराण, 40/2.

40. समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयात् । मनुस्मृति, 2/51.

41. तत्रैव, 2/93.

42. पारस्कर गृह्यसूत्र, 2/5/40.

43. चातुर्वर्ण्यात्मक: पूर्वगृहस्थश्चाऽऽश्रमः स्मृतः ।
त्रयाणामाश्रमाणां च प्रतिष्ठायोनिरेव च । वायु पुराण, 8/180.

44. तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः । मनुस्मृति, 3/77.

45. गौतम धर्मसूत्र, 3/3.

46. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/6/29; बौधायन धर्मसूत्र, 2/7/24.

47. व्यास स्मृति, 4/2/4, 13-14.

48. पी0एन0 प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ 95.

49. गृहिणां न्यासिनाश्चोक्तौ । वायु पुराण, 1/87.

50. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । जाबालोपनिषद्, 4,
द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 421.

51. गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही । मनुस्मृति, 3/78.

52. दाराग्निहोत्रसंयोगे मिथ्यामारभतेति च ।
एवमुक्त्वा तु तं ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत । वायु पुराण, 67/8.

53. विष्णु पुराण, 3/9/8.

54. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः ।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः । ऐतरेय ब्राह्मण, 33/11.

55. ऋग्वेद, 10/85/36, 5/28/3.
द्रष्टव्य काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 269,
अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप ।

56. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते
असर्वो हि तावद् भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति ।
शतपथ ब्राह्मण, 5/2/1/10.

57. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/5/11/12; मनुस्मृति, 9/28; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/78.

58. क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थ: साधुरुच्यते । वायु पुराण, 59/23.

59. अथमेव क्रियायोग: ज्ञानयोगस्य साधक: । मत्स्य पुराण, 52/11.

60. महाभारत, शान्तिपर्व, 12/18.

61. दाराऽग्नयोऽथातिथेय ------- । वायु पुराण, 8/181.

62. विष्णु पुराण, 3/9/15.

63. मत्स्य पुराण, 40/3.

64. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 8/4-5.

65. मनुस्मृति, 4/29.

66. ------- इज्याश्राद्धक्रिया: प्रजा: ।
इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद्धर्मसंग्रह: । वायु पुराण, 8/181.

67. शतपथ ब्राह्मण, 1/7/2/10.

68. जैमिनि, 6/2/31.

69. अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मत: ।
इष्टवा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् । मनुस्मृति, 6/36.

70. निवापेन पितॄनर्चन्यज्ञैर्देवांस्तथातिथीन् । विष्णु पुराण, 3/9/9.

71. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत । मत्स्य पुराण, 40/3.

72. गोभिल स्मृति, 2/8.

73. विष्णु पुराण, 3/9/9.

74. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/174.

75. प्राजापत्यं गृहस्थानां ------ । वायु पुराण, 8/195.

76. सुतं व्यादिश्य तनयं धुन्धुमारणमुद्यतम् ।
जगाम पर्वतायैव -------------- । तत्रैव, 88/47.

77. वयः परिणतो ------- गृहाश्रमी ------- वनं गच्छेत् ------- ।
विष्णु पुराण, 3/9/18.

78. दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः । मत्स्य पुराण, 34/29.

79. मनुस्मृति, 6/2.

80. साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः । वायु पुराण, 59/25.

81. ताण्ड्य महाब्राह्मण, 14/4/7.

82. गौतम धर्मसूत्र, 3/2.

83. बौधायन धर्मसूत्र, 3/6/19.

84. मनुस्मृति, 6/21.

85. वानप्रस्थे भवो वानप्रस्थः वैखानसाख्यः । क्षीरस्वामी

86. चीरपत्राजिनानि ---------- । वायु पुराण, 8/175.

87. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/176.

88. चर्मकाशकुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके । विष्णु पुराण, 3/9/20.

89. मनुस्मृति, 6/8; गौतम धर्मसूत्र, 3/34/1; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 9/11.

90. धान्यमूलफलैश्चम् ---------- । वायु पुराण, 8/175.

91. ------- कुर्यो वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः । मत्स्य पुराण, 40/4.

92. गौतम धर्मसूत्र, 3/26; मनुस्मृति, 6/15.

93. उभे सन्ध्येऽवगाहश्च ------- । वायु पुराण, 8/175 .

94. विष्णु पुराण, 3/9/20.

95. मनुस्मृति, 6/22; याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/48; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 9/9.

96. मनुस्मृति, 6/6.

97. होमश्चारण्यवासिनां ------- । वायु पुराण, 8/175.

98. अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन्वानप्रस्थविधानतः । मत्स्य पुराण, 33/13.

99. ------ होमस्सर्वाभ्यागतपूजनम् । विष्णु पुराण, 3/9/21.

100. मनुस्मृति, 6/4, 9-10; याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/45.

101. आहिताग्निः स्यात् । वसिष्ठ धर्मसूत्र, 9/10.

102. साधनात्तपसोऽरण्ये ----- । वायु पुराण, 59/24.

103. भृगुतुङ्गेतपस्तप्त्वातत्रैव च महायशाः । तत्रैव, 93/102.

104. मत्स्य पुराण, 61/37.

105. वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः । गौतम धर्मसूत्र, 3/26.

106. ------- तपो विवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये । मनुस्मृति, 6/30.

107. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/52; विष्णु धर्मसूत्र, 92/2/4.

108. सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा । मनुस्मृति, 6/3.

109. सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम् ।
याज्ञवल्क्य स्मृति, वानप्रस्थ प्रकरण, श्लोक; 45.

110. स राजर्षिः सदारः प्रस्थितो वनम् । वायु पुराण, 93/102.

111. विष्णु पुराण, 3/9/18.

112. पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ 81.

113. गृहिणां न्यासिनाञ्चोक्तो रजः सत्त्वसमाश्रयात् । वायु पुराण, 1/187.

114. उपष्टम्भकं चलं च रजः । सांख्यकारिका, 13.

115. -------- न्यासिनां ब्रह्मणः क्षमम् । वायु पुराण, 8/195.

116. गृहस्थो ब्रह्मचारित्वं वानप्रस्थं सभिक्षुकम् । तत्रैव, 8/176.

117. यतमानो यति साधुः स्मृतो योगस्य साधनात् । तत्रैव, 59/24.

118. रागिणां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
गृहस्थानां वनस्थानां ------------------ । तत्रैव, 104/12.

119. मौनं पवित्रोपचितैः विमुक्तिः परिव्रजो धर्ममिमं वदन्ति । तत्रैव, 8/188.

120. मत्स्य पुराण, 40/1; विष्णु पुराण, 4/2/130.

121. यस्तु सन्त्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते ।
परिव्राट् -------------------------- । विष्णु पुराण, 3/18/37.

122. गौतम धर्मसूत्र, 2/10/5; बोधायन धर्मसूत्र, 2/10/5; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 10/1

123. येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ । ऋग्वेद, 8/3/9.

124. सम्यक् न्यास: प्रतिग्रहाणां सन्यास: । बौधायन धर्मसूत्र, 10/1.

125. आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तस्तु परमाश्रमम् ।
अत: संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमुत्तमम् । वायु पुराण, 17/1.

126. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/32/26; मत्स्य पुराण, 40/2-5.

127. चतुर्थश्चाश्रमो भिक्षो: प्रोच्यते यो मनीषिभि: । विष्णु पुराण, 3/9/24.

128. चतुर्थमायुषो भाग त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् । मनुस्मृति, 6/33.

129. सप्तत्या ऊर्ध्वं सन्यासमुपदिशन्ति । बौधायन धर्मसूत्र, 2/10/6.

130. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ।
जाबालोपनिषद् 4, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/9/21/7-8.

131. पी0एन0 प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ 99.

132. संन्यस्य गृहधर्माणि वैराग्यं समुपस्थिता: ।
यतिधर्ममवाप्येह ब्रह्मभूताय ते मता: । वायु पुराण, 93/5-6.

133. संयाति: मोक्षमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनि: । तत्रैव, 93/14.

134. मत्स्य पुराण, 24/51.

135. अवस्थितो ध्यानरतिर्जितेन्द्रिय: ।
शुभाशुभे हित्व च कर्मणी उभे ।
इदं शरीरं प्रविमुच्य शास्त्रतो ।
न जायते म्रियते वा कदाचित् । वायु पुराण, 17/8.

136. मत्स्य पुराण, 40/11-17,

137. विष्णु पुराण, 3/9/33.

138. एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहृत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् । मनुस्मृति, 6/96.

139. -------------- अस्तेयं शौचमेव च ।
अप्रमादोऽव्यवायश्च दयाभूतेषु च क्षमा ।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा सत्यं च -------- । वायु पुराण, 8/184-185.

140. ------- काम क्रोधस्तथा दर्पलोभादयश्च ये ।
तांस्तु सर्वान् परित्यज्य --------- । विष्णु पुराण, 3/9/28-30.

141. मनुस्मृति, 6/40, 47-48; याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/61; गौतम धर्मसूत्र, 3/23;

142. वायु पुराण, 8/186.

143. आसन्नमुसले भैक्ष्यम् ------- । तत्रैव, 8/176.

144. ------- ससागरैर्भक्ष्यमथोपगम्य । तत्रैव, 8/188.

145. आहारास्तेषुसिद्धेषुश्रेष्ठं भैक्षमिति स्मृतम् । तत्रैव, 17/15.

146. प्राणयात्रा निमित्तं च -------- भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहान् । विष्णु पुराण, 3/9/29-30.

147. मनुस्मृति, 6/57; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 10/21-22;
याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/59.

148. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/4/9/13; बौधायन धर्मसूत्र, 2x10/68.

149. भिक्षार्थी ग्रामभियात् । गौतम धर्मसूत्र, 3/14.

150. त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । वायु पुराण, 17/4.

151. ध्यानं समाधिः मनसेन्द्रियाणां -------- । तत्रैव, 8/188.

152. जितेन्द्रियः -------- स भिक्षुः -------- । मत्स्य पुराण, 40/5.

153. इन्द्रियाणां निरोधेन -------- अमृतत्वाय कल्पते । मनुस्मृति, 6/60.

154. मनुस्मृति, 6/41, गौतम धर्मसूत्र, 3/11.

155. वायु पुराण, 16/9.

156. अनीकशायी विमृहश्च -------- देशान्तरः स भिक्षुः । मत्स्य पुराण, 40/5.

157. शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् । मनुस्मृति, 6/68.

158. गौतम धर्मसूत्र, 3/23.

159. वायु पुराण, 17/4.

160. विष्णु पुराण, 3/9/25.

161. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 10/6; गौतम धर्मसूत्र, 3/10; मनुस्मृति, 4/43-44.

162. वाग्दण्डः कर्मदण्डश्चमनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यै ते नियतादण्डाः सत्रिदण्डी व्यवस्थितः । वायु पुराण, 17/6.

163. मनुस्मृति, 12/10

164. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3/58.

165. बौधायन धर्मसूत्र, 2/6/25; द्रष्टव्य काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास,
प्रथम भाग, पृष्ठ 494, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप ।

166. नित्यं स्वाध्याय ------- परिकीर्तिता: । वायु पुराण, 16/19.

167. मनुस्मृति, 6/83.

168. ------- भिक्षूणामहिंसा परमार्थिता । वायु पुराण, 16/18.

169. गौतम धर्मसूत्र, 3/11, 3/23.

महत्वपूर्ण संस्कार - पौराणिक दृष्टिकोण

तन्त्रवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियायें तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं ।[1] पहली पाप-मोचन से उत्पन्न योग्यता और दूसरी नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता ।[2] इसी कारण संस्कार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अनिवार्य धार्मिक विधान माने जाते रहे हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति के अभीष्ट की प्राप्ति तथा प्रयोजन की सिद्धि होती है । इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व का परिष्करण और शुद्धीकरण भी संस्कारों के सम्पादन से ही सम्भव है । अतः निस्सन्देह, संस्कार शुचिता सन्निवेश एवं धर्मार्थ आचरण के कारण लोकप्रिय थे ।[3] आलोचित पुराण में भी इसी व्यवस्था का समर्थन प्राप्त होता है । एक स्थल पर सामान्य रूप में जातकर्म संस्कार को शुद्धि सुयोग का विषय कहा गया है ।[4] विष्णु पुराण में संस्कार नित्य और किसी निमित्त हेतु किये जाने वाले कहे गये हैं तथा मनुष्यों के लिये वांछनीय स्वीकृत किये गये हैं ।[5] पौराणिकों के साथ साथ अन्य व्यवस्थाकारों ने भी इसी धारणा का स्पष्टीकरण किया गया है । मनु के अनुसार गर्भाधान समय के होम तथा जातकर्म से, चौल (मुण्डन) से तथा मूंज की मेखला (उपनयन) पहनने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोषों को दूर किया जा सकता है ।[6] याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रतिपादित है कि चूडाकर्म आदि संस्कार पाप-विनाश के कारण हैं ।[7]

संस्कारों का प्रचलन वैदिक युग से ही समाज में रहा किन्तु वैदिक वाङ्मय में इनका उल्लेख नहीं मिलता है । सूत्रों और स्मृतियों में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । मनुष्य के जीवन में कितने संस्कार होने चाहिये, इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतभेद है । गौतम ने चालीस संस्कारों की चर्चा की है[8] जबकि वैखानस ने अठारह संस्कार ही बताये हैं ।[9] लेकिन प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार मानते हैं ।

आलोचित पुराण में भी इन्हीं संस्कारों को मान्यता देते हुए भिन्न भिन्न

मनोरथों और प्रयोजनों की सिद्धि के लिये विभिन्न संस्कारों के सम्पादन का निर्देश अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है । एक प्रसंग में वर्णित है कि राजा देवावृध ने तेजस्वी पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से गर्भाधान क्रिया को सम्पन्न किया था ।[10] मत्स्य पुराण में भी कश्यप द्वारा महाप्रतापी पुत्र प्राप्ति की ≋ कामना से दिति में गर्भ आहित करने का उल्लेख मिलता है ।[11] अतः गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य गुणवान और शूरवीर ≋ पुत्र की प्राप्ति थी । यह परम्परा उस युग से चली आ रही थी जब युद्ध के लिये पुरुषों की आवश्यकता थी और प्रत्येक युद्ध में पुरुष संख्या में कमी हो जाती थी ।[12] गर्भ को सर्वदा के लिये पवित्र करने के लिये इस संस्कार को करना अनिवार्य था । अथर्ववेद में भी पुत्रेच्छु पति पत्नी के समीप इच्छा व्यक्त करता है कि दस मास के उपरान्त उसे पुत्र मिले ।[13] गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृतियों के काल में पुत्र प्राप्ति के लिये अनेक विधि विधानों का आविर्भाव हुआ था ।[14] गर्भधारण के तीसरे अथवा चौथे महीने में पुंसवन-संस्कार करने की परम्परा गृह्यसूत्रों के युग में थी ।[15] इस संस्कार के द्वारा पुत्र उत्पन्न होने में बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियों का देवपूजन के द्वारा निवारण किया जाता था । आलोचित पुराण में उपलब्ध उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तेजस्वी पुत्र की कामना से अनेक विधि-विधानों का पालन किया जाता था । संस्कार के अन्तर्गत कहीं भी पुंसवन शब्द का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस संस्कार का स्वरूप क्या था और स्मृतियों एवं पुराणों में इस सम्बन्ध में कितना साम्य था ।

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में विशिष्ट संस्कार के रूप में जातकर्म का वर्णन प्राप्त होता है । राजा सगर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आख्यात है कि धर्मात्मा नृप बाहु के मरणोपरान्त उनकी गर्भवती पत्नी भी अनुगमन के लिये प्रस्तुत हुई परन्तु भार्गव और्व मुनि ने [illegible] उसकी रक्षा कर अपने आश्रम में उसे रखा । वहीं और्व ऋषि के आश्रम में यादवी के सगर नामक परम धार्मिक पुत्र को जन्म दिया । उस महातेजस्वी सगर का जातकर्मादि संस्कार मुनिवर और्व के द्वारा ही सम्पन्न किया गया ।[16]

पुत्र जन्म के अवसर पर अनिष्टकारी शक्तियों से बचाने के लिये जातकर्म संस्कार सम्पादित किया जाता था । विष्णु पुराण में भी इस संस्कार के लिये अपेक्षित क्रिया कलापों का सविस्तार निरूपण किया गया है और निर्देश दिया गया है कि पुत्र जन्म के समय जात क्रिया सम्पन्न होनी चाहिये ।[17] इस संस्कार के विषय में आश्वलायन का विचार है कि जब पुत्र जन्म लेता है तब सर्वप्रथम पिता उसे स्वर्ण की शलाका से शहद तथा घी चटाता है ।[18]

आलोचित पुराण में जातकर्म के उपरान्त होने वाले से सम्बन्धित विधि-विधानों, नामकरण एवं चूडाकर्म संस्कार का किसी स्थल पर वर्णन नहीं प्राप्त होता है परन्तु परम पुनीत वायुपुर में रक्षार्थ प्रतिष्ठित नवदुर्गा को चूडासंस्कार में कर देने का उल्लेख है ।[19] विष्णु और मत्स्य पुराण के कुछ प्रसंगों में इन संस्कारों का उल्लेख मिलता है जिससे पौराणिक समाज में संस्कारों के महत्व का स्पष्टीकरण हो जाता है । ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों आदि में नामकरण संस्कार का विशेष वर्णन मिलता है[20] जो शिशु के नामार्थ धार्मिक क्रियाओं के साथ निश्चित तिथि को किया जाता था । विष्णु पुराण में नामकरण संस्कार में विशेषतः काल और नामार्थक शब्दों के स्वरूप विचार पर अधिक ध्यान देने की चर्चा की गई है ।[21]

खादिर गृह्यसूत्र के एतत्सम स्थल पर भी दस रात्रि के पश्चात् नाम रखने के नियम का समर्थन किया गया है ।[22] चूडाकर्म संस्कार के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में उल्लिखित है कि इस संस्कार के उपरान्त तीन रात्रि तक तथा इससे पहले एक रात्रि तक बालक का अशौच होता है ।[23] मनुस्मृति में भी यही व्यवस्था प्रतिपादित की गई है ।[24]

व्यक्ति के जीवन का सर्वप्रधान संस्कार उपनयन माना गया है जो उसके बौद्धिक उत्कर्ष से सम्बन्धित है। आलोचित पुराण में इस संस्कारविशेष का वर्णन अवश्य नहीं प्राप्त होता परंतु गुरु का हित करने वाला और विद्या की साधना में रत विद्यार्थी

का उल्लेख है ।[25] इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन कराने वाले आचार्य की गुण विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो वृद्ध, लोभविहीन, आत्मनिष्ठ, दम्भरहित, विपुल विद्यावान् विनम्र तथा सरल हों, उन्हें आचार्य कहते हैं ।[26] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी आख्यात है कि वंशपरम्परा से विद्यासम्पन्न एवं गम्भीर व्यक्ति से ही उपनयन संस्कार एवं वेदाध्यापन कराना चाहिये ।[27]

वास्तव में पौराणिक समाज में इस संस्कार के उद्देश्यों एवं महत्व के प्रकाशक स्थल विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराण में प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि बालक का अनियमित जीवन समाप्त करके अनुशासित और गम्भीर जीवन का प्रारम्भ करने वाला और वेदाध्ययन का द्वार खोलने वाला यही संस्कार था । ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि शिवदत्त ने अपने पुत्रों का उपनयन कर उन्हें सांगोपांग वेद पढ़ाया था ।[28] इसी प्रकार कृष्ण और बलराम के सन्दर्भ में विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि सर्वज्ञान सम्पन्न होते हुए भी गुरु शिष्य की परम्परा-निर्वाह के प्रदर्शन के लिये उन्होंने उपनयन से संस्कृत होकर सान्दीपनि मुनि के यहाँ विद्याध्ययन किया था ।[29] इस संस्कार की व्याख्या करते हुए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी कहा गया है कि उपनयन विद्या के अध्ययन के लिये इच्छुक व्यक्ति के श्रुति-विहित संस्कार को कहते हैं ।[30]

विवाह संस्कार

व्यक्ति को नवीन सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति प्रदान करने वाला अत्यन्त महत्वपूर्ण और गौरवशाली यह संस्कार है जिसके माध्यम से सहधर्मिणी प्राप्त कर व्यक्ति भौतिक जीवन का उपभोग करने के साथ साथ विभिन्न कर्तव्यों को पूर्ण करने में समर्थ होता है । इसी कारण आलोचित पुराण के एक स्थल पर चक्रवर्ती राजाओं के सप्राण रत्नों में सर्वप्रथम भार्या का उल्लेख किया गया है ।[31] यही भावना अन्य पौराणिक उद्धरणों में भी प्राप्त होती है । ब्रह्माण्ड पुराण में सपत्नीक व्यक्ति

का ही अभिषेक करने की चर्चा की गई है ।[32] मत्स्य पुराण में आचार समन्वित ब्राह्मण को ही दान का अधिकारी निर्धारित किया गया है ।[33] विष्णु पुराण में सहधर्मचारिणी के साथ गार्हस्थ्य जीवन के पालन से महान फल प्राप्ति का निरूपण किया गया है ।[34]

सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश परम्परा की वृद्धि विवाह का प्रमुख उद्देश्य माना गया है । आलोचित पुराण में स्पष्टतः वर्णित है कि स्त्री के जीवन से ही लोकवृद्धि सम्भव है और उसे अवध्य कहा गया है ।[35] अन्यत्र उल्लिखित है कि अज्ञानवश प्रजाओं द्वारा वर्णाश्रम धर्म का अनुपालन न करने पर प्रजापति स्वायम्भुव मनु ने शतरूपा नामक पत्नी में सर्वप्रथम प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया, जो दोनों सर्वप्रथम राजा हुए ।[36] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मा ने प्राकृत और जीवों को धारण करने वाली देवी को सृष्टि की कामना से उत्पन्न किया ।[37] मत्स्य पुराण में भी आख्यात है कि गृहधर्मी से संसार की वृद्धि होती है ।[38] विष्णु पुराण में उपलब्ध आदर्श के अनुसार सन्तान वृद्धि की अभिलाषा से विवाह करना अपेक्षित बताया गया है । मारिषा का पाणिग्रहण सोमराज ने वंशवृद्धि के उद्देश्य से प्रचेताओं के साथ सम्पन्न कराया था ।[39] इन पौराणिक दृष्टान्तों के आधार पर इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है कि मानव जीवन का अनिवार्य कर्तव्य विवाह था जो सन्तान परम्परा के निर्वाहार्थ किया जाता था । इसके अतिरिक्त पौराणिक समाज में वैदिक आदर्शों का परिपोषण भी दृष्टि-गोचर होता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी [illegible] पुरुष को अपूर्ण और पत्नी को उसका अर्धांग कहा गया है ।[40] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पत्नी पति की आधी (अर्धांगिनी) है, अतः जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है ।[41] ऋग्वेद के एक स्थल पर विवाह उत्तम सन्तान के लिये कहा गया है ।[42] यह धारणा भी थी कि मनुष्य सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है ।[43] वेदोत्तरवर्ती युग में यह प्रवृत्ति निर्बाध रूप से स्थायी बनी रही । मनुस्मृति में उल्लिखित है कि मनुष्य स्वदेह, पत्नी और सन्तानों के साथ पूर्ण होता है ।[44]

विवाह संस्कार के लिये योग्य और अनुकूल वर अथवा कन्या का होना अपेक्षित माना गया है। प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि महान् तेजस्वी, समस्त विज्ञानतत्त्ववेत्ता धर्म के धर्मव्रता नामक सती कन्या थी जो रूप और यौवन से सम्पन्न तथा लक्ष्मी के समान परम गुणवती थी। धर्मव्रता के लिये धर्म ने तीनों लोकों में अनुरूप वर ढूँढा किन्तु कहीं भी कोई उपयुक्त पात्र नहीं दिखाई पड़ा।[45] विष्णु पुराण में तुल्य स्वभाव वालों में ही विवाह करना उचित ठहराया गया है।[46] मत्स्य पुराण में आख्यात है कि वर के दोषों की समीक्षा किये बिना कन्या प्रदान करना अनुचित है।[47] आलोचित पुराण में गुणवान पति को प्राप्त करना कन्या की साधना का परिणाम कहा गया है।[48] इन पौराणिक विचारों की पुष्टि अन्य साहित्यिक साक्ष्यों से की जा सकती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार बुद्धिमान वर को ही कन्या दान करना चाहिये।[49] मनुस्मृति में भी निर्वीर्य, क्रूर पुरुष और रोगी से कन्या का विवाह करना अनुपयुक्त माना गया है।[50]

वर के लिये कन्या के चुनाव के विषय में अनेक तथ्यों को ध्यान में रखने का निर्देश पौराणिक स्थलों पर प्राप्त होता है। आलोचित पुराण में कर्दम प्रजापति के लिये दी जाने वाली प्रियव्रत की कन्या को लक्षण सम्पन्न (महाभागा) कहा गया है।[51] अन्यत्र दक्ष प्रजापति की सुव्रता नामक कन्या को परम धार्मिक, [illegible] और गुणों में श्रेष्ठ बताते हुए उसे ब्रह्मा के समीप ले जाने की चर्चा की गई है।[52] मत्स्य पुराण के अनुसार दोषयुक्त कन्या के अवगुणों को छिपाकर उसका दान करना अपराध है और इस प्रकार की कन्या का प्रदाता राजा के द्वारा दण्डनीय है।[53] पुराणों के अतिरिक्त सूत्रों और स्मृतियों में भी लक्षण सम्पन्न, अनुकूल कन्या के साथ विवाह करने की व्यवस्था दी गई है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में बुद्धिमती, सच्चरित्र, रूपवती, शुभ लक्षणों वाली और स्वस्थ कन्या से विवाह करने के लिये कहा गया है।[54] मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा भी शुभ लक्षण युक्त कन्या से विवाह का समर्थन किया गया है।[55]

कन्या के विवाह की आयु के सम्बन्ध में आलोचित पुराण के एक स्थल पर

निरूपित है कि गौरी कन्या का विवाह पितरों की कामना पूर्ति का कारण है ।[56] गौरी सात वर्ष की कन्या को कहा जाता था । कहीं कहीं आठ वर्ष की कन्या भी गौरी कही जाती थी ।[57] अल्पायु में कन्या के विवाह का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है । गौतम के अनुसार युवती होने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिये ।[58] मनुस्मृति में भी सदृश वर को विवाह की आयु न आने पर भी कन्या प्रदान करना उपयुक्त है ।[59]

प्रस्तुत पुराण के ही एक अन्य प्रसंग में वर्णित है कि राजा देवावृध ने सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र प्राप्ति की इच्छा से परम तपस्या की । तब नदियों में उत्तम पर्णाशा ने चिन्ता[illegible] होकर विचार किया कि ऐसी कोई स्त्री मेरी परिचिता नहीं है जो राजा देवावृध के संकल्प के अनुसार सर्वगुणसम्पन्न पुत्र उत्पन्न कर सके, अतः मैं स्वयं ही इनकी सहधर्मिणी बन रही हूं ।[60] यहाँ प्रमाणित हो जाता है कि युवती होने पर विवाह की परम्परा भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थी । मत्स्य पुराण में भी कहा गया है कि दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री के विवाह का प्रश्न उस समय उठा, जब कि वह पूर्ण युवती हो गई थी ।[61] इस प्रकार पौराणिक उद्धरणों में असंगति दिखाई पड़ती है और विभिन्न प्रसंगों में सैद्धान्तिक पृथकत्व भी प्राप्त होता है । [illegible]राणों के अतिरिक्त संस्कृत वाङमय के साक्ष्यों द्वारा इस प्रवृत्ति की यथार्थता ज्ञात होती है । स्वप्नवासवदत्तं में वर्णित है कि जिस समय प[illegible]मावती का विवाह सम्पन्न हुआ, उसका बाल्यकाल व्यतीत हो चुका था ।[62]

आलोचित पुराण में सवर्ण विवाह का समर्थन किया गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि धर्मतत्ववेत्ता राजा उशीनर का विवाह राजवंश में उत्पन्न कन्याओं के साथ हुआ ।[63] अन्यत्र उल्लिखित है कि राजा कुरुन्मना की दोनों पत्नियां चेदि नरेश की पुत्रियां थी ।[64] मत्स्य पुराण में निरूपित है कि ब्राह्मण कन्या देवयानी की प्रणय-याचना को राजकुल में उत्पन्न ययाति ने सवर्णों में परस्पर [illegible] विधान

के अभाव के कारण स्वीकार नहीं किया ।[65] पौराणिक परम्परा धर्मशास्त्रानुकूल ही थी क्योंकि सवर्ण विवाह को ही उनमें भी मान्यता दी गई थी ।[66]

प्रस्तुत पुराण में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिनसे तत्कालीन समाज अपेक्षाकृत कम जटिलताओं का आभास होता है । परन्तु जिस प्रकार सूत्रों और स्मृतियों में अनुलोम की अपेक्षा प्रतिलोम विवाह को गर्हित और पतित माना गया है उसी प्रकार पौराणिक दृष्टिकोण भी प्रतिलोम विवाह के प्रति श्रद्धेय नहीं है ।[67] उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की कन्या का विवाह अनुलोम तथा इसके विपरीत उच्च वर्ण की कन्या और निम्न वर्णोत्पन्न पुरुष का विवाह प्रतिलोम कहा गया है ।[68] आलोचित पुराण के एक प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रतिलोम जन्य सन्तति धर्म से च्युत और दुराचारी होती है जिसका शीघ्र पतन होता है ।[69] यही भावना ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में प्रतिपादित की गई है ।[70] अनुलोम सन्तान के दृष्टान्त प्रस्तुत पुराण में कक्षीवान और चाक्षुष नामक धर्मात्मा तपस्वियों के हैं जिनका जन्म ऋषि और शूद्रा के संयोग से हुआ था ।[71] विष्णु पुराण में भी शूद्र स्त्री के सम्बन्ध रखने वाले ऐसे ब्राह्मण की चर्चा की गई है जिसे श्राद्ध में वर्जित माना गया है ।[72]

विवाह कितने प्रकार के होते हैं, इस विषय पर स्मृतियों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच इन आठों प्रकार के विवाह पर एकमत प्राप्त होता है ।[73] विष्णु पुराण में एतत्सम ही विवाह भेद निरूपित है[74] परन्तु आलोचित पुराण में गान्धर्व विवाह के पर्याप्त दृष्टान्त प्राप्त होते हैं । पुरुरवा और उर्वशी के प्रणय के उपरान्त विवाह[75], यशस्वी मनु के साथ शतरूपा के प्रणय की परिचर्या[76], आदि गान्धर्व विवाह विधि की पुष्टि करते हैं । विष्णु पुराण में भी आख्यात है कि काशिराज को स्वकन्या के आग्रहवश स्वयंवर का आयोजन करना पड़ा था, जिसमें उसने इच्छानुसार पति का चयन किया था ।[77] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार विवाह का वह प्रकार, जिसमें कन्या स्वयं पति

का वरण करें, गान्धर्व, विधि है ।[78] इस प्रकार के विवाह में पिता की अभिरुचि गौण होती थी और इसी आधार पर उत्तरकालीन स्मृतिकारों ने स्वयंवर को भी गान्धर्व विवाह की मान्यता दी ।[79]

पौराणिक उद्धरणों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में बहु विवाह के प्रचलन का पूर्णरूपेण समर्थन प्राप्त होता है । दक्ष प्रजापति ने वंश वृद्धि के लिये अपनी दस कन्याएं धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताइस सोम को, चार अरिष्टनेमि को, दो अंगिरा को तथा दो कृशाश्व को प्रदान की ।[80] अन्यत्र वर्णित है कि दक्ष प्रजापति की चौबीस कन्याओं को धर्मराज, ऋषि और पितरों ने पत्नी रूप में स्वीकार किया ।[81] यहाँ पर बहु विवाह का उद्देश्य सन्तति का विस्तार है परन्तु ऐसे भी दृष्टान्त उपलब्ध हैं जहाँ पर केवल आकर्षण और वासना के वशीभूत होकर अनेक बार विवाह किया गया । आलोचित पुराण के एक स्थल पर वसुदेव की तेरह परम सुन्दरी स्त्रियों का उल्लेख है जिनमें से सात पटरानियाँ थीं ।[82] प्रसंगान्तर में महाबाहु भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्त्र स्त्रियों की चर्चा की गई है ।[83] मत्स्य पुराण में भी राजा ययाति की देवयानी और शर्मिष्ठा नामक दो पत्नियों का वर्णन मिलता है ।[84] बहु विवाह की प्रथा अति प्राचीन है और ऋग्वेद व अथर्ववेद में भी पत्नी द्वारा सौत के प्रति पति प्रेम घटाने के लिये मन्त्र पढ़ने का उल्लेख है ।[85] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में घोषित हुआ है कि एक पुरुष के कई स्त्रियाँ हैं, किन्तु एक पत्नी एक साथ अनेक पति नहीं प्राप्त कर सकती ।[86]

उत्तरकालीन व्यवस्थाकारों ने आदर्श की बात कही है । तथा बहु विवाह को कुछ परिस्थितियों में ही मान्यता दी है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार धर्म तथा सन्तति से युक्त एक ही पत्नी श्रेष्ठ है, किन्तु यदि इनमें से किसी एक का अभाव हो तो दूसरा विवाह किया जा सकता है ।[87] इसके अतिरिक्त निर्दोष, अनुकूल, साध्वी एवं पुत्रवती पत्नी का त्याग करने वाले व्यक्ति के लिये दण्ड का भी समर्थन मिलता है ।[88]

आलोचित पुराण में नियोग सम्बन्धी उदाहरण ही प्राप्त होते हैं । वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार पुत्रोत्पत्ति के लिये नियुक्त पुरुष से संयोग हेतु पत्नी की नियुक्ति नियोग है ।[89] दानवपति बलि ने पुत्र की कामना से ऋषि दीर्घतमा से [illegible] की याचना की और अपनी सुदेष्णा नामक रानी को सन्तान हेतु दीर्घतमा के पास जाने के लिये कहा ।[90] धर्मशास्त्रों में नियोग के विषय में अनेक नियम निर्धारित किये गये और गौतम, मनु, बौधायन आदि ने इसे वैधता प्रदान की ।[91] कुछ व्यवस्थाकारों ने इसकी भर्त्सना की है ।[92]

अन्त्येष्टि संस्कार

व्यक्ति के जीवन का अन्तिम संस्कार उस समय होता है जब पार्थिव शरीर की दाह क्रिया की जाती है, इसे ही अन्त्येष्टि कहा जाता है । मृत प्राणी परलोक में शान्ति लाभ करे, इसी भावना से यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है । प्रस्तुत पुराण में इस संस्कार का विशेष वर्णन नहीं उपलब्ध है किन्तु विष्णु पुराण में आख्यात है कि मृत शरीर को स्नान कराकर, पुष्पमाला से विभूषित कर गाँव के बाहर ले जाकर, जलाशय में सवस्त्र स्नान कर जलांजलि अर्पित करनी चाहिये । अशौच के अन्त में विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये ।[93] दाह क्रिया के पूर्व किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों पर गृह्यसूत्रों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । पाराशर के अनुसार शव जल जाने के बाद अवशेष की दाह क्रिया होती थी । तदनन्तर नदी अथवा तालाब में स्नान कर तब घर लौटते थे ।[94] मत्स्य पुराण में तीन प्रकार की दाह क्रिया का उल्लेख मिलता है - (1) शव को जलाना (2) गाड़ना और (3) फेंकना ।[95] भूमि में गाड़ने की परम्परा ऋग्वेद के काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।[96] परन्तु कालान्तर में शिशुओं के अतिरिक्त यह प्रथा हिन्दू समाज से लुप्त हो गई ।[97] शव को फेंकने की प्रथा भी वैदिक काल में प्रचलित थी ।[98] शव को जलाये जाने की क्रिया के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि अग्नि में दी गई आहुति शव को स्वर्गमन में सहायता देती है ।[99]

आलोचित पुराण के संस्कार विषयक स्थलों की समीक्षा के उपरान्त कहा जा सकता है कि यदि किसी संस्कार विशेष का व्यवस्थित विवरण मिलता है तो वह है विवाह संस्कार । सम्भवतः संस्कारों के सन्दर्भ पौराणिक दृष्टिकोण सोद्देश्य न होकर मात्र प्रासंगिक है । पौराणिक उद्धरणों पर धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों द्वारा प्रतिष्ठापित परम्परा का निर्वाह भी दृष्टिगोचर होता है ।

सन्दर्भ

1. योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । तंत्रवार्तिक, पृष्ठ 1078.

2. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 177, अनुवादक, अर्जुन चौबे कश्यप ।

3. दृष्टव्य, राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 33.

4. पवित्रं च द्विजश्रेष्ठ शुद्धये जन्मकर्मसु । वायु पुराण, 75/67.

5. नित्यनैमित्तिकाः काम्याः क्रियाः पुंसामशेषतः । विष्णु पुराण, 3/10/2

6. मनुस्मृति, 2/27-28.

7. एवमेनः शमं याति -------- । याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/13.

8. इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । गौतम धर्मसूत्र, 1/822.

9. वैखानस धर्मसूत्र

10. तस्यामाधत्तं गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः । वायु पुराण, 96/12.

11. दित्यां गर्भमाधत्त कश्यपः प्राह तां पुनः । मत्स्य पुराण, 7/36.

12. दृष्टव्य, राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 73.

13. आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः । अथर्ववेद, 1/4/8-9.

14. दृष्टव्य, राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 74.

15. पाराशर गृह्यसूत्र, 1/11; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 8/10-11; विष्णु धर्मसूत्र, 2/3; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/10-11.

16. व्याजायत महाबाहुं सगरं नामधार्मिकम् ।
    और्वस्तु जातकर्मादीन्कृत्वा तस्य महात्मनः । वायु पुराण, 88/134-34.

17. विष्णु पुराण, 3/10/4-5.

18. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/15/14.

19. नवदुर्गाः स्थितास्तत्र ------------ ।
    विवाहव्रतचूडासु करं तेषां प्रदीयते । वायु पुराण, 59/123-124.

20. शतपथ ब्राह्मण, 6/1/3/9; तैत्तिरीय संहिता, 6/1/13;
    आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/15/4-10; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/12;
    मनुस्मृति, 2/30.

21. विष्णु पुराण, 3/10/8.

22. जनानदूर्ध्वंदशरात्रात् ------- । खादिर गृह्यसूत्र, 2/3/6.

23. नैशेऽवाऽचूडस्य त्रिरात्रं परतः स्मृतम् । मत्स्य पुराण, 18/3.

24. निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते । मनुस्मृति, 5/67.

25. विद्यायाः साधनात् ------- गुरोर्हितः । वायु पुराण, 59/23.

26. वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः ।
    सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते । तत्रैव, 59/29.

27. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/1/1/12-13.

28. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/35/13-14.

29. विद्यार्थं जग्मतुर्बालौ कृतोपनयनक्रमौ । विष्णु पुराण, 5/21/19.

30. उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति । आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/1/9.

31. भार्या ------- प्राणिनः संप्रकीर्तिताः । वायु पुराण, 57/70.

32. अनुकूलाङ्गनासमायुक्तमभिषिञ्चेदिति श्रुतिः । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/14/15.

33. मत्स्य पुराण, 54/24.

34. सहधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया ।
-------------------- महाफलम् । विष्णु पुराण, 3/10/26.

35. उवाच वैन्यं नाधर्मं स्त्रीवधे परिपश्यति ।
मदृते च विनश्येयुः प्रजाः पार्थिवसत्तम । वायु पुराण, 62/155-156.

36. स्वायंभुवो तु शतरूपायाः पुत्रान्स उदपादयत् ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रथमं तौ महीपती । तत्रैव, 57/57.

37. प्राकृतां भूतधात्रीं तां कामान्वै सृष्टवान्विभुः । तत्रैव, 10/8.

38. मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिणः ।
तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धितः । मत्स्य पुराण, 154/152-153.

39. विष्णु पुराण, 1/15/8.

40. अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नीः । तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/9/4-7

41. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति । शतपथ ब्राह्मण, 5/2/1/10.

42. ऋग्वेद, 10/85/36.

43. प्रजया पितृभ्यः -------- । तैत्तिरीय संहिता, 6/3/10-15.

44. एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह । मनुस्मृति, 9/45.

45. धर्मो धर्मव्रतायास्तु त्रिषु लोकेषु मार्गयन् ।
नानारूपं परं लेभे धर्मोऽथ वरसिद्धये । वायु पुराण, 107/4-5.

46. विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृप इष्यते । विष्णु पुराण, 3/12/22.

47. वरो दोषाननाख्याय यः कन्यां वरयेदिह ।
दत्ताऽप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम् । मत्स्य पुराण, 227/18

48. गुर्विणी लभते पुत्रम् कन्या विन्दते सत्पतिम् । वायु पुराण, 54/110.

49. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/5/2.

50. हीनक्रियं निष्पुरुषं ------ रोमशार्शसम् ------ । मनुस्मृति, 3/7.

51. प्रियव्रतात् प्रजावन्तः वीरात् कन्या व्यजायत ।
कन्या सा तु महाभागा कर्दमस्य प्रजापतेः । वायु पुराण, 33/7.

52. वायु पुराण, 100/41-42.

53. मत्स्य पुराण, 227/15.

54. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/5/3.

55. मनुस्मृति, 3/4; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/52.

56. गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् । वायु पुराण, 83/12.

57. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 241.

58. प्रदानं प्रागृतोः । गौतम धर्मसूत्र, 18/22.

59. वराय सदृशाय च अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्यात् । मनुस्मृति, 9/88.

60. वायु पुराण, 96/6-10.

61. ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं ता कमलेक्षणा ।
ऋतुकालस्य संप्राप्तः ------------ । मत्स्य पुराण, 31/7.

62 चेटी - निर्वर्त्यतां तावदयं कन्याभावरमणीयः कालः।
वासवदत्ता - अनभित इव तेऽद्य वरमुखं पश्यामि । स्वप्नवासवदत्तम्, अंक 2.

63. उशीनरस्य पत्न्यस्तु पञ्च राजर्षिवंशजाः । वायु पुराण, 99/18.

64. तस्य पत्न्यां द्वियंवाऽऽसीच्चैद्यस्यो भैमसेनुते । तत्रैव, 99/114.

65. विद्धयौनासि भद्र ते न त्वदर्होऽस्मि भामिनि ।
अविवाह्या: स्म राजानो देवयानि पितुस्तव । मत्स्य पुराण, 30/18.

66. द्रष्टव्य गौतम धर्मसूत्र, 4/1; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 8/1;
मनुस्मृति, 3/4; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/53.

67. असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ।
याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/95; मनुस्मृति, 10/41.

68. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/92; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 1/24.

69. तस्मात्प्रजा समुच्छेदं दुर्वृत्तो तव यास्यति ।
असंकीर्णा च धर्मेण प्रतिलोमवरेषु च । वायु पुराण, 93/43

70. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/68/43; मत्स्य पुराण, 93/13-14.

71. वायु पुराण, 99/70.

72. विष्णु पुराण, 3/15/18.

73. विष्णु स्मृति, 24/17-18; मनुस्मृति, 3/24/26/29.

74. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गांधर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचश्चाष्टमो मतः । विष्णु पुराण, 3/10/24.

75. उर्वशी वरयामास हित्वा मानं यशस्विनी । वायु पुराण, 91/4.

76. भर्त्तारं दीप्तयशसं पुरूरवं प्रत्यपद्यत । तत्रैव, 10/11.

77. विष्णु पुराण, 3/18/87.

78. अलंकृत्येच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः । गौतम धर्मसूत्र, 4/10.

79. वीरमित्रोदय, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/61 के आधार पर ।
द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 523.

80. वायु पुराण, 63/40-42.

81. तत्रैव, 10/25-30.

82. पत्न्यस्तु वसुदेवस्य त्रयोदश वराङ्गनाः । तत्रैव, 96/159.

83. ----- रुक्मादीनि देवीनां सहस्राणि च षोडश । तत्रैव, 96/325.

84. मत्स्य पुराण, 30/18.

85. ऋग्वेद, 10/145; अथर्ववेद, 3/18;
द्रष्टव्य, काणे हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1, अ0 11.

86. ऐतरेय ब्राह्मण, 12/11.

87. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत ।
अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/5/11/12-13.

88. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/10/28/19; नारद स्मृति, स्त्रीपुंस, 95.

89. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 17/64.

90. पुत्रान्धर्मार्थसंयुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ।
-------- प्राहिणोत्तदा । वायु पुराण, 99/67-68.

91. गौतम धर्मसूत्र, 18/4-14; मनुस्मृति, 9/59-61;
बौधायन धर्मसूत्र, 2/2/17.

92. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/10/27/5-7.

93. प्रेतदेहं शुभैः स्नानैस्नापितं स्त्रग्विभूषितम् ।
दग्ध्वा ग्रामाद्बहिः स्नात्वा सचैलस्सलिलाशये । विष्णु पुराण, 3/13/7-18.

94. पाराशर गृह्यसूत्र, 3/19, 3/10, 16/23.

95. अष्टक उवाच - यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा निरवन्यते वाऽपि निकृष्यते वा
मत्स्य पुराण, 39/17.

96. ऋग्वेद, 10/18/10-13.

97. द्रष्टव्य, राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 303.

98. अथर्ववेद, 18/2/34.

99. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 4/1-2.

शिक्षा की महत्ता

प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा पद्धति का उद्देश्य मानव जीवन और भौतिक जगत की ग्रन्थियों को सुलझाने, विश्व के यथार्थ स्वरूप से परिचित होने, जीवन मरण की जटिल समस्याओं के समाधान करने और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को स्पष्ट करने का रहा है। आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानना ही मोक्ष का प्रधान साधन और मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ बताया गया। इसी कारण उसी ज्ञान को सफल माना गया जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक हो सके।[1] प्रस्तुत पुराण में भी इन्हीं विचारों का समर्थन प्राप्त होता है। एक स्थल पर वर्णित है कि ज्ञान से मनुष्य को शाश्वत की प्राप्ति होती है।[2] एक प्रसंग में निर्देश दिया गया है कि ब्रह्म प्राप्ति में सहायक सारभूत ज्ञान की उपासना करता हुआ (मनुष्य) पृथ्वी पर विचरण करे।[3] अन्यत्र संसार के समस्त प्राणियों के लिये तीनों वेद आच्छादन करने वाले (संवरण) कहे गये हैं और जो मनुष्य उन्हें अज्ञानवश छोड़ देते हैं उनके लिये असंस्कृत शब्द का प्रयोग किया गया है।[4] ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध है जहाँ वेद-त्रयी को 'संवरण' की संज्ञा दी गई है।[5] इसी पुराण में एक स्थल पर ज्ञान को अप्रतिम विशेषण से संयुक्त किया गया है।[6] विष्णु पुराण के समविषयक स्थल पर आख्यात है कि ज्ञान-उद्भव के आधारभूत साधन शास्त्र और विवेक है।[7] यहीं पर अज्ञान को तिमिर सम कहा गया है।[8]

इन समस्त पौराणिक स्थलों से मुख्यतः विद्या और ज्ञान के पारमार्थिक स्वरूप का प्रकाशन होता है। महाभारत में विद्या की यही महत्ता बताते हुए कहा गया है कि वास्तविक विद्या वही है, जो मोक्ष लाभ में सहायता प्रदान करती है।[9] वैदिक युग में भी विद्या के प्रति यही भावना विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद के एक स्थल पर विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना गया है।[10] इस प्रकार सार्थक ज्ञान उसी को माना गया जिससे आदर्श चरित्र का निर्माण हो तथा विवेक-बुद्धि में वृद्धि हो।

आलोचित पुराण में निरूपित है कि गुरु रूपी तीर्थ में परम सिद्धि प्राप्त होती है, वह सभी तीर्थों से श्रेष्ठ है ।[11] परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर स्पष्ट रूपेण विद्यारम्भ का काल निर्धारित नहीं किया गया है । अन्य पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर यह सम्भावित लगता है कि तत्कालीन समाज में बाल्यकाल को ही विद्यारम्भ का उचित समय माना जाता था । विष्णु पुराण के अनुसार उपनयन संस्कार से संस्कृत होने के पश्चात् विद्याध्ययन के लिये गुरु-गृह का आश्रय लेना चाहिये ।[12] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि कच का छात्र जीवन आचार्य शुक्र के घर व्यतीत हुआ था ।[13] स्मृतियों में भी शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से ही माना गया । यह संस्कार पूर्णतः शिक्षा से सम्बन्धित था और इसके उपरान्त ही गुरु के सान्निध्य में बालक की शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी । मनुस्मृति में ब्राह्मण के लिये आठ से दस वर्ष, क्षत्रिय के लिये ग्यारह वर्ष और वैश्य के लिये बारह वर्ष की आयु शिक्षा प्रारम्भ के लिये निर्धारित की गई ।[14]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में शिक्षा केन्द्र के रूप में ऋषियों के आश्रम की चर्चा की गई है । धर्मात्मा राजा बाहु के पुत्र महा तेजस्वी सगर को मुनिवर और्व ने अपने आश्रम में वेद शास्त्रों का सम्पूर्ण अध्ययन कराकर अस्त्र विद्या भी प्रदान की थी ।[15] इसके अतिरिक्त स्वगृह में भी शिक्षित करने की परम्परा प्रचलित थी । ब्रह्माण्ड पुराण के एक स्थल पर उल्लिखित है कि शिवदत्त नामक ब्राह्मण ने अपने पुत्रों को सांगोपांग वेदों का अध्ययन कराया था ।[16] स्वगृह में बालक को प्रशिक्षित करने की प्रथा प्राचीन थी क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णित है कि आरुणि ने अपने पुत्र को दर्शन के गूढ़ तत्वों से परिचित कराया था ।[17]

प्राचीन काल में तीर्थ स्थानों पर भी अध्ययन के उद्देश्य से जाने की परम्परा थी । प्रस्तुत पुराण के द्वारा इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता है परन्तु अन्य पौराणिक उद्धरणों से इसकी पुष्टि होती है । मत्स्य पुराण में आख्यात है कि वाराणसी तीर्थ में अध्ययन का क्रम निरन्तर चलता रहता है ।[18] विष्णु पुराण में एक प्रसंग

में कहा गया है कि अल्प पुण्य से महान् फल कैसे प्राप्त होता है, इस सन्देह के निवारण के लिये ऋषिगण गंगा स्नान करने वाले व्यास के निकट गये थे ।[19] इस विचार का समर्थन महाभारत के एक स्थल द्वारा होता है जहाँ विद्या लाभ तीर्थयात्रा का फल माना गया है ।[20]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में विद्वत्सभा के आयोजन पर प्रकाश डाला गया है । महर्षि अंगिरा द्वारा संशयपूर्ण तथ्यों के निर्णय हेतु एक बार ऋषियों की सभा आयोजित की गई थी ।[21] अन्यत्र सुमेरु पर्वत पर एक बार ऋषियों द्वारा एक समाज के आयोजन का उल्लेख है जिसमें सभी ऋषियों को एकत्रित होना अनिवार्य था ।[22] ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराण में भी इस घटना की चर्चा प्राप्त होती है ।[23] वस्तुतः पौराणिक व्यवस्था में उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्थित विद्यालयों का सर्वथा अभाव था क्योंकि प्रस्तुत पुराण के किसी भी स्थल पर इनका उल्लेख अनुपलब्ध है ।

शिक्षा प्रणाली

पौराणिक काल में अध्ययन और अध्यापन दोनों ही मौखिक था । यह परम्परा वैदिक काल में प्रतिष्ठित हो चुकी थी । वेद मन्त्रों की व्याख्या और अर्थ का विकास संवाद पर ही आश्रित था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि ऐसे संवाद में प्रश्निन् (प्रश्नकर्त्ता), अभिप्रश्निन् (प्रतिप्रश्नकर्त्ता) और प्रश्नविवाक (उत्तरदाता) सम्मिलित होते थे । अतः प्रवचन और श्रवण विधि का वैदिक साहित्य के प्रवाह में महान् योगदान था ।[24] आलोचित पुराण के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि प्रवाचक उदाहरण-बोधक श्लोकों द्वारा अपने वर्ण्य-विषय को समर्थित भी करते थे।[25] मत्स्य पुराण के वर्णन से विदित होता है कि पुराण के प्रवक्ता वर्ण्य शैली को ग्राह्य बनाने की चेष्टा करते थे । जिस समय ऋषिगण तारक-वध की कथा सुन रहे थे, उन्हें अमृतपान के समान सुखानुभूति हो रही थी ।[26] विष्णु पुराण में निरूपित है कि पितामह अब्जयोनि के प्रवचन से ऋषियों ने प्रस्तुत पुराण का ज्ञान लाभ-किया था ।

ऐसा वर्णित है कि ब्रह्मा के शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने गुरुओं से इसका श्रवण किया था[27]।

प्रवचन के अतिरिक्त शास्त्रार्थ द्वारा भी ज्ञान वर्धन का प्रयत्न किया जाता था। प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि विवाद में ऋषियों द्वारा पराजित होने के पश्चात् वसु का अधःपतन हुआ था।[28] अन्यत्र उल्लिखित है कि नैमिषारण्य में मन्त्रादि तत्वों के विद्वान् परस्पर वार्तालाप करते तथा कुछ ऋषिगण वितण्डात्मक वचनों के द्वारा अपने प्रतिवादियों को परास्त कर रहे थे।[29] अन्य पौराणिक उद्धरणों द्वारा भी इसकी पुष्टि की जा सकती है। विष्णु पुराण के एक प्रसंग में विवेचित है कि समान स्वभाव वालों में विवाद अपेक्षित होता है।[30] इस प्रवृत्ति का उद्भव वैदिक काल में हो चुका था। अथर्ववेद से विदित होता है कि छात्र जीवन में शास्त्रार्थ को विशेष महत्व प्राप्त था और इसमें सफल होने के लिये छात्र उत्सुक रहा करते थे।[31]

प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर ग्रन्थ लिखने का भी वर्णन है जहाँ पर गया आख्यान सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने अथवा लिखवाने से लक्ष्मी के प्रसन्न हो जाने के लिये कहा गया है।[32] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी सभी विद्याओं के ज्ञाता बुध को ग्रन्थयुक्त बताया गया है।[33] परन्तु सम्भवतः विद्यार्जन में प्रवचन और स्वाध्याय की ही प्रमुखता थी। स्वाध्याय की परम्परा भी वैदिक युगीन थी। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय में आलस्य दिखाना विद्यार्थी के लिये अकर्तव्य घोषित है।[34] अन्य प्रमाणों के आधार पर भी ज्ञात होता है कि पुस्तक अध्ययन की अपेक्षा आचार्य-प्रवचन को ही सुनना श्रेष्ठ माना जाता था।[35]

अवकाश व्यवस्था

शारीरिक और मानसिक विश्राम के लिये पौराणिक शिक्षा पद्धति में अवकाश की भी समुचित व्यवस्था थी। प्रस्तुत पुराण में वर्णित है कि अनध्याय के दिन अध्ययन करने के कारण इन्द्र ने सुकर्मा के एक सहस्त्र शिष्यों का संहार कर डाला था।[36]

ब्रह्माण्ड पुराण में भी एतत्सम स्थल प्राप्त होते हैं ।[37] मत्स्य पुराण में अवकाश के दिन अध्ययन और अध्यापन दोनों ही निषिद्ध किये गये हैं ।[38] अनध्याय सम्भवतः उन दिनों नहीं होता था जो पूर्वनिर्धारित थे जैसे पूर्णमासी अन्य कोई पर्व आदि तथा श्राद्ध के अवसर पर भी यही नियम था । याज्ञवल्क्य स्मृति के द्वारा इस व्यवस्था का समर्थन होता है जिसमें मेघगर्जन, अमावस और पूर्णमासी के अवसर पर अध्ययन न करने का निर्देश दिया गया है ।[39]

विद्यार्थी के लिये निर्धारित कर्तव्य

विद्यार्थी जीवन में किये जाने वाले कर्तव्यों के सम्बन्ध में आलोचित पुराण से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । गुरु सेवा की महत्ता वैदिक काल से ही प्रतिष्ठित थी । शतपथ ब्राह्मण में आचार्य के समीप शिष्य द्वारा समिधा-आदान का उल्लेख प्राप्त होता है ।[40] इसी परम्परा का निर्वाह स्मृतियों के काल में भी होता रहा जैसा कि मनुस्मृति में वर्णित है कि आचार्य को सदैव प्रसन्न करना चाहिये । इनकी सेवा ही सबसे बड़ी तपस्या है ।[41]

आलोचित पुराण भी गुरु के प्रति यही भावना समर्थित करता है । एक स्थल पर योगी शिष्य के कर्तव्य निर्धारण में नित्य स्वाध्याय और गुरु शुश्रूषा को अनिवार्य बताया गया है ।[42] अन्यत्र ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत जीवहिंसा, शक्ति का दुरुपयोग आदि की वर्जना के अतिरिक्त गुरु को छोड़कर किसी अन्य की शुश्रूषा करना भी वर्जित बताया गया है ।[43] मत्स्य पुराण में गुरु सेवा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव बताई गई है ।[44] विष्णु पुराण में विवेचित है कि गुरु सेवा में लगे हुए प्रह्लाद ने सभी विद्याओं का अध्ययन किया था ।[45] अतः गुरु के प्रति सम्मान, श्रद्धा और सेवाभाव प्रत्येक शिष्य से अपेक्षित था । इन कार्यों से विद्यार्थी के अध्ययन अथवा नित्य प्रति के कर्तव्यों में कोई विघ्न नहीं पड़ता था ।[46] गुरु के प्रति सेवाभाव के अतिरिक्त आदरपूर्ण व्यवहार भी छात्र के लिये अनिवार्य था । प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि जो व्यक्ति अपने गुरुजनों का अपमान करता है, उन्हें गाली देता है अथवा

ताडित करता है वह घोर नरकगामी होता है ।[47] यहीं पर प्रसंगान्तर में गुरु पूजने का भी निर्देश दिया गया है ।[48] विष्णु पुराण में भी गुरु को अपमानित करने वाले व्यक्ति को नरकगामी कहा गया है ।[49]

विनय और श्रद्धाभाव भी छात्र के लिये अनुकरणीय था । आलोचित पुराण में कहा गया है कि सृष्टि का रहस्य अश्रद्धालु व्यक्ति को नहीं समझाना चाहिये ।[50] अन्य स्थल पर नैमिषारण्य में रहने वाले वेदज्ञ पण्डित सावर्णि के द्वारा सभी ऋषियों सहित अत्यन्त विनयपूर्ण होकर वायु से प्रश्न पूछने की चर्चा की गई है ।[51] इसी प्रकार अन्यत्र श्रद्धासहित गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करने का उल्लेख भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध है । प्रतापी राजा सगर ने अपने शारीरिक बल और आग्नेयास्त्र की सहायता से हैहय, शक, यवन आदि जातियों को महर्षि समाप्त करने की चेष्टा की तब वे सभी भयभीत होकर महर्षि वसिष्ठ की शरण में गये । गुरु का आदेश पाकर ही राजा सगर ने संहार कार्य को रोक दिया ।[52] यही भावना विष्णु पुराण में भी बनी हुई है जहाँ गुरु वैशम्पायन की आज्ञापालन न करने पर याज्ञवल्क्य के आयुर्वेद ज्ञान के नष्ट हो जाने का उल्लेख मिलता है ।[53]

विद्यार्थी जीवन में संयम-नियम के पालन का भी विशेष महत्त्व था । प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में आख्यात है कि गुरु का हित करने वाला, ब्रह्मचर्य व्रतपरायण विद्यार्थी विद्या की साधना में तन्मय रहने के कारण साधु कहलाता है ।[54] वास्तव में इन्द्रिय-निग्रह छात्र के लिये अनिवार्य था क्योंकि एक भी इन्द्रिय के विषयासक्त होने पर मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार चमड़े के पात्र के एक ही छिद्र से सब जल बहकर नष्ट हो जाता है ।[55] यही मत विष्णु पुराण का है जहाँ विवेचित है कि गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य बाधक कार्य कदापि नहीं करने चाहिये ।[56] इस प्रकार जितेन्द्रिय, आत्मविजयी, कर्त्तव्यपरायण, शीलवान् और प्रतिभा सम्पन्न छात्र ही अध्ययन करने के पात्र होते थे । सदाचरण और सच्चरित्रता से गुरुकुल की मर्यादा बढ़ाना प्रत्येक छात्र का परम धर्म समझा जाता था ।

शिष्य की पात्रता के विषय में आलोचित पुराण में वर्णित है कि योग विद्या ऐसे शिष्य को सिखानी चाहिये, जो गुरु के समीप एक वर्ष तक रह चुका हो। इसके विपरीत पापी, अपवित्र तथा एक वर्ष से कम अवधि में रहने वाले व्यक्ति को ज्ञान दान देना निषिद्ध किया गया है।[57] शिष्य अपने सौम्य, शिष्ट और गुण सम्पन्न व्यवहार द्वारा गुरु का प्रियभाजन बनता था। इसी स्थिति में आचार्य भी शिष्य को अपने संरक्षण में स्वीकार करता था।[58] ब्रह्माण्ड पुराण में उल्लिखित है कि गुरु गुणवान शिष्य पर ही अनुग्रह दिखाता है।[59] विष्णु पुराण में कहा गया है कि कृष्ण और बलराम के चरित्र से सन्तुष्ट होने पर ही सान्दीपनि ने उन्हें शास्त्रादि का उपदेश दिया था।[60]

विद्यार्थी द्वारा गुरुकुल में रहते हुए भिक्षाटन भी अपेक्षित था। प्रस्तुत पुराण में आख्यात है कि भोजन के लिये ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति का आश्रय लेना चाहिये।[61] भिक्षाटन ही विद्यार्थी के उदर-निर्वाह का साधन था जिसके द्वारा गुरु के प्रति वह विनम्रता और सेवाभाव भी प्रदर्शित करता था। इसी पुराण में अन्यत्र आचारशील गृहस्थों के यहाँ भिक्षा माँगना योगी शिष्यों के लिये परम श्रेष्ठ वृत्ति बताई गई है।[62] प्रसंगान्तर में उसी आहार को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है जो भिक्षा द्वारा प्राप्त होता है।[63] प्रतीत होता है कि विद्यार्थी द्वारा भिक्षावृत्ति में सामाजिक कर्तव्य की भावना निहित थी। विद्यार्थी के समान समाज भी संस्कृति के विकास में स्वकीय योगदान प्रदान करता था।[64] इस पौराणिक विचारधारा का समर्थन सूत्रों और स्मृतियों से भी होता है। विद्यार्थी को अपनी आवश्यकतानुसार ही भिक्षा माँगनी पड़ती थी। आवश्यकता से अधिक भिक्षा प्राप्त करने पर उसे गुरु को सौंप देने का नियम था।[65] विष्णु जैसे शास्त्रकारों का यह विधान था कि ब्रह्मचारी, यति और भिक्षु की जीविका गृहस्थ पर निर्भर करती थी।[66]

देशाटन

आलोचित पुराण में देशाटन की महत्ता निरूपित है जो अन्य पौराणिक

उद्धरणों में अनुपलब्ध है । विद्यार्थी जीवन में यह नियम कहाँ तक उचित था और इसका उद्भव किस समय हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । गुरु की आज्ञा प्राप्त कर शिष्य को पृथ्वी पर विचरण करने का निर्देश प्रस्तुत पुराण में दिया गया है जिसके द्वारा ज्ञान और ज्ञेय की वस्तुस्थिति का पता चलता है ।[67]

आचार्य का सम्मानीय स्थान

प्रस्तुत पुराण में आचार्य को समुचित प्रतिष्ठा देते हुए उसमें अपेक्षित गुणों को प्रकाशित किया गया है । जो वृद्ध, लोभविहीन, आत्मनिष्ठ, दम्भरहित, विपुल विद्यावान्, विनम्र और सरल हों, उन्हें आचार्य की संज्ञा दी गई है ।[68] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि आचार्य गण सभी नियमों और संयमों के साथ स्वयं आचरणीय धर्म कार्यों का अनुष्ठान करते हैं तथा लोक को प्रवृत्त करने के लिये मर्यादा स्थापित करते हैं, शास्त्रों के अर्थ संगृहित करते हैं अतः उन्हें आचार्य कहते हैं ।[69] अन्य पौराणिक स्थलों से भी आचार्य विषयक इस भावना की पुष्टि होती है ।

मत्स्यपुराण में आचार्य को ब्रह्मा की मूर्ति कहा गया है । गुरु को आह्वनीय अग्नि माना गया है जिसकी पूजा करने से व्यक्ति तेजस्वी बनता है ।[70] इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में गुरु को साक्षात् शिव माना है जो ज्ञान के वितरण के लिये पृथ्वी पर विचरते हैं ।[71] गुरु के सन्दर्भ में स्मृतियों में भी यही विचार प्रतिपादित किये गये हैं । मनुस्मृति में आचार्य को ब्रह्मा की मूर्ति कहा गया है ।[72]

गुरु के प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पर अवस्थापन के साथ ही आलोचित पुराण में शिष्य के प्रति गुरु के उत्तरदायित्व का भी निर्धारण मिलता है । स्नेहभाव की चिरन्तनता पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर जन्मान्तर के शिष्यों को भी पिण्ड दान देने का निर्देश दिया गया है ।[73] विष्णु पुराण में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है जिसमें शिष्य और पुत्र में भेद न रखने के लिये कहा गया है ।[74] इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब धर्मसूत्र में निरूपित है कि आचार्य को शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिये ।[75]

अध्ययन के विषय : वेदों की प्रधानता

शिक्षा पद्धति में वेदों की महत्ता के प्रतिपादक स्थल आलोचित पुराण में उपलब्ध हैं। एक प्रसंग में यजुर्वेद के उद्धारक वैशम्पायन के द्वारा कल्याणप्रद छियासी संहिताओं की शिक्षा अपने शिष्यों को प्रदान करने का उल्लेख है।[76] इसी प्रकार सामवेद के विशारद के रूप में राणायनीय और सौमित्रि नामक लौकाक्षी के शिष्यों की चर्चा की गई है।[77] प्रसंगान्तर में आचार्य सुमन्तु के द्वारा अथर्ववेद का विभाजन कर उसकी शिक्षा अपने शिष्य कबन्ध को देने का वर्णन है।[78] इसके अतिरिक्त यजुर्वेद की ऋक् संख्या ग्यारह सहस्त्र बीस बताई गई है।[79] अन्यत्र चौदह विद्याओं के अन्तर्गत चारों वेद की भी गणना की गई है।[80]

गुरु के आश्रम में वेदों के अध्ययन की प्रथा प्रचलित थी जैसा कि एक स्थल पर वर्णित है कि ऋषिगण सामसंहिता का सस्वर गायन करते हैं।[81] विष्णु पुराण के एतत्सम स्थल पर कहा गया है कि कृष्ण और बलराम ने अपने गुरु द्वारा सांगोपांग वेद-शिक्षा प्राप्त की थी।[82]

वेदों की धार्मिक उपयोगिता का भी ज्ञान आलोचित पुराण के एक प्रसंग में होता है। एक मात्र अक्षर 'ब्रह्म' को अन्तरात्मा में व्यवस्थित रूप से विद्यमान बताते हुए ऋक्, यजु, साम और अथर्व को उसी का विकसित रूप बताया गया है।[83] अन्यत्र वरुण यज्ञ के वर्णन में चारों वेदों की उपस्थिति बताते हुए कहा गया है कि सहस्त्रों साम एवं यजुर्वेद के मूर्त स्वरूप थे, पदक्रम से विभूषित ऋग्वेद भी वहाँ मूर्तमान था। ऊँकार रूप मुख से उज्ज्वल, यज्ञकार्य में प्रयुक्त होने वाले सूक्त, ब्राह्मण एवं मन्त्र भाग से संयुक्त वृत्त से संवलित यजुर्वेद वहाँ अति शोभा पा रहा था।[84] यही विचार मत्स्य पुराण में भी मिलते हैं जिसमें उत्थानादि के अवसर पर ऋक्, यजुः और सामवेद के मन्त्रों के साथ गोत्थान कराने के लिये कहा गया है।[85]

प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर वेद का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण को पंक्ति-

पावन कहा गया है जो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को अभिव्यक्त करता है ।[86] विष्णु पुराण में भी षडंगों के साथ वेदज्ञ ब्राह्मण पूज्यनीय बताया गया है ।[87]

इन उद्धरणों से पौराणिक काल में वेदाध्ययन के महत्व और प्रचलन के विषय स्पष्ट हो जाता है । वेदों के अध्ययन को गौरवपूर्ण मानने के प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं । भास रचित 'प्रतिमानाटक' में ब्राह्मण वेशधारी रावण, राम को अपनी विद्वता से प्रभावित करने के लिये स्वयं को सांगोपांग वेद का ज्ञाता घोषित करता है ।[88]

पुराण

आलोचित पुराण में पुराणज्ञ, पुराणविशारद जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में पुराणों के पठन पाठन के महत्व को प्रकाशित करते हैं । एक प्रसंग में प्राचीन काल से पुराणों के जानने वाले इस गौरव गाथा के ज्ञानी कहे गये हैं कि अत्रि के निष्पाप, शान्तचित्त, महात्मा पुत्र दत्तात्रेय भगवान् विष्णु के स्वरूप हैं ।[89] अन्य पौराणिक उद्धरणों द्वारा भी इस मत की पुष्टि हो जाती है ।[90]

इसके अतिरिक्त पुराणों के श्रवण और स्वतः पाठ का भी प्रचलन था । एक स्थल पर पुराणवेत्ता पवन देव के द्वारा सहृदय मुनियों को सुन्दर पौराणिक आख्यान सुनाकर गद्गद कर देने का उल्लेख है ।[91] इसी प्रकार महादेव के रम्यपुर के वर्णन में उल्लिखित है कि वहाँ चतुर्दिक ब्रह्मचर्चा का सुरम्य स्वर गुंजरित होता है और विविध कल्याण दायिनी पौराणिक कथायें निरन्तर चलती रहती हैं ।[92]

इतिहास

आलोचित पुराण में इतिहास को पुराणों से पृथक विषय मानते हुए एक प्रसंग में कहा गया है कि महाप्राज्ञ भगवन् व्यासदेव ने पुराणों, इतिहासों तथा सूत्रों में अनेक प्रकार से मान्य मतों को प्रतिपादित किया है ।[93] अन्यत्र ऋषिगणों द्वारा ब्रह्मा,

विष्णु और महादेव में गुण, कर्म और प्रभाव के दृष्टिकोण से कौन सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा पूछने पर, सूतजी ने इस विषय पर प्राचीन इतिहास बतलाने का उपक्रम किया ।[94] मत्स्य पुराण में भी आख्यात है कि रोहिणी चन्द्रशयन नामक व्रत के अवसर पर 'इतिहास' का श्रवण करना चाहिये ।[95]

इतिहास के अतिरिक्त गाथा भी विषय रूप में सुनने सुनाने की परम्परा थी । राजा देवावृध की कथा प्रसंग में पुराण विशारदों द्वारा सुनाई गई गाथा को उद्धृत किया गया है ।[96] मत्स्य पुराण में उल्लिखित है कि श्राद्ध के अवसर पर पितरों की गाथा सुनाने से श्राद्ध सफल होता है ।[97]

आयुर्वेद

अध्ययन के विषयों में आयुर्वेद को भी स्थान दिया गया था । प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर धन्वन्तरि को आयुर्वेद का उद्धारक कहा गया है ।[98] प्रसंगान्तर में काशीराज दीर्घतपा के पुत्र रूप में देव धन्वन्तरि के उत्पन्न होने का वर्णन है जिन्होंने सभी रोगों का विनाश किया । भरद्वाज ऋषि के द्वारा औषधियों की समस्त प्रक्रियाओं के साथ आयुर्वेद का प्रणयन किया गया । उसी को राजा ने पुनः आठ भागों में विभाजित करके अपने शिष्यों को उसकी शिक्षा दी ।[99] मत्स्य पुराण में राजा शान्तनु को विद्वान् और निपुण चिकित्सक कहा गया है ।[100] विष्णु पुराण में आयुर्वेद का प्रवर्तन धन्वन्तरि द्वारा करने की चर्चा की गई है ।[101] आयुर्वेद के सम्बन्ध में पौराणिक उद्धरणों में प्राप्त होने वाले विचार वैदिक भावना के सातत्य के परिचायक हैं । ऋग्वेद में भी योग्य चिकित्सक अश्विनीकुमारों का वर्णन प्राप्त होता है ।[102] इसी प्रकार सिकन्दर के सहयात्री यूनानियों द्वारा भारतीय चिकित्सकों की अत्यधिक प्रशंसा भी की गई ।[103]

आयुधिक शिक्षा

आलोचित पुराण में आयुध सम्बन्धी शिक्षा के भी प्रसंग प्राप्त होते हैं । एक

स्थल पर प्रभुवर्य कुलपति दुर्योधन द्वारा मिथिलापुरी जाकर बलराम से गदा चलाने की दिव्य शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है ।[104] एक अन्य प्रसंग में जमदग्नि के पुत्र परशुराम सभी विधाओं में पारंगत, विशेष रूप से धनुर्वेद के परम ज्ञाता, क्षत्रियों के विनाशक एवं अग्नि के समान परम तेजस्वी कहे गये हैं ।[105] और्व मुनि के द्वारा राजा सगर को अस्त्र-शिक्षा प्रदान करने का वर्णन भी एक स्थल पर प्राप्त होता है ।[106] अन्य पौराणिक दृष्टान्तों द्वारा भी राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा के प्रबन्ध पर प्रकाश पड़ता है । विष्णु पुराण में विवेचित है कि सान्दीपनि मुनि ने कृष्ण और बलराम को सभी शस्त्रों की शिक्षा दी थी ।[107] मत्स्य पुराण में धनुर्वेद की शिक्षा को आवश्यक बताया गया है ।[108]

अन्य विषय

पौराणिक शिक्षा प्रणाली में वेद, शास्त्र आदि के अतिरिक्त योग, नीतिशास्त्र, भूगोल आदि विषयों के अध्ययन की परम्परा प्रचलित थी । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में राजा हिरण्यनाभ के पुत्र वशिष्ठ के विषय में उल्लिखित है कि उन्होंने पाँच सौ संहिताओं का विधिवत् अध्ययन किया था और परम बुद्धिमान याज्ञवल्क्य ने इन्हीं से योग की सांगोपांग शिक्षा ग्रहण की थी ।[109] एक अन्य स्थल पर महात्मा नारद के द्वारा दक्ष प्रजापति के पुत्रों की आलोचना करते हुए कहा गया है कि तुम भूगोल के तत्त्व को बिल्कुल नहीं जानते, पृथ्वी के ऊपर क्या है ? नीचे क्या है ? इसका अन्त कहाँ होता है ? इसका परिमाण क्या है ? इसको जाने बिना सृष्टि कर्म करना कठिन है ।[110] यह प्रसंग भूगोल विषय के अध्ययन की प्रथा का परिचायक है । विष्णु पुराण में प्रह्लाद को राजोचित शुक्रनीति की शिक्षा देने का प्रसंग प्राप्त होता है ।[111] मत्स्य पुराण के एक स्थल पर अध्यापनार्थ विषयों के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, धनुर्वेद, रथ और हाथी का प्रयोग तथा शिल्प का उल्लेख किया गया है ।[112] आलोचित पुराण के एक प्रसंग में भी शिल्प कर्म की चर्चा करते हुए विश्वकर्मा को समस्त

शिल्प कर्मों का निर्माता बताया गया है तथा शिल्पजीवि मानव समूह उसके शिल्पकर्म द्वारा ही जीविका अर्जन करते हैं, ऐसा वर्णित है ।[113]

शिक्षा सम्बन्धी पौराणिक व्यवस्था के विवेचन के आधार तत्कालीन विद्यार्थी जीवन, गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध, आचार्य का प्रतिष्ठित स्थान आदि का सम्यक् ज्ञान होता है । पौराणिक स्थलों पर कहीं वैदिक विचारों की निरन्तरता दिखाई पड़ती है, कहीं पर स्मृतियों से साम्य प्राप्त होता है और कहीं पर सर्वथा नवीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जैसे विद्यार्जन के उपरान्त देशाटन पर निकलने की परम्परा । अतः पौराणिक उद्धरण शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा के निर्माण में सहायक अवश्य है ।

सन्दर्भ

1. सा विद्या या विमुक्तये । विष्णु पुराण, 1/19/41.

2. ज्ञानात् शाश्वतस्योपलब्धिः । वायु पुराण, 16/21.

3. सारभूतमुपासीत ज्ञानं यज्ज्ञेयसाधकम् । तत्रैव, 17/2.

4. सर्वेषामेव भूतानां त्रयी संवरणं स्मृतम् । तत्रैव, 78/26.

5. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/14/35.

6. ज्ञानेनाप्रतिमेन । तत्रैव, 1/4/15.

7. आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते । विष्णु पुराण, 6/5/61.

8. अन्धं तम इवाज्ञानम् । तत्रैव, 6/5/62.

9. सा विद्या या विमुक्तये । द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 4.

10. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमा बभूवुः । ऋग्वेद, 10/71/7.

11. गुरुतीर्थे परा सिद्धिस्तीर्थानां परमं पदम् । वायु पुराण, 77/128.

12. विष्णु पुराण, 3/10/12.

13. समापितव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा । मत्स्य पुराण, 26/1.

14. मनुस्मृति, 2/36.

15. और्वस्तु ——— तस्य महात्मनः ।
अध्याप्य वेदशास्त्राणि ततोऽस्त्रं प्रत्यपादयत् । वायु पुराण, 88/134.

16. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/35/13-14.

17. तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ।
छान्दोग्य उपनिषद्, 1/11/4.

18. ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम् । मत्स्य पुराण, 181/17.

19. सन्देहनिर्णयार्थाय -------- मुनिं तत्र जाह्नवीसलिले ।
विष्णु पुराण, 6/2/2-5.

20. विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते । वनपर्व, 82/9.

21. इत्येदंगिरा: प्राह ऋषीणां शृण्वतां तदा ।
पृष्टस्तु संशयं सर्वं पितृणां प्राह संसदि । वायु पुराण, 83/125.

22. यो नोऽत्र सप्तरात्रेण नागच्छेद्विजसत्तमा: ।
स कुर्याद् ब्रह्मवध्यां वै समयो नः प्रकीर्तित: । तत्रैव, 61/13.

23. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/35/15; विष्णु पुराण, 3/5/3-4.

24. अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 147.

25. अत्रोदाहरन्तीमं श्लोकं पौराणिका: पुरा । वायु पुराण, 70/76.

26. मत्स्य पुराण, 146/2.

27. विष्णु पुराण, 146/2.

28. संवादो यत्र कीर्त्यते ऋषीणां वसुना सार्धं वसोश्चाधः पुनर्गतिः ।
वायु पुराण, 1/102.

29. मन्त्रादितत्त्वविद्वांसोजगदुश्च परस्परम् ।
वितण्डावचनाश्चैकेनिजघ्नुः प्रतिवादिनः । तत्रैव, 2/32.

30. विवाहश्च विवादश्च तुल्यशीलैर्नृपिष्यते । विष्णु पुराण, 3/12/22

31. सभा च समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उपमा संविदाने शिक्षाच्चारु वदानिपितर: संविदाने ।
अथर्ववेद, 7/12/1

32. लिखेद्वा लेखयेद्वापि पूजयेद्वापि पुस्तकम् ।
तस्य गेहे स्थिरा लक्ष्मी: सुप्रसन्ना भविष्यति । वायु पुराण, 112/64.

33. सकमण्डलुपुस्तक: बहुविधो बुध: स्मृत: । मत्स्य पुराण, 11/55.

34. स्वाध्यायान्मा प्रमद: । तैत्तिरीय उपनिषद, 1/15.

35. अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 7.

36. अनध्यायेष्वधीयानांस्तान् जघान् शतक्रतु: । वायु पुराण, 61/29.

37. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/34/33.

38. अधीयानोऽप्यनध्याये दण्ड्य: अध्यापश्च द्विगुणं तथा । मत्स्य पुराण, 227/151

39. स्नातधर्मप्रकरण, 45-46 । याज्ञवल्क्य स्मृति ।

40. समित्पाणि: प्रतिचक्रम -------- । शतपथ ब्राह्मण, 11/4/1/9.

41. तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तप: सर्वं समाप्यते । मनुस्मृति, 2/228.

42. अक्रोधो गुरुशुश्रूषा ---------- ।
नित्यं स्वाध्याय इत्येते ---- । वायु पुराण, 16/18-19.

43. शुश्रूषणं वाप्यगुरोरहो वा कार्यं नैतद्विद्यते ब्राह्मणस्य । तत्रैव, 79/71.

44. गुरुशुश्रूषया चैव ब्रह्मलोकं समश्नुते । मत्स्य पुराण, 210/11.

45. जग्राह विद्यामनिशं गुरुशुश्रूषणोद्यत: । विष्णु पुराण, 1/17/28.

46. अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 60.

47. गुरुंश्चैवावमन्यन्तेवाऽऽक्रोशैस्ताडयन्ति च । वायु पुराण, 101/156.

48. ---------- गुरूणां चाऽप्यपूजकः । तत्रैव, 101/158.

49. अवमन्ता गुरूणां यो ---------- । विष्णु पुराण, 2/6/12.

50. नाश्रद्धानाविदुषे । वायु पुराण, 103/70.

51. विनयेनोपसंगम्य पप्रच्छ स महाद्युतिम् । तत्रैव, 21/2.

52. सगरः स्वां प्रतिज्ञां च गुरोर्वाक्यं निशम्य च । तत्रैव, 88/139.

53. विष्णु पुराण, 3/5/8.

54. विद्यायाः साधनात्साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः । वायु पुराण, 59/23.

55. इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् । मनुस्मृति, 2/99.

56. द्विजदेवगुरूणां च व्यवायी नाश्रमे भवेत् । विष्णु पुराण, 3/11/119.

57. नाशुचौ नापि पापाय नाप्यसंवत्सरोषिते । वायु पुराण, 103/69.

58. अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 54.

59. सच्छिष्यानुग्रहार्थाय -------- । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/43/68.

60. विष्णु पुराण, 5/21/23.

61. गुरुशुश्रूषणं भैक्षं विद्याद् ब्रह्मचारिणः । वायु पुराण, 8/174.

62. भैक्षं चरेद्गृहस्थेषु यथाचारगृहेषु च ।
श्रेष्ठा तु परमा चेयं वृत्तिरस्योपदिश्यते । तत्रैव, 16/10-11.

63. आहारात्तेषुतिष्ठेषुश्रेष्ठं भैक्षमिति स्मृतम् । तत्रैव, 16/15.

64. अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 63.

65. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/3/3.

66. विष्णु स्मृति, 59/27.

67. अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव विचरेत् पृथ्वीमिमाम् ।
सारभूतमुपासीत ज्ञानं यज्ज्ञेयसाधकम् । वायु पुराण, 17/2.

68. वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः ।
सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान्प्रचक्षते । तत्रैव, 59/29.

69. स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थान्यमैः संनियमैर्युतः । तत्रैव, 59/30.

70. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ----- गुराहवनीयश्च --- दीप्यमानः
स्ववपुषा ----- । मत्स्य पुराण, 211/21-26-27.

71. मनुष्यधर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/43/68

72. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः । मनुस्मृति, 2/227.

73. मित्राणि शिष्याः ----- जन्मान्तरे ये मम तेभ्यः --- पिण्डम् ।
वायु पुराण, 110/55.

74. विशेषोऽस्ति न सतां पुत्रशिष्ययोः । विष्णु पुराण, 6/8/11.

75. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/2/8.

76. वैशम्पायनगोत्रोऽसौ यजुर्वेदं -------- ।
शिष्येभ्यः प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेविधानतः । वायु पुराण, 61/5-6.

77. राणायनीयः सौमित्रिः सामवेदविशारदौ । तत्रैव, 61/39.

78. अथर्वाणं द्विधा कृत्वा सुमन्तुरददाद्द्विजाः ।
कबन्धाय गुरुः कृत्स्नंतच विधायथाक्रमम् । तत्रैव, 61/49.

79. एकादश सहस्त्राणि दशवान्या दशोत्तराः ।
ऋचामथर्वणां पञ्च सहस्त्राणि विनिश्चयः । तत्रैव, 61/69-72.

80. अंगानिवेदाश्चत्वारो ------------ ।
---------------- च विधास्त्वेताश्चतुर्दश । तत्रैव, 61/78.

81. आरण्यकं सहोमंच एतद्गायन्ति सामगाः । तत्रैव, 61/63.

82. सांगांश्च चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राणि चैव हि । विष्णु पुराण, 5/21/23.

83. ऋग्यजुः सामाथर्वाणियत्तस्मै ब्रह्मणे नमः । वायु पुराण, 61/108.

84. मुर्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्त्रशः ।
ऋग्वेदश्चाभवत्तत्र पदक्रम विभूषितः । तत्रैव, 65/24-25.

85. ऋग्यजुः साममन्त्रैश्च --- स्नपनं कुर्यात् । मत्स्य पुराण, 59/12.

86. बह्वृची ------- पंक्तिपावनाः । वायु पुराण, 79/56-58.

87. विष्णु पुराण, 3/15/1.

88. रावणः - भोः सांगोपांगं वेदधीये । प्रतिमा नाटक, अंक 5.

89. दत्तात्रेयं स्मृतं विष्णोः पुराणज्ञाः प्रचक्षते । वायु पुराण, 70/77.

90. अनुवंशी पुराणज्ञा: गायन्ति । मत्स्य पुराण, 44/57.
अयं स कथ्यते प्राज्ञै: पुराणार्थ विशारदै: । विष्णु पुराण, 5/20/49.

91. भारत्या श्लक्ष्णया सर्वान्मुनीन्प्रह्लादयन्निव ।
पुराणज्ञ: सुमना: पुराणाश्रय युक्तया । वायु पुराण, 2/45.

92. कथाश्च विविधा: शुभा: । तत्रैव, 101/304-305.

93. पुराणेष्वितिहासेषु सूत्रेष्वपि च नैकधा । तत्रैव, 104/107-108.

94. गुणकर्मप्रभावैश्च कोऽधिको वदतां वर: ।
------------------ विस्तरम् ।
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । तत्रैव, 55/1-2.

95. भुक्त्वेतिहासं शृणुयान्मुहूर्तम् । मत्स्य पुराण, 57/15.

96. तत्र वंशे पुराणज्ञा गाथां गायन्ति वै द्विजा: । वायु पुराण, 96/13.

97. मत्स्य पुराण, 204/19.

98. अथ च त्वं पुनश्चैव आयुर्वेदं विधास्यसि । वायु पुराण, 92/16.

99. काशिराजो महाराज: सर्वरोगप्रणाशन: ।
आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषक्क्रियम् । तत्रैव, 92/21-22.

100. शांतनुस्त्वभवद्राजा विद्वान्स वै महाभिषक् । मत्स्य पुराण, 50/42.

101. काशिराजगोत्रेऽवतीर्य -------- सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि । विष्णु पुराण, 4/8/10.

102. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 185.

103. द्रष्टव्य, अल्तेकर, वही, पृष्ठ 185.

104. अथ दुर्योधनो राजा गत्वाऽथ मिथिलां प्रभुः ।
गदाशिक्षां ततो दिव्यां बलभद्रादवाप्तवान् । वायु पुराण, 96/83.

105. सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् । तत्रैव, 91/91.

106. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी 15.

107. सर्वशस्त्राणि चैव हि । विष्णु पुराण, 5/21/12.

108. धनुर्वेद च शिक्षयेत् । मत्स्य पुराण, 220/2.

109. शतानि संहितानान्तु पञ्चयोऽधीतवांस्ततः ।
तस्मादधिगतो योगी याज्ञवल्क्येनधीमता । वायु पुराण, 88/207.

110. बालिशा बत यूयं वै न प्रजानीथ भूतलम् ।
अन्तरूर्ध्वमधश्चैव कथं -------------- ।
किं प्रमाणं तु मेदिन्याः स्त्रष्टव्यानि तथैव च । तत्रैव, 65/147-148.

111. विष्णु पुराण, 1/29/26-30.

112. मत्स्य पुराण, 220/1-6.

113. मानुषाश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पानि शिल्पिनः । वायु पुराण, 66/30.

पौराणिक परम्परा में स्त्रियों का स्थान

हिन्दू समाज में स्त्रियाँ सर्वदा ही सृष्टि और सन्तुलन का अनिवार्य अंग मानी गई और उनकी सत्यबोधक महत्ता के कारण उन्हें मर्यादायुक्त सम्मानीय स्थान दिया गया। पौराणिक साहित्य में भी नारी के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित भावनाओं और मान्यताओं को प्रकाशित किया गया है जिससे तत्कालीन सामाजिक विधान में उनकी यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता है। सामान्यतः प्रस्तुत प्रकरण का स्पष्टीकरण करने वाले स्थलों की समीक्षा करना ही औचित्य पूर्ण है। आलोचित पुराण के एक स्थल पर स्त्री रूप धारिणी पृथ्वी वेनपुत्र पृथु से कहती है कि उसके अभाव में प्राणिमात्र का पालन असम्भव है। उसी में समस्त लोक स्थित है तथा जगत को उसी ने धारण किया हुआ है।[1] अन्यत्र ब्रह्मा के द्वारा स्वयं को एक पुरुष और एक स्त्री, दो भागों में विभक्त करने का उल्लेख है। ब्रह्मा के शरीर से प्रादुर्भूत देवी रूप से पुनः ब्रह्मा ने देह विभाग करने के लिये कहा और पुनर्विभाजित उन दो मूर्तियों से सहस्त्रों स्त्रियों का समुद्भव हुआ जिन्होंने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लिया।[2] एक अन्य स्थल पर सोम पुत्री मारिषा का प्रचेतागणों द्वारा वंश वर्द्धन के उद्देश्य से वरण करने का उल्लेख है। इनसे दक्ष प्रजापति की उत्पत्ति हुई जिन्होंने प्रजा सृष्टि की।[3] मत्स्य पुराण में भी सृष्टि का संचालन स्त्री रहित स्थिति में असम्भव माना गया है।[4] पौराणिक उद्धरणों में प्राप्त होने वाली यह भावना वैदिक प्रवृत्ति के निर्वाह की सूचक है। ऋग्वेद में भी नव विवाहिता स्त्री को दस पुत्रों का आशीर्वाद दिया गया है।[5] अथर्ववेद के एक मन्त्र में वीर पुत्र पाने की प्रार्थना की गई है।[6]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में जननी के रूप में स्त्री की सम्मानपूर्ण प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि परम भाग्यशालिनी जो चौदह कन्यायें दक्ष की शेष बचीं उन्हें कश्यप ने अंगीकार किया, इनमें समस्त लोक का मातृत्व सन्निहित था।[7] अन्यत्र वर्णित है कि परमतेजस्वी सूर्य के पुत्र मनु और यमराज के प्रति उनकी माता छायामयी संज्ञा का उतना स्नेहभाव नहीं था जितना उसे अपनी सन्तान से था। माता के इस मनोभाव को मनु सब प्रकार से सहन कर लेते थे किन्तु यमराज को असह्य लगता था। एक

दिन बाल स्वभाववश क्रुद्ध होकर सूर्यपुत्र यमराज ने माता को अपने पैर से ठोकर मार दी जिससे कुपित हुई माता ने उन्हें शाप दे दिया । शाप के कारण दुखित हुए यमराज ने पिता से शाप निवृत्ति के लिये निवेदन किया परन्तु सूर्य ने माता के शाप वचन को निष्फल कर पाने में असमर्थता प्रकट की ।[8] इसके अतिरिक्त प्लक्ष द्वीप के सम्बन्ध में की गई चर्चा में सोमक पर्वत का भी उल्लेख है जहाँ पर देवताओं ने प्राचीन काल में अमृत रखा था और गरुड़ अपनी माता के लिये उसे उठा ले गये थे ।[9] मत्स्य पुराण में उमा को जगत् जननी कहा गया है, जिनमें कार्तिकेय के रूप में विश्व का सौभाग्य समाहित था ।[10]

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में माता के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार और अनीतिपूर्ण बातों की निन्दा करते हुए कश्यप के द्वारा अपने पुत्रों को मातृ रक्षा का आदेश देते समय इस कार्य में धर्मपालन की मर्यादा निहित होने का समर्थन किया गया है ।[11] मत्स्य पुराण के अनुसार गर्भधारण और परिपोषण करने के कारण माता का स्थान श्रेष्ठ है । पतित होने पर भी उसका गौरव समाप्त नहीं होता है ।[12]

आलोचित पुराण के एक स्थल पर स्त्री की अवध्यता पर भी प्रकाश डाला गया है । अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में दैवी वाणी सुनने पर कंस तत्क्षण देवकी को मारने के लिये उद्यत हो गया । ऐसी स्थिति में महाबाहु वसुदेव ने कंस का ध्यान स्त्री संहार के वर्जन की ओर आकर्षित किया ।[13]

एक अन्य प्रसंग में भी यही भावना प्राप्त होती है । वेनपुत्र पृथु के द्वारा क्रोध में गाय के रूप में पृथ्वी को मारने के लिये तत्पर देखकर पृथ्वी ने उन्हें रोकते हुए कहा कि अधिकांश पशु, कीट पतंगों आदि तिर्यक् योनियों में भी स्त्री वध का निषेध करते हैं, अतः तुम धर्म से च्युत न हो ।[13] एक स्थल पर आख्यात है कि स्त्री वध की अधिकता उस समय होती है जब सामाजिक अव्यवस्था व्याप्त होने पर कलियुग का प्रारम्भ होता है ।[14] विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराण में भी ऐसी ही परिस्थितियों में

स्त्री वध का आधिक्य माना गया है ।[15]

पौराणिक उद्धरणों में प्राप्त होने वाले स्त्री की अवध्यता सम्बन्धी विचार वैदिक भावना की पुष्टि करते है । शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि स्त्री साक्षात् लक्ष्मी है, जिसकी हत्या करना अनुचित है ।[16] इसी परम्परा का निर्वाह उत्तरकाल में भी किया जाता रहा । विष्णु स्मृति तथा मनुस्मृति में स्त्री का वध करने वाले को राजदण्ड का भागी बताया गया है ।[17] यही कारण है कि आलोचित पुराण में भी स्त्री वध को अत्यन्त पातक कर्म माना गया है । देवासुर संग्राम के वर्णन में असुरों द्वारा शुक्राचार्य की माता की शरण में चले जाने पर देवों ने उनका अत्यधिक संहार किया जिससे देवी शुक्राचार्य की माता ने तपोबल द्वारा देवों को इन्द्रविहीन करने का प्रयत्न किया । इस समय स्वयं भगवान् विष्णु ने इन्द्र की रक्षा की और सुदर्शन चक्र से शुक्राचार्य की माता का सिर काट डाला । स्त्री वध को देखकर परम ऐश्वर्यशाली महर्षि भृगु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अपनी स्त्री का निधन हो जाने पर विष्णु को शाप दे दिया कि धर्म की महत्ता को जानते हुए भी एक अबला की हत्या करने के कारण तुम सात बार मनुष्य लोक में जन्म धारण कर निवास करोगे ।[18] ब्रह्माण्ड पुराण में परशुराम द्वारा जननी के वध को सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से कुकृत्य ही माना गया है ।[19]

पुत्री का स्थान

प्रस्तुत पुराण में पुत्री के प्रति प्रशंसापूर्ण और उदार भावनाओं का प्रतिपादन किया गया है । राजा सोम के द्वारा मारिषा नामक कन्या का संवर्द्धन अपनी किरणों से किया गया जिसे उन्होंने रत्न की श्रेणी में रखा है ।[20] अन्यत्र ब्रह्मा की पुत्री शतरूपा के विषय में आख्यात है कि ब्रह्मा के शरीर का अर्धांश उसमें निहित था ।[21] मत्स्य और विष्णु पुराण में भी कन्या के सम्बन्ध में यही भावना समर्थित हुई है ।[22]

इसके अतिरिक्त आलोचित पुराण में कन्या को पिता का स्नेह भाजन बताते हुए एक प्रसंग में वर्णित है कि दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य से भयाकुल होकर इन्द्र ने स्वपुत्री

जयन्ती को विश्वस्त सहायक मानकर उसे अपने श्रेष्ठ और मंगलदायी कार्यों से शुक्राचार्य को प्रसन्न करने का आदेश दिया ।[23] मत्स्य पुराण के अनुसार शील सम्पन्न कन्या दस पुत्रों के समान है ।[24] विष्णु पुराण में वर्णित है कि राजा मान्धाता ने शाप भय से अपनी कन्याओं का विवाह वृद्ध सौभरि से किया था । उनका स्नेह कन्याओं के विवाहोपरान्त भी न समाप्त हो सका ।[25]

पैतृक सम्पत्ति पर पुत्री के अधिकार को हिन्दू धर्मशास्त्रों के कम स्थलों पर ही स्वीकृति दी गई है ।[26] इसी विचार का परिपोषण प्रस्तुत पुराण में भी प्राप्त होता है । एक स्थल पर स्पष्टरूपेण आख्यात है कि इक्ष्वाकु के अन्य सभी पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकार मिला, परन्तु कन्या होने के कारण सुद्युम्न इस राज्य के उत्तराधिकार को नहीं प्राप्त कर सके ।[27] वस्तुतः पुत्र के अभाव में ही पिता के धन पर पुत्री का स्वत्व सम्भव माना गया था । याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति के मरणोपरान्त उसके धन के अधिकारी पत्नी, कन्या, पिता, माता आदि होते हैं ।[28] वैदिक काल में ही यह परम्परा विकसित हो चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद में उषा की उपमा उस स्त्री से दी गई है जो भाई के अभाव में पिता का धन प्राप्त करती है ।[29]

स्त्री शिक्षा की महत्ता का निरूपण भी आलोचित पुराण के अनेक स्थलों पर उपलब्ध है । सामान्यतः आध्यात्मिक और व्यवहारिक, दो प्रकार की शिक्षा का उल्लेख किया गया है । बृहस्पति की भगिनी जिसे विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचारिणी कहा गया है, परमयोग सिद्ध और समस्त जगत में आसक्ति विहीन होकर विचरण करने वाली थी ।[30] अन्यत्र दक्ष की कन्याओं को ब्रह्मवादिनी शब्द से अभिहित किया गया है ।[31] एक स्थल पर पर्वतराज हिमवान् और मेना की अपर्णा, एकपर्णा और एकपाटला तीन पुत्रियों की चर्चा करते हुए ऐसा निरूपित है कि जब तक सृष्टि स्थिति रहेगी, इनकी तपस्या का यशोगान सदैव होता रहेगा । इन्होंने एक सहस्त्र वर्षों तक कठोर तप किया जिसे देवता अथवा दानव दोनों ही करने में असमर्थ है । सभी योगबल से संयुक्त, तपोमय शरीर वाली और ब्रह्मवादिनी थीं ।[32] इनका वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्राप्त होता है ।[33] मेना और धारिणी नामक कन्याओं को भी ब्रह्मवादिनी और परम योगिनी कहा गया है ।[34]

विष्णु पुराण में इन्हें उत्तम ज्ञान से सम्पन्न, योगिनी और ब्रह्मवादिनी बताया गया है।[35]

स्त्रियों और बालिकाओं के द्वारा कठोर तपस्या के प्रसंग भी प्रस्तुत पुराण में वर्णित है। कैलास पर्वत सम्बन्धी विवरण में उमा के द्वारा वहाँ पर तपस्या करने का उल्लेख है।[36] परम तपस्वी और इन्द्र को मारने में समर्थ पुत्र की अभिलाषा से दिति ने भी कुशल वन में कठोर तप किया था।[37] इसके अतिरिक्त राजा सगर की दोनों स्त्रियों केशिनी और सुमति के द्वारा कठोर तपस्या से समस्त पापों को भस्म कर देने तथा महामुनि और्व को प्रसन्न करने का वर्णन भी प्राप्त होता है।[38] राजा अजमीढ की पत्नी धूमिनी ने सौ वर्षों तक परम कठोर तपस्या की थी।[39] मत्स्य पुराण में भी पीवरी का उल्लेख है जिसने सुयोग्य पति की प्राप्ति के लिये दारुण तपस्या की थी।[40]

इन पौराणिक उद्धरणों से कन्याओं के आध्यात्म विद्या सम्बन्धी ज्ञान, योग और तप के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सम्भवतः तत्कालीन समाज में सुसंस्कृत परिवार की कन्यायें, विशेष रूप से ऋषि और आचार्यों की पुत्रियाँ अधिक काल तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने जीवन की पूर्वपीठिका को सुयोग्य बनाती थीं।[41] अथर्ववेद में उल्लिखित है कि ब्रह्मचर्य के अभ्यास से कन्या युवा पति पाने में सफल होती थी।[42] तपस्या के अतिरिक्त कन्यायें वेदाध्ययन भी करती थीं। यह कार्य घर पर ही सम्पन्न होता था। ऐसी कन्या को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था।[43]

व्यवहारिक शिक्षा के अन्तर्गत नृत्य, संगीत, चित्रकला, युद्धविद्या आदि निहित थी जिसमें कन्या का निष्णात होना अत्यन्त स्वाभाविक माना जाता था। विष्णु और मत्स्य पुराण में अप्सराओं की नृत्यकला को सूर्य मण्डल की शोभा वृद्धि का कारण बताया गया है।[44] पौराणिक स्थलों पर प्राप्त होने वाले विचारों की पुष्टि अन्य साक्ष्यों द्वारा भी होती है। वात्सायन ने संगीत, नृत्य और चित्रकलाओं का ज्ञान

नारी के लिये वांछनीय माना है ।[45] हर्षचरित में राज्यश्री को नृत्य, गीत आदि कलाओं में निपुण बताया गया है ।[46]

पत्नी का गौरव

पौराणिक स्थलों पर पत्नी के लिये सहधर्मिणी शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है[47] जो गार्हस्थ्य-धर्म के पालन में पति को दिये जाने वाले सहयोग का परिचायक है । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में आख्यात है कि पृथ्वी का उद्धार करने वाले भगवान वराह के चरण वेद, दंष्ट्रा यूप, वक्षस्थल यज्ञ, जिह्वा अग्नि, रोमसमूह कुश और ब्रह्मा ही शिर थे । इस प्रकार वराह की क्रिया को यज्ञ का रूपक मानते हुए वर्णन क्रम में कहा गया है कि उस समय उनकी पत्नी छाया भी उनके साथ विद्यमान थी ।[48] अन्यत्र उल्लिखित है कि विश्व की सृष्टि की इच्छा से नैमिष क्षेत्र में प्राचीन काल में विश्व के सृष्टाओं ने सहस्त्र वर्ष पर्यन्त पवित्र यज्ञ किया था, जिसमें इला ने पत्नी के रूप में साथ दिया था तथा बुद्धिमान तेजस्वी मृत्यु ने शामित्र (पशु बंधन स्थान) का कार्य किया था ।[49] पुष्कर क्षेत्र में कश्यप के अश्वमेध यज्ञ में दिति उनकी पत्नी के रूप में उनके निकट आसीन थी ।[50] अन्य पौराणिक उद्धरणों में भी याज्ञिक अनुष्ठानों में भार्या के सहयोग की चर्चा की गई है । मत्स्य पुराण के अनुसार यज्ञीय मण्डप में सपत्नीक प्रवेश करना मंगलदायक है ।[51] ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि राजा सगर ने भार्या के साथ यज्ञीय स्नान सम्पन्न किया था ।[52]

यज्ञ के अतिरिक्त अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में भी पत्नी की उपस्थिति वांछित मानी गई है । प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर श्राद्ध में अग्नि का आवाहन भार्यासहित करने का उल्लेख है ।[53] ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा , विष्णु और महेश सपत्नीक देवी की अ उपासना करते हैं ।[54]

पौराणिक स्थलों पर धार्मिक क्रियाओं को भार्या सहित करने की परम्परा का प्रतिपादन वैदिक प्रवृत्ति की निरन्तरता का सूचक है । ऋग्वेद के एक सूक्त में

सपत्नीक अग्नि की पूजा करने का उल्लेख है।[55] तैत्तिरीय ब्राह्मण में पति पत्नी का संयोग सत्कर्म-पूर्ति का कारण निश्चित किया गया है।[56] अथर्ववेद में उन्हें यज्ञ की अधिकारिणी माना गया है।[57] मनुस्मृति के रचनाकाल तक यही भावना गतिशील बनी रही। इसके अनुसार स्त्री का यज्ञ, पति के साथ सफल होता है।[58] पाणिनि के नियमानुसार स्त्री तभी पत्नी कहलाती है जब वह पति के साथ यज्ञ संयुक्त होती है।[59]

पत्नी को गृहस्थ जीवन के सुख का आधार भी पौराणिक समाज में माना गया। विष्णु पुराण में आख्यात है कि गृहिणी यशोदा एक ओर कृष्ण के चंचल कार्य कलाप को रोकती थीं और दूसरी ओर गार्हस्थ्योचित कार्यों को भी करती जाती थीं।[60] गृहिणी के रूप में स्त्री का कर्तव्य द्व वैदिक काल में ही निर्धारित हो चुका था। अथर्ववेद में स्त्री गृह साम्राज्ञी बताई गई है।[61] कुटुम्बसंयोजन में स्त्री का उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण था।

आलोचित पुराण के विभिन्न स्थलों पर स्त्री की पति परायणता को भी प्रकाशित किया गया है। एक प्रसंग में नराधिप मान्धाता की पत्नी बिन्दुमती के विषय में आख्यात है कि वह परम रूपवती और पति परायण होने के कारण जगत में अद्वितीय थी। उसका पतिव्रता धर्म भी प्रशंसनीय था।[62] अन्यत्र प्रजापति अत्रि के वंश वर्णन में उनकी पत्नियों के पातिव्रत धर्म की चर्चा की गई है।[63] यशस्विनी सीता के लिये परम साध्वी, तद्व्रत परायण और अत्यन्त पतिव्रता विशेषण का प्रयोग किया है।[64] विष्णु पुराण में स्त्री का प्रमुख कर्तव्य पति-सेवा निर्धारित किया गया है।[65] मत्स्य पुराण में सावित्री के दृढ़ पति भाव को स्पष्ट करते हुए उल्लिखित है कि पतिव्रता स्त्रियों के प्रतिकूल चलने में यमराज भी समर्थ नहीं है।[66] इसी में अन्यत्र साध्वी स्त्रियों को देवताओं के समान पूजनीय समझने के लिये कहा गया है।[67]

पति की सेवा में पत्नी की मर्यादा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि सुकन्या नामक कन्या अपने वृद्ध पति च्यवन

ऋषि की आजीवन अनुगामिनी बनने के लिये वचनबद्ध थी ।[68] उत्तरकाल में भी यही परम्परा स्थाई रही । मनुस्मृति के अनुसार स्त्री को चाहिये कि वह पति को देवता माने ।[69] पतिव्रता के आदर्श की भूरि भूरि प्रशंसा रामायण और महाभारत में भी प्राप्त होती है तथा नारी की एकमात्र गति पति को ही माना गया है ।[70]

प्रस्तुत पुराण में पत्नी की पति भक्ति के अतिरिक्त ऐसे भी स्थल उपलब्ध हैं जहाँ पर पत्नी के प्रति पति प्रेम का प्रतिपादन किया गया है । एक प्रसंग में भगवान शिव के लिये उनकी पत्नी उमा को प्राणों से भी प्रिय कहा गया है ।[71] ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि पाण्डु अपनी पत्नी पुण्डरीका को प्राणों से भी प्रिय मानते थे ।[72] इन पौराणिक उद्धरणों की पुष्टि अन्य ग्रन्थों से भी की जा सकती है। ऐतरेय ब्राह्मण में पत्नी को सखा बताया गया है ।[73]

प्रस्तुत पुराण में पत्नी को महिमान्वित करने के साथ साथ स्त्री जीवन के अन्य पक्षों को भी प्रकाशित किया गया है जिनसे उनके उ प्रति रखे गये संकीर्ण दृष्टिकोण का ज्ञान होता है । एक स्थल पर स्त्री को शूद्र की श्रेणी में रखते हुए वर्णित है कि शिव शिवस्तोत्र के प्रभाव से शूद्र और स्त्री भी रुद्रलोक प्राप्त करने में सफल होते हैं ।[74] अन्यत्र शूद्र के समान श्राद्ध का अवशिष्ट अन्न स्त्री को देना भी वर्जित किया गया है ।[75] अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी स्त्री के प्रति इसी भावना का समर्थन प्राप्त होता है । विष्णु पुराण में स्त्री की चर्चा शूद्र के साथ करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण की सेवा करने वाले शूद्र की भाँति वह भी पति की सेवा करने से अनायास ही धर्मार्जन करती है ।[76] मत्स्य पुराण में आख्यात है कि दास के समान भार्या भी निर्धन है । वह, जो कुछ प्राप्त करती है, उस पर उसका स्वत्व नहीं रहता है ।[77] पुराणों में स्त्रियों की पतनोन्मुख स्थिति के जो प्रसंग उपलब्ध होते हैं उन्हीं का निर्वाह सूत्रों, महाकाव्यों और स्मृतियों के काल में भी दृष्टिगोचर होता है जबकि उनके उपनयन की प्रथा हट गई, स्त्री शिक्षा की उपेक्षा होने लगी । विवाह की आयु भी घटा दी गई और स्त्रियों को पति के दासतापूर्ण नियन्त्रण में रहने का आग्रह होने लगा।[78]

वस्तुतः आलोचित पुराण के जिन स्थलों का विवेचन किया गया है उन्हें सामान्य रूप से तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा का निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता है। अल्प संख्या में होने के अतिरिक्त ये प्रसंग विशेष परिस्थितियों से भी सम्बन्धित हैं। तत्कालीन अन्य ग्रन्थों के आलोक में इनकी पुष्टि की जा सकती है। स्त्री विषयक अनुदार विचार अन्य साहित्यिक स्थलों पर भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में स्त्रियों को सालवृक का हृदय कहा गया है, जिनकी मित्रता अनुचित मानी गई है।[79] मैत्रायणीय संहिता के एक प्रसंग में स्त्री मिथ्या का मूर्तिमान रूप बताई गई है।[80] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ते और कौए में असत्य, पाप एवं अन्धकार विद्यमान रहता है।[81] मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्त्री और शूद्र को समान रखते हुए कहा गया है कि द्विज को तीन बार आचमन करना चाहिये, परन्तु स्त्री और शूद्र को एक ही बार।[82] महाभारत और रामायण में स्त्रियों पर अनेक नैतिक लांछन लगाये गये। अनुशासन पर्व में वर्णित है कि स्त्रियों से बढ़कर कोई अन्य दुष्ट नहीं है, ये एक साथ ही उस्तरा की धार हैं, विष हैं, सर्प और अग्नि हैं।[83] रामायण में उन्हें धर्मभ्रष्ट, चंचल, क्रूर और विरक्ति उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[84]

विधवा की तत्कालीन समाज में शोचनीय दशा का ज्ञान पौराणिक उद्धरणों से होता है। विष्णु पुराण में बाल विधवा मारिषा के लिये मंदभागिनी शब्द का प्रयोग किया गया है जिस जन्म विफल था।[85] रेणुका की कथा वर्णित करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में आख्यात है कि वैधव्य, दुःख का वह प्रकार है, जो असह्य है।[86] विधवा के जीवन व्यतीत करने के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में कहा गया है कि विधवा अपने आभूषणों का परित्याग करती है। उसके म्लान वस्त्रों और केशों की चर्चा भी की गई है।[87] विधवा की दयनीय स्थिति और उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले धार्मिक क्रिया कलापों का उल्लेख भी पौराणिक स्थलों पर प्राप्त होता है। इसके साथ ही विधवा के पुनर्विवाह के अप्रचलन की भी सूचना मिलती है।[88]

ऋग्वेद में विधवा शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है किन्तु उनकी दशा पर प्रकाश डालने वाला एक ही प्रसंग उपलब्ध है जहाँ पर मरुतों की अति शीघ्र गतियों के कारण पृथ्वी को पतिहीन स्त्री की भाँति काँपती हुई बताया गया है ।[89]

धर्मसूत्रों में भी विधवा विषयक अनेक नियम प्रतिपादित किये गये । अधिकांश स्मृतियों में मनु द्वारा निर्धारित व्यवस्था का पालन मिलता है जिसके अनुसार पति मृत्यु के पश्चात् स्त्री को अपने शरीर को दुर्बल बना देना चाहिये, पर पुरुष का नाम नहीं लेना चाहिये और सदाचरण व गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिये ।[90] शान्तिपर्व में वर्णित है कि बहुत पुत्रों के होते हुए भी सभी विधवाएं दुख में हैं ।[91] याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि पति जीवित हो अथवा मृत, स्त्री का कर्तव्य है कि वह दूसरे पुरुष का उपगमन न करे ।[92] पौराणिक स्थल इसी व्यवस्था से साम्य रखते हैं ।

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में राजा बाहु की पत्नी यादवी को पति के मरणोपरान्त सती होने से और्व मुनि के द्वारा रोकने की चर्चा की गई है । गर्भवती होने के कारण ऋषि और्व के आदेशानुसार यादवी को सती होने के निश्चय को परिवर्तित करना पड़ा ।[93] मत्स्य पुराण में भी वर्णित है कि कामदेव के भस्म होने पर रति मरने की इच्छुक थी परन्तु शंकर के आदेश से उसे अपना विचार बदलना पड़ा ।[94] अतः सती प्रथा का तत्कालीन समाज में अधिक प्रचलन नहीं था । अन्य पौराणिक स्थलों पर इस प्रथा के प्रमाण अवश्य मिलते हैं परन्तु वे भी अल्प संख्या में हैं । विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि रेवती ने बलराम के शरीर का आश्लेष कर, उनके अंगस्पर्श के कारण शीतलीकृत अग्नि की शरण ली थी ।[95] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार रेणुका ने अपने पति को मृत पाकर भावी अपमान से रक्षा के लिये सती होने का निश्चय किया था ।[96]

वैदिक काल में भी सती प्रथा के प्रचलन के दृष्टान्त आंशिक रूप में प्राप्त होने

लगते हैं। अथर्ववेद में निरूपित है कि मृतक की पत्नी को आग लगाने के पूर्व चिता पर बैठा कर उतार दिया जाता था।[97] विष्णुधर्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी धर्मसूत्र ने सती होने के सम्बन्ध में निर्देश नहीं किया है।[98] रामायण और महाभारत में सती होने के उदाहरण बहुत कम हैं।[99]

पर्दा प्रथा के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण के विभिन्न प्रसंगों के आलोक में निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह प्रथा प्रचलित थी अथवा नहीं। राजा सगर की पत्नी से ऋषि और्व ने वरदान माँगने के लिये कहा जिसे केशिनी ने राजसभा में ही माँगा था।[100] दक्ष के द्वारा यज्ञ किये जाने पर सभी देवता सपत्नीक उपस्थित हुए।[101] इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पौराणिक समाज में सम्भवतः स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकती थीं। मत्स्य पुराण में भी आख्यात है कि राजा ब्रह्मदत्त मन्त्रियों सहित जब बाहर निकल रहे थे, तब उनकी पत्नी भी उनके साथ थी।[102] विष्णु पुराण में वर्णित है कि कंस ने जहाँ पर मल्ल युद्ध का आयोजन किया था, वहाँ अन्तःपुर एवं नागरिकों की स्त्रियाँ एवं वरांगनायें भी विद्यमान थीं।[103]

पर्दा प्रथा के समर्थक स्थल भी कुछ अन्य पुराणों में उपलब्ध हैं[104] जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि आंशिक रूप से यह प्रथा प्रचलित भी थी। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि वैदिक काल में इस प्रथा का प्रचलन नहीं था।[105] ऋग्वेद के छन्दों से स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय वधू को समस्त अभ्यागतों को दिखाया जाता था।[106] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि जनसमुदाय में स्त्रियों की उपस्थिति वर्जित नहीं थी।[107] आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार वधू को घर ले आते समय वर को चाहिये कि प्रत्येक निवेश स्थान पर दर्शकों को ऋग्वेद के मन्त्र के साथ दिखाये।[108] गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में जनसमुदाय में घूमती हुई स्त्रियों के विषय में परदे का कोई संकेत नहीं मिलता है। इस प्रथा के प्राचीनतम दृष्टान्त रामायण और महाभारत में ही उपलब्ध होते हैं। अयोध्याकाण्ड में वर्णित है कि आज सड़क पर जाते व्यक्ति उस सीता को देख रहे हैं, जिसे पहले आकाशगामी जीव भी न देख सके थे।[109] महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के वनगमन के अवसर पर वे शोकार्त नारियाँ राजमार्ग से जा रही

थीं, जो सूर्य और चन्द्र के लिये भी अदर्शनीय थीं ।[110] इन्हीं ग्रन्थों से पर्दा प्रथा के अप्रचलन के भी प्रमाण मिलते हैं । युद्धकाण्ड में वर्णित है कि विपत्ति के समय, युद्धों में, स्वयंवर में, यज्ञ में एवं विवाह में स्त्री का बाहर जनता में उपस्थित होना कोई अपराध नहीं है ।[111] सभापर्व में द्रौपदी ने कहा कि हमने सुना है, प्राचीन काल में विवाहित स्त्रियाँ जनसमुदाय में नहीं ले जाई जाती थीं, चिरकाल से चली आई प्राचीन प्रथा को कौरवों ने तोड़ दिया है ।[112]

अनेक प्रमाणों के आधार पर पौराणिक उद्धरणों की समीक्षा करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोचित पुराण में स्त्री विषयक परम्परायें एवं विचार अधिकांशतः उदार हैं । कन्या, पत्नी और माता के रूप में उन्हें यथोचित सम्मान भी दिया गया है । वस्तुतः परिस्थितियों की अनुकूलता बनाये रखने के उद्देश्य से प्रस्तुत पुराण में द्विविध भावना प्राप्त होती है । जहाँ पर आसक्ति और गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है वहाँ स्त्रियों के प्रति गौरवपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया गया है परन्तु जहाँ पर विरक्ति और सांसारिक जीवन के प्रति अश्रद्धा व्यक्त हुई है वहाँ पर स्त्रियों के प्रति उपेक्षापूर्ण एवं अनुदार भावनाओं को प्रकट किया गया है ।

सन्दर्भ

1. कथं धारयिता चासिपृजाराजन्मया विना ।
   मयि लोका: स्थिता राजन्मयेदं धार्यतेजगत् । वायु पुराण, 62/159-160.

2. आभ्यां देवी सहस्त्राण्यिव्याप्तमखिलं जगत् । तत्रैव, 9/98.

3. दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्योमारिषायां प्रजापतिः ।
   दक्षो जज्ञे महातेजा: सोमस्यांशेन वीर्यवान् ।
   असृजन्मनसा याऽऽदौ प्रजा दक्षो न मैथुनात् । तत्रैव, 63/34-39,44.

4. स्त्रिया विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपपद्यते । मत्स्य पुराण, 154/156.

5. ऋग्वेद, 10/85/45, द्रष्टव्य, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 317.

6. आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते ------ । अथर्ववेद, 3/23/2.

7. यास्तु शेषास्तदा कन्याः प्रतिजग्राह कश्यपः ।
   चतुर्दश महाभागा: सर्वास्ता लोक मातरः । वायु पुराण, 66/54

8. तत्रैव, 84/53-60.

9. पञ्चमः सोमकोनाम देवैर्यत्रामृतं पुरा ।
   संभृतं च हृतंचैव मातुरर्थे गरुत्मता । तत्रैव, 49/10.

10. त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्यदेवता । मत्स्य पुराण, 13/18.

11. मातरं रक्षतं चैव धर्मंचैवानुशिष्यताम् । वायु पुराण, 69/107.

12. पतिता गुरवस्त्याज्या न तु माता कथञ्चन ।
    गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी । मत्स्य पुराण, 227/150.

13. अपत्याश्च स्त्रियः प्राहुस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि । वायु पुराण, 62/159.

14. स्त्रीवधं गोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम् । तत्रैव, 58/67.

15. विष्णु पुराण, 4/24/71; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/31/68.

16. स्त्री वैषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियं घ्नन्ति । शतपथ ब्राह्मण, 11/4/3-2.

17. विष्णुस्मृति, 5/11;
स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां ----- । मनुस्मृति, 9/230.

18. ततोऽभिशप्तो भृगुणा विष्णुर्भार्यावधेतदा ।
यस्मात्ते जानताधर्ममवध्यास्त्रा निषूदिता । वायु पुराण, 97/132-140.

19. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/23/66, 69.

20. एतभूत्वा तुकन्येयंब्राह्मणावरवर्णिनी ।
भविष्यं जानताह्येषा मयागोभिर्विवर्धिता । वायु पुराण, 63/33.

21. अर्धेन नारी ता शतरूपा व्यजायत । तत्रैव, 10/8.

22. मत्स्य पुराण, 4/24; विष्णु पुराण, 1/7/17.

23. गच्छ तम्भावयस्वैनं श्रमापनयनैः शुभैः ।
तैस्तैर्मनोनुकूलैश्च -------------- ।
देवी ता हीन्द्रदुहिताजयन्तीशुभचारिणी । वायु पुराण, 97/151-152.

24. दशपुत्रसमा कन्या या न स्याच्छीलवर्जिता । मत्स्य पुराण, 154/157.

25. विष्णु पुराण, 4/2/101-111.

26. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेंट इण्डिया, पृष्ठ 237-239,
(संशोधित संस्करण)

27. कन्या भावात्तु सुद्युम्नो नैनं भागमवाप्नुयात् । वायु पुराण, 85/21.

28. पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्था ।
---- एषामभावे पूर्वस्य धनभागमुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः । याज्ञवल्क्य स्मृति, 2/139-140.

29. ऋग्वेद, 1/124/7.

30. बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी ।
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत । वायु पुराण, 66/27.

31. सर्वाश्च ब्रह्मवादिन्यः ------------ । तत्रैव, 65/118.

32. तपः शरीरास्ताः सर्वास्तिस्त्रो योगबलान्विताः ।
दैव्यस्ताः ----------------------------- ।
सर्वाश्च ब्रह्मवादिन्यः सर्वाश्चैवोर्ध्वरेतसः । तत्रैव, 72/14-15.

33. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/1/124.

34. वायु पुराण, 30/28-29.

35. विष्णु पुराण, 3/10/19.

36. वायु पुराण, 41/31.

37. कुशं वनमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् । तत्रैव, 67/94.

38. और्वस्ताभ्यां वरं प्रादात्तपसाऽऽराधितः प्रभुः । तत्रैव, 88/156.

39. महिषी चाऽजमीढस्य ---------- ।
पुनर्भवि तपस्तेपे शतं वर्षाणि दुश्चरम् । तत्रैव, 99/212.

40. मत्स्य पुराण, 15/5-6.

41. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 11.

42. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अथर्ववेद, 11/5/18.

43. तत्र ब्रह्मवादिनी नामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या ।
वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश मे उद्धृत ---- हारीत, पृष्ठ 402;
द्रष्टव्य अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 14/200.

44. विष्णु पुराण, 2/10/20; मत्स्य पुराण, 126/26.

45. कामसूत्र, 1/3/16, 1/3/1.

46. अथ राज्यश्रीरपि नृत्यगीतादिषु विदग्धासु, सखीषु सकलासु कलासु
उपचीयमानपरिचया । हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास 7,
[श्रीशंकर कवि रचित टीका सहित] पृष्ठ 140.

47. तत्स्वप्नस्य प्रभावेण मार्तण्डस्य सधर्मिणी । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/31/103.

48. छायापत्नीसहायो वै मणिशृंग इवोच्छ्रितः ।
भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः स प्राविशत्प्रभु । वायु पुराण, 6/22-23.

49. तमोगूहपतिर्यत्र --------------- ।
इलाया यत्र पत्नीत्वं शामित्रं यत्र बुद्धिमान् । तत्रैव, 2/6.

50. अन्तर्वत्नी दितिश्चैव पत्नीत्वं समुपागता । तत्रैव, 67/57.

51. यजमानः सपत्नीकः ----- प्रविशेद्यागमण्डपम् । मत्स्य पुराण, 58/21.

52. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/55/12.

53. पत्नीमादाय ------- जुहुयाद्धव्यवाहनम् । वायु पुराण, 75/70.

54. स्नात्वैवार्चयन्त्यन्ये सर्वे श्रीदेवतां नृप ।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः सस्त्रीकाः सर्वदा सदा । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/40/93-97

55. ऋग्वेद, 1/72/5.

56. सपत्नीपत्या ------ यज्ञस्य युक्तौ धुर्याविभूताम् । तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/5.

57. योषितो यज्ञियाः इमाः । अथर्ववेद, 2/36/1; 11/1/17/27.

58. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो । मनुस्मृति, 5/155.

59. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । अष्टाध्यायी, 4/1/33.

60. विष्णु पुराण, 5/6/15.

61. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं साम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च । अथर्ववेद, 14/1/43;
द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 111.

62. साध्वी बिन्दुमती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पतिव्रता च ------------------------ । वायु पुराण, 88/70-71.

63. तस्य पत्न्यश्च सुन्दर्यो द्वावाऽऽसन्पतिव्रताः । तत्रैव, 70/67.

64. रामस्य महिषी साध्वी सुव्रताऽतिपतिव्रता । तत्रैव, 88/15.

65. भर्तृशुश्रूषणं यथा स्त्रीणां परो मतः । विष्णु पुराण, 13/24.

66. मत्स्य पुराण, 208/3.

67. तस्मात्साध्व्यः स्त्रियः पूज्याः सततं देववन्नरैः । मत्स्य पुराण, 215/21

68. सा होवाच यस्मै मां पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति ।
शतपथ ब्राह्मण, 4/1/5-9.

69. मनुस्मृति, 5/154.

70. इह प्रेत्य हि नारीणां पतिरेको गतिस्सदा । अयोध्याकाण्ड, 27/6.
नारीणां ------------- पतिर्गतिः । अनुशासनपर्व, 146/55.

71. एवमुक्त्वा तु भगवान्पत्नीं प्राणैरपि प्रियाम् । वायु पुराण, 30/122.

72. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/11/40.

73. सखा जाया । ऐतरेय ब्राह्मण, 8/3/13;
द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 114.

74. स्त्रियश्च शूद्राश्च स्वर्लोकमवाप्नुयुः । वायु पुराण, 30/320.

75. स्त्री शूद्रायानुपेताय श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत् । तत्रैव, 79/84.

76. शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्द्विजसत्तमाः ।
तथा स्त्रीभिरनायासात्पतिशुश्रूषयैव हि । विष्णु पुराण, 6/2/35.

77. त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् । मत्स्य पुराण, 31/32.

78. द्रष्टव्य, डा० लल्लनजी गोपाल एवं डा० बी०एन०एस० यादव,
भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 34.

79. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालवृकाणां हृदयान्येता । ऋग्वेद, 10/95/15.

80. अनृतं स्त्री वैश्या करोति ------- । तैत्तिरीय संहिता, 1/10/11.

81. शतपथ ब्राह्मण, 14/1/1/31.

82. ----- स्त्री शूद्रं तु सकृत्सकृत् । मनुस्मृति, 5/139; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/21.

83. अनुशासन पर्व, 28/12 एवं 29.
द्रष्टव्य काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 326.

84. अरण्यकाण्ड, 45/29-30.

85. विष्णु पुराण, 1/15/63.

86. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/30/25, 37.

87. नारी याऽभर्तृकाऽकस्मात्तनुते त्यक्तभूषणा ।
न राजते तथा शक्र म्लानवस्त्रशिरोरुहा । मत्स्य पुराण, 154/19.

88. विष्णु पुराण, 1/15/54.

89. प्रेखामञ्जेषु विधुरेवरेजते । ऋग्वेद, 1/87/3.

90. न तु नामापि गृहीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु । मनुस्मृति, 5/157.

91. सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते । शान्तिपर्व, 148/2.

92. मृते जीविते वा पत्योर्या नान्यमुपगच्छति । याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/75.

93. और्वस्तां भार्गवो दृष्ट्वा कारुण्याद्विन्यवर्तयत् । वायु पुराण, 88/132.

94. मरणाव्यवसायात्तु निवृत्ता हराज्ञया । मत्स्य पुराण, 154/274.

95. विष्णु पुराण, 5/38/3.

96. असह्यदुःखं वैधव्यं सहमाना कथं पुनः ।
भर्त्रा विरहिता तेन प्रवर्त्तिष्ये विनिंदिता ।
तस्मादनुगमिष्यामि भर्त्तारं दयितं मम । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/30/35+38.

97. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 138.

98. मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा । विष्णु धर्मसूत्र, 25/14,
द्रष्टव्य, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 348.

99. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 140.

100. मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी पुत्रमेककम् ।
वंशस्य कारणं श्रेष्ठा जग्राह नृपसंसदि । वायु पुराण, 88/158.

101. आहूता मन्त्रतः सर्वेदिवाश्सह्यपत्निभिः । तत्रैव, 30/101.

102. निर्गच्छन्मंत्रि सहितः सभार्यो ----- । मत्स्य पुराण, 21/27.

103. अन्तः पुराणां मंचाश्च तथान्ये परिकल्पिताः ।
अन्ये च वारमुख्यानामन्ये नगरयोषिताम् । विष्णु पुराण, 5/20/27.

104. मत्स्य पुराण, 154/134.

105. द्रष्टव्य, अल्तेकर, एजूकेशन इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 197.

106. सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । ऋग्वेद, 10/85/33.

107. जुष्टानेरेषु समनेषु वल्गुः । अथर्ववेद, 2/36/1.

108. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/8/7.

109. अयोध्याकाण्ड, 33/8.

110. महाभारत, शल्यपर्व, 29/74.

111. युद्धकाण्ड, 116/28.

112. सभापर्व, 69/9.

आभूषणों के प्रयोग तथा परिधान विषयक विचार

प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण धारण कर सौन्दर्य वृद्धि का प्रयास स्त्री पुरुष दोनों के द्वारा किया जाता रहा है । प्राग्वैदिक संस्कृति के केन्द्र हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से प्राप्त मनके, ताबीज आदि मानव के इस स्वाभाविक गुण के ज्वलन्त प्रमाण हैं । ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर उपलब्ध स्वर्ण एवं रजत निर्मित अलंकारों का वर्णन भी इसी परम्परा के सातत्य का परिचायक है । एक स्थल पर गले में मणियाँ पहनने तथा आभूषणों के निर्माण में मोती के प्रयोग की भी चर्चा की गई है ।[1] अथर्ववेद में भी सोने चाँदी के अनेकानेक आभूषणों का उल्लेख हुआ है ।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है कि 'निष्क' के विनियोग से 'निष्ककण्ठ' नामक आभूषण गले में पहना जाता था ।[3] पातंजलि के अनुसार भी स्त्रियाँ प्रायः आभूषणों से सुसज्जित रहा करती थीं ।[4] अलंकारों के प्रयोग के प्रति आलोचित पुराण में भी यही दृष्टिकोण प्राप्त होता है । एक प्रसंग में कहा गया है कि विविध अलंकारों से विभूषित होने पर स्त्रियों का सौन्दर्य बढ़ जाता है ।[5] अन्यत्र वर्णित है कि राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा ने अपनी धाय को विभिन्न आभूषणों से अलंकृत करके ऋषि दीर्घतमा के पास भेज दिया था ।[6] अतः पौराणिक संरचना के काल में भी अलंकार सौन्दर्य संवर्द्धन का साधन माने जाते थे । ब्रह्माण्ड पुराण के एक प्रसंग से विदित होता है कि स्त्रियों की अलंकार विहीनता अमंगल सूचक मानी जाती थी क्योंकि कामदेव से वियुक्त होकर रति ने अपने आभूषणों का त्याग कर दिया था ।[7]

प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर शरीर के अंगों के अनुकूल ही अलंकारों के निर्माण और प्रयोग करने के लिये कहा गया है । ऐसा निरूपित है कि आभूषणों का यथास्थान विभूषित न होना अति निन्दाजनक है । जिस प्रकार गीतों के अलंकार में विपर्यास निन्दनीय है उसी प्रकार पैरों में बंधे कुण्डल और कण्ठ में करधनी धारण करना अशोभनीय है ।[8]

आलोचित पुराण में शिरोभाग के आभूषणों में मुकुट और नाना प्रकार के फूलों का उल्लेख हुआ है। राक्षस गणों के रूप की चर्चा करते हुए उन्हें मुकुटधारी और पगड़ी पहने हुए वर्णित किया गया है।[9] विष्णु पुराण में भी श्रीकृष्ण का मुकुट मण्डित प्रसंग मिलता है।[10] ब्रह्माण्ड पुराण में कृष्ण को मोर की पूँछों का आपीड (पगड़ी) पहने हुए बताया गया है।[11] प्रस्तुत पुराण में शिव के अनुचर वीरभद्र के शिरोभाग पर रंग बिरंगे फूलों की सज्जा के अतिरिक्त उसे पगड़ी पहने हुए भी कहा गया है।[12] मत्स्य पुराण में पार्वती को स्वर्णिम सरोवर के कमलों द्वारा सिर को अलंकृत किये हुए वर्णित किया गया है।[13] इसी प्रकार विष्णु पुराण में [illegible]त पुष्प की मंजरी से अपने केशों को सुसज्जित करना सत्यभामा की बलवती इच्छा बताई गई है।[14]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में किरीट का भी उल्लेख हुआ है। श्रीकृष्ण को परम पुरुष कहते हुए चमकीले रत्नों से गुम्फित, मयूर के पिच्छों के बने हुए मनोहर किरीट से सुशोभित भी निरूपित किया गया है।[15] कदाचित् किरीट और आपीड एक ही अलंकार के दो नाम थे क्योंकि विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण और बलराम मोर की पूँछों का आपीड धारण किये हुए वर्णित हैं।[16]

प्रस्तुत पुराण में कर्णाभूषण का सम्बन्ध वराह रूपधारी भगवान से स्थापित करते हुए आख्यात है कि उनके कानों के कुण्डल वेदांग बने हुए थे।[17] मत्स्य पुराण के एकतम स्थल पर वासुकि और तक्षक नागों को शंकर के कानों का अलंकार कहा गया है।[18]

कानों में कुण्डल स्त्री और पुरुष दोनों धारण करते थे। प्रस्तुत पुराण में उत्तरकुरु के निवासी युवक कुण्डल धारण किये हुए वर्णित हैं।[19] अन्यत्र राक्षसों को भी कुण्डलधारी बताया गया है।[20] स्त्रियों द्वारा कुण्डल-प्रयोग की परम्परा सदैव से ही विद्यमान थी। मत्स्य पुराण के अनुसार जिस समय राजा ययाति देवयानी से

बात कर रहे थे वह कुण्डल पहने हुए थी ।[21] विष्णु पुराण में वर्णित है कि अदिति के कुण्डलों का अपहरण नरकासुर द्वारा किया गया था ।[22]

गले में धारण किये जाने वाले आभूषणों में मणि, हार, पुष्पमाला आदि की चर्चा आलोचित पुराण में प्राप्त होती है । राजा सत्राजित द्वारा ज्योतिर्गणों के स्वामी सूर्यदेव से मित्रता का प्रमाण पूछने पर भगवान् सूर्यदेव ने अपने कण्ठ से स्यमन्तक मणि निकाल कर नृप सत्राजित के कण्ठ में बाँध दी ।[23] ब्रह्माण्ड पुराण में कौस्तुभ मणि का अधिष्ठान श्रीकृष्ण का वक्षस्थल बताया गया है ।[24]

हार के सम्बन्ध में पौराणिक विवरणों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि इसका प्रयोग भी स्त्री और पुरुष दोनों में प्रचलित था । एक प्रसंग में विष्णु और ब्रह्मा द्वारा शिव को हिरण्य की मात्रा धारण करने वाले विशेषण से सम्बोधित किया गया है ।[25]

अन्यत्र कल्प संख्या निरूपण में ब्रह्मा के पुत्रों को कल्प के नामानुसार माला धारण करने वाला कहा गया है ।[26] मत्स्य पुराण में भी नारद-बाणासुर मिलन के अवसर पर राक्षसराज के हार पहनकर शोभायमान होने का उल्लेख है ।[27] नारियों के द्वारा हार-प्रयोग के दृष्टान्त भी पौराणिक वर्णन में प्राप्त होते हैं । ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ऋषीक आश्रम में वहाँ निवास करने वाली स्त्रियाँ हार पहनकर सुशोभित हो रही थीं ।[28]

आलोचित पुराण में हाथों में पहने जाने वाले आभूषणों का उल्लेख भी है । एक प्रसंग में उत्तर-कुरु वासी युवकों द्वारा वलय धारण की चर्चा मिलती है ।[29] विष्णु और ब्रह्मा के द्वारा देवाधिदेव भगवान् शंकर की स्तुति करते हुए दसों दिशाओं को उनकी भुजायें कहा गया है जो केयूर और अंगद से विभूषित हैं ।[30] अन्य पौराणिक दृष्टान्तों द्वारा भी इन हस्ताभूषणों के प्रचलन का समर्थन होता है । विष्णु पुराण के अनुसार रास के अवसर पर गोपियों के चंचल वलय झंकृत हो उठते थे ।[31] ब्रह्माण्ड

पुराणxमेंxअति

पुराण में अत्रि पुरी की युवतियों का प्रिय आभूषण केयूर कहा गया है ।[32] इन अलंकारों का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा किया जाता था ।

कंकण को भी स्त्रियों के द्वारा धारण किया जाता था । ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि ऋचीक आश्रम में निवास करने वाली नारियाँ कंकण पहने हुए सुशोभित हो रही थीं ।[33] अंगूठी का प्रयोग भी स्त्री और पुरुषों में प्रचलित था । प्रस्तुत पुराण में शिव के वरद रूप में उन्हें अंगूठी पहने हुए वर्णित किया गया है ।[34]

कटि स्थल पर धारण किये जाने वाले अलंकारों में आलोचित पुराण में केवल किंकिणी की चर्चा की गई है । भगवान महादेव की आराधना करते हुए उन्हें किंकिणीधारी कहा गया है ।[35] इसके अतिरिक्त ऐड वंश के राजाओं को 'श्रोणिबन्ध' कहा गया है जो सम्भवतः मेखला का पर्याय है ।[36] मत्स्य पुराण में पार्वती के द्वारा पत्र-रूप वीरक की मेखला को किंकिणी युक्त करने का उल्लेख है ।[37]

पौराणिक स्थलों में उल्लिखित आभूषणों के प्रचलन की पुष्टि अन्य साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों के द्वारा भी होती है । कादम्बरी में सामन्तों द्वारा किरीट पहनने का वर्णन है ।[38] मालतीमाधव में कालिदास ने बकुल कुसुम से बने आपीड का उल्लेख किया है ।[39] रामायण में राक्षसों के कुण्डल युक्त मुखमण्डल का निरूपण किया गया है ।[40] अजन्ता के भित्तिचित्रों में राजाओं और राजपुरुषों को मुकुट धारण किये चित्रित किया गया है ।[41] कण्ठ में पहनने वाले आभूषणों का वर्णन ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है । एक स्थल पर अश्विनीकुमारों द्वारा प्रयुक्त कमल की माला का उल्लेख किया गया है ।[42] नागार्जुनीकोण्ड की कला में एक स्थल पर स्त्री आकृति कण्ठ में हार पहने हुए प्रदर्शित है ।[43] शिशुपालवध की एक स्त्री वलय धारण किये हुए वर्णित है ।[44] उत्तररामचरित में सीता के कंकण युक्त हाथों की उपमा महोत्सव से दी गई है ।[45] पादताडितक से ज्ञात होता है कि केयूर स्त्रियों का प्रिय अलंकार था ।[46] पुरातात्विक उदाहरणों में भी सतलम अलंकार निरूपित किये गये हैं । साँची की कला

में प्रदर्शित एक पुरूष हाथों में कड़ा जैसा आभूषण पहने हुए है ।[47] नागार्जुनीकोण्ड की एक युगल प्रतिमा कटि प्रान्त में मेखला धारण किये हुए अंकित है ।[48] अजन्ता की कला में नारियाँ अँगूठी पहने चित्रित की गई है ।[49]

<u>सुगन्धित लेपों का प्रचलन</u>

आलोचित पुराण में तत्कालीन प्रसाधनों में अनुलेप की भी चर्चा की गई है । एक स्थल पर भूति के पुत्रों को विचित्र चन्दनादि का लेप ब लगाये हुए बताया गया है ।[50] अन्यत्र महेश्वर महादेव के रूप का वर्णन करते हुए उन्हें शरीर पर विभिन्न प्रकार की मालायें और लेप धारण किये हुए कहा गया है ।[51] शिव के अनुचर वीरभद्र के द्वारा भी बहुविध गन्ध चन्दन के लेप का प्रयोग करने का प्रसंग प्राप्त होता है ।[52] अन्य पौराणिक दृष्टान्तों से भी अनुलेप के प्रयोग का समर्थन होता है । मत्स्य पुराण में हिमवान् का रंग चन्दन द्वारा [illegible] कहा गया है ।[53] ब्रह्माण्ड पुराण में चन्दन हिमवान् का अनुलेप बताया गया है ।[54] चन्दन के अतिरिक्त उशीर[55] और अगुरु[56] भी अनुलेप के लिये प्रयुक्त किये जाते थे ।

स्त्रियों के द्वारा भी अनुलेप का प्रयोग किया जाता था । आलोचित पुराण के एक स्थल पर महावर के समान रक्त वर्ण वाले प्रलय मेघों का उल्लेख है ।[57] जिससे उसके प्रचलन की पुष्टि होती है । एक अन्य प्रसंग में निरूपित स्त्रि आलक्तक का विक्रय अपराध घोषित है ।[58] मत्स्य पुराण में निरूपित हिमालय विवरण में वहाँ की भूमि को अप्सराओं द्वारा प्रयुक्त आलक्तक से मुद्रित बताया गया है ।[59] परवर्ती साहित्यिक कृतियों से भी लाक्षा रस के व्यवहार किये जाने के प्रमाण मिलते हैं । अभिज्ञान शाकुन्तल में पति गृह गमन के अवसर पर स्नेहार्द्र वनस्पतियों द्वारा उसे लाक्षा रस प्रदान करने का उल्लेख है ।[60]

काजल

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में कार्तिकेय को महिषासुर की स्त्रियों के नयनों से काजल हर लाने वाला कहा गया है।[61] विष्णु पुराण में प्रलय-पयोदों की उपमा जाती (पुष्प) के काजल से दी गई है।[62] काजल के प्रयोग की निरन्तरता साहित्यिक साक्ष्यों से भी प्रमाणित होती है। शिशुपालवध में स्त्री के नयनों से अञ्जन-मिश्रित आँसुओं का उल्लेख है।[63]

परिधान सम्बन्धी आदर्श

आलोचित पुराण में उपलब्ध उद्धरणों के प्रकाश में मनुष्य के लिये वस्त्र की आवश्यकता और समयानुकूल वस्त्र धारण की परम्परा का समुचित अनुमान लगाया जा सकता है। एक प्रसंग में आख्यात है कि वस्त्र सभी देवताओं द्वारा प्रशंसित और सर्वदेवमय हैं। वस्त्र के अभाव में धार्मिक कार्यों का सम्पादन भी असम्भव है।[64] इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति मत्स्य पुराण में हुई और विभिन्न धार्मिक अवसरों पर वस्त्राच्छादित रहना आवश्यक कहा गया है।[65] ये स्थल वैदिक विचारों की निरन्तरता के सूचक हैं। शतपथ ब्राह्मण में वस्त्र को मनुष्य के बाहरी आवरण का कारण माना गया है।[66]

वस्त्र विविधता

प्रस्तुत पुराण में ऊनी वस्त्र तथा श्रेष्ठ कम्बल के दान के लिये आदेश दिया गया है।[67] ब्रह्माण्ड पुराण में कम्बल के सन्दर्भ में 'ऊर्णा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[68] जिससे कम्बल का ऊन द्वारा बुना जाना स्पष्ट हो जाता है। 'ऊर्णा' शब्द ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है और भेड़ के ऊन से वस्त्र बनाया जाता था।[69] सिन्धु प्रदेश के लिये ऊर्णावती नाम का प्रयोग हुआ है।[70] इसके अतिरिक्त कम्बल का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[71]

चर्म निर्मित परिधान धारण करने की चर्चा भी आलोचित पुराण में की गई है। एक स्थल पर जल के अन्दर कृष्ण-मृगचर्म धारण किये हुए भगवान् विष्णु का उल्लेख है।[72] अन्यत्र शिवदूत वीरभद्र को व्याघ्र-चर्मधारी बताया गया है।[73] एक अन्य प्रसंग में भगवान महादेव को चर्मवसनधारी कहा गया है।[74] विष्णु पुराण में विवरण है कि यज्ञ के अनुष्ठान पर केशिध्वज ने मृग चर्म पहना था।[75] मत्स्य पुराण में शिव के वीरक नामक गण का वस्त्र मृगचर्म निर्मित कहा गया है।[76] वास्तव में चर्म वस्त्र को पवित्र माना गया था।[77] अतः वानप्रस्थी के लिये इसे अनुकूल घोषित किया गया। यह व्यवस्था गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप से दी गई है।[78]

प्रस्तुत पुराण में वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले वस्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। शृंगवान् पर्वत के निवासियों के प्रसंग में आख्यात है कि वे वृक्षों द्वारा प्रदत्त वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।[79] अन्यत्र वानप्रस्थ धर्म के निर्धारण में चीर, पत्र और चर्म धारण का आदेश दिया गया है।[80] मत्स्य पुराण में शिव का वीरक नामक गण मुञ्जा से बनी मेखला धारण किये हुए निरूपित है।[81] विष्णु पुराण में कलियुगीन मनुष्यों के वल्कल की प्रचुरता वाले वस्त्रों का वर्णन मिलता है।[82]

आलोचित पुराण में क्षौम, पट्ट और कौशेय वस्त्रों का दानकर्ता समस्त मनोरथों को प्राप्त कर लेने वाला कहा गया है।[83] क्षुमा का समीकरण सन[84] अथवा अतसी[85] (अलसी) से किया जाता है। इसका प्रथम उल्लेख वैदिक युगीन मैत्रायणी संहिता में प्राप्त होता है।[86] सम्भवतः अलसी के रेशों से बनाया जाने वाला यह मांगलिक वस्त्र था। आश्वलायन श्रौतसूत्र[87] में क्षौम को मंगलकारी मानकर सोमयाग में दक्षिणा के लिये दिये जाने योग्य कहा गया है। क्षौम के तुल्य कौशेय भी रेशमी वस्त्र था जिसका प्रथम वर्णन शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। टीकाकार हरिस्वामी ने कौशेय का अर्थ कीटकोश से रचा हुआ (रेशमी) वस्त्र माना है।[88] अमरकोश में क्षौम के समान कौशेय भी रेशमी वस्त्र का ही एक प्रकार विशेष प्रतिपादित किया गया है।[89] अतः आलोचित पुराण में भी कौशेय सम्भवतः रेशमी वस्त्र के सन्दर्भ

में ही प्रयुक्त किया गया है ।

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में कार्पास का भी उल्लेख हुआ है जिससे तात्पर्य कपास का बना हुआ अर्थात् सूती वस्त्र है ।[90] कार्पास की चर्चा आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी की गई है और कपास के वस्त्र को सोम यज्ञ में दक्षिणा देने योग्य माना गया है ।[91]

इस प्रकार ऊनी, चर्मनिर्मित, वृक्षों से उपलब्ध, रेशमी और सूती समस्त प्रकार के वस्त्रों के प्रचलन सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर पौराणिक संरचना के काल में वस्त्र वैविध्य का ज्ञान होता है ।

रंग विषयक परिकल्पना

आलोचित पुराण में विभिन्न रंगों के वस्त्रों का वर्णन भी प्राप्त होता है । एक स्थल पर आख्यात है कि योगी को श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिये क्योंकि इससे मनोविकारों का नाश होता है ।[92] श्वेत रंग को पवित्रता सूचक मत्स्य पुराण में भी मानते हुए कहा गया है कि उद्यान बनवाते समय यजमान के द्वारा श्वेत वस्त्र पहनने चाहिये ।[93] यही भावना मनुस्मृति में प्रदर्शित की गई है जहाँ गृहस्थ को श्वेत वस्त्र धारण कर शुद्धतापूर्वक स्वाध्याय का आदेश दिया गया है ।[94]

प्रस्तुत पुराण में पीले रंग के विषय में एक स्थल पर चर्चा की गई है और इकतीसवें कल्प को पीतवास नाम दिया गया है । इस कल्प में परमेष्ठी ब्रह्मा के पुत्र को [illegible]धारी, पीत चन्दन का लेप लगाये हुए, पीतमाला धारण किये हुए और पीली पगड़ी पहने हुए वर्णित किया गया है ।[95] निस्सन्देह विभिन्न रंगों में पीले रंग का भी स्थान था ।

ब्रह्मा के द्वारा पुत्रेच्छा से ध्यान करने पर उत्पन्न हुए पुत्र का शरीर और नेत्र रक्तवर्ण के थे, वह रक्तमाला और रक्ताम्बर धारण किये हुए था ।[96] रक्त वर्ण के सम्बन्ध में विष्णु पुराण में निरूपित है कि दैत्यों को मोहित करने वाले मायामोह के वस्त्र लाल रंग के थे ।[97] यह रंग सम्भवतः विशेष चमक-दमक का बोधक था ।

आलोचित पुराण में ऐसा स्वप्न अनिष्टकारी बताया गया है जिसमें काले वस्त्र धारण किये स्त्री दृष्टिगोचर हो ।[98] अन्यत्र वर्णित है कि सित कल्प में दुखी होकर सृष्टि के लिये ब्रह्मा ने पुत्र कामना से चिन्ता की जिससे उनका वर्ण काला हो गया ।[99] अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि काला वस्त्र अशुभ का सूचक था । महाभारत में उल्लिखित है कि राजा परीक्षित ने समस्त सूर्यवंश के विनाशार्थ जिस यज्ञ का आयोजन किया था, उसमें सभी पुरोहित काले वस्त्र पहने हुए थे ।[100]

इन पौराणिक उद्धरणों के आधार पर तत्कालीन समाज में प्रचलित रंग बिरंगे परिधानों के प्रति रूझान का आभास होता है । इसके अतिरिक्त वस्त्रों की रंगाई पर भी प्रकाश पड़ता है । विष्णु पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि कृष्ण और बलराम के वस्त्रों को क्रमशः सुवर्ण और अंजन के चूर्ण से रंगा गया था ।[101] मत्स्य पुराण में शुक्लपक्ष के एक व्रत में वस्त्रों को कौसुंभ रंग से रंगने के लिये कहा गया है ।[102]

<u>वस्त्रधारण की व्यवस्था</u>

आलोचित पुराण के किसी प्रसंग में पहनने वाले वस्त्रों की संख्या का कोई निर्देश नहीं दिया गया है । कुछ स्थलों पर 'चित्रवेश्धर' अथवा 'विचित्रवस्त्राभरण' शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है । अन्य पौराणिक उद्धरणों से सामान्यतः प्रयुक्त किये जाने वाले वस्त्रों का ज्ञान होता है । विष्णु पुराण में आख्यात है कि होम, देवपूजन तथा आचमन के अवसर पर गृहस्थ दो वस्त्र धारण करे ।[103] अन्यत्र कृष्ण द्वारा भी दो वस्त्र पहनने का उल्लेख मिलता है ।[104] मत्स्य पुराण में सारस्वत व्रत

के अवसर पर ब्राह्मण को दो वस्त्र प्रदान करने का आदेश दिया गया है ।[105] वैदिक ग्रन्थों में तीन वस्त्रों के प्रयोग का वर्णन मिलता है ।[106]

आलोचित पुराण के एक स्थल पर कृष्णाजिन, विष्णु का उत्तरासंग सूचक परिधान बताया गया है ।[107] उत्तरीय और उत्तरासंग दोनों शब्द चादर के लिये प्रयुक्त किये जाते थे ।[108] महाभारत में भी ऊर्ध्ववस्त्र के लिये 'उत्तरीय' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[109] शिशुपालवध में एक नायिका उत्तरीय द्वारा वक्षःस्थल को आवृत्त किये हुए उल्लिखित है ।[110]

अधोवस्त्र को 'वास' अथवा 'शाटी' कहा जाता था । विष्णु पुराण में धोती के लिये 'शाटी' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[111] प्रतीत होता है कि 'शाटी' साड़ी शब्द का संस्कृत रूप है । इसी अर्थ में वसिष्ठ धर्मसूत्र में शाटी का उल्लेख हुआ है ।[112]

प्रस्तुत पुराण में उष्णीष धारण करने का वर्णन भी प्राप्त होता है । कल्प संख्या निरूपण में सभी ब्रह्म पुत्रों को कल्प के वर्णानुसार उष्णीष धारण किये हुए बताया गया है ।[113] अन्यत्र शिव के अनुचर वीरभद्र के द्वारा इसे प्रयुक्त करने का वर्णन है ।[114] यह परम्परा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो चुकी थी । शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि यज्ञ के अवसर पर यजमान उष्णीष धारण करते थे ।[115] विष्णु स्मृति में गृहस्थ को स्नानोपरान्त उष्णीषयुक्त होने का आदेश विहित है ।[116]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में भोजन करते समय उपानह का पहनना गर्हित गया है ।[117] गौतम धर्मसूत्र में भी पर-प्रयुक्त उपानह का प्रयोग करना निन्दित कहा गया है ।[118]

केश विन्यास

आलोचित पुराण में केशों का प्रसाधन रहित होना कलियुगीन अधार्मिकता का

परिचायक माना गया है।[119] एक स्थल पर पिशाचों को लम्बे बालों वाला कहा गया है।[120] अन्यत्र शुक्राचार्य द्वारा शिव की स्तुति करते हुए उन्हें 'मुक्तकेश' कहा गया है।[121]

शिव की जटा का विविध रूपेण विवरण भी प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध है। कहीं पर एक जटा[122], कहीं त्रि जटिन्[123] कहीं चूडाल (ऊपर गाँठ लगाये हुए) और कहीं पर जटामालिन्[125] का विशेषण दिया गया है। इसके अतिरिक्त महादेव के पुत्र रूपी कुमारगण भी जटाधारी बताये गये हैं।[126] विष्णु पुराण में भी जटा धारण के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। सप्तर्षियों के प्रसंग में वर्णित है कि जिस समय गंगा जल में वे प्राणायाम करते हैं, उनकी जटा जल तरंग से अव्यवस्थित हो जाती है।[127]

शिव के सन्दर्भ में 'शिखिन्', शिखण्डिन्, शिखा युक्त आदि शब्द भी आलोचित पुराण में प्रयुक्त हुए हैं।[128] महादेव के आठवें अवतार में उत्पन्न चार पुत्रों से से एक को 'पंच शिखाधारी' कहा गया है। इस नाम का सम्बन्ध सम्भवतः बालों की पाँच शिखाओं से था।[129] अन्यत्र अप्सराओं को भी 'पंच चूडा' कहा गया है।[130]

प्रस्तुत पुराण में श्मश्रु के रखने के सम्बन्ध में प्रमाण मिलते हैं। राजा ययाति द्वारा अपने पुत्र यदु से यौवनावस्था माँगने पर यदु ने उत्तर दिया कि मैं श्वेत श्मश्रु धारण कर जर्जर वृद्धावस्था को अंगीकार नहीं करना चाहता हूँ।[131]

मुण्डन और अर्द्ध-मुण्डन का भी उल्लेख आलोचित पुराण के एक प्रसंग में हुआ है। राजा सगर के द्वारा शकों को अर्द्ध-मुण्डन करा कर छोड़ दिया गया, यवनों और कम्बोजों को पूर्ण मुण्डित करा के छोड़ा गया। पारदों के केवल केश छोड़कर मूँछ दाढ़ी मुण्डित करा दिये गये और पह्लवों की केवल दाढ़ी छोड़ी गई।[132] विष्णु पुराण के अनुसार ऐसे व्यक्ति का केश मुण्डन व्यर्थ है जो अपवित्र मार्ग का अनुसरण करता है।[133]

इन पौराणिकों उद्धरणों की पुष्टि अन्य साक्ष्यों द्वारा भी की जा सकती है । रघुवंश में जटा और श्मश्रुधारी वृद्ध मन्त्रियों की तुलना न्यग्रोध वृक्ष से की गई है ।[134] मृच्छकटिक में शुद्ध चित्त के न रहने पर मुण्डित रहना भी व्यर्थ बताया गया है ।[135]

वस्त्राभूषण से सम्बन्धित उद्धरण आलोचित पुराण में यत्र तत्र बिखरे हुए प्राप्त होते हैं जिनकी सहायता से इस सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन अवश्य होता है । तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वस्त्रालंकार के वैविध्य पर प्रकाश डालना पौराणिक रचनाकार का उद्देश्य नहीं है परन्तु प्रसंगानुकूल वर्णन के कारण तत्सम्बन्धी रूपरेखा तैयार की जा सकती है । विभिन्न स्थलों पर वैदिक परम्परा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है । अन्य साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रभावों के आलोक में इनकी प्राचीनता भी स्पष्ट हो जाती है ।

सन्दर्भ

1. मणिग्रीव, ऋग्वेद, 1/122/14;
   अभिभूत्तं कृशनैर्विश्वरूपं [illegible] जयतो बृहन्तम् , तत्रैव, 6/138/3.

2. अथर्ववेद, 5/2/28.

3. ऐतरेय ब्राह्मण, 8/22.

4. महाभाष्य, 3/1/87.

5. नानाभरणसंयोगाद्यथा नार्या विभूषणम् । वायु पुराण, 87/24.

6. स्वांच धात्रेयकीं तस्मै भूषयित्वा व्यसर्जयत् । तत्रैव, 99/69.

7. वैधव्यत्यक्तभूषणा । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/30/44.

8. न पादे कुण्डले दृष्टे न कण्ठे रशना तथा ।
   एवमेव ह्यलङकारो विपर्यस्तो विगर्हित: । वायु पुराण, 87/25.

9. सकुण्डलांगदापीडा मुकुटोष्णीषधारिण: । तत्रैव, 70/62.

10. मुकुटाटोपमस्तकम् । विष्णु पुराण, 5/9/18.

11. बर्हापीडम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/42/20.

12. उष्णीषिणं चन्द्रधरं ----- ।
    नानाकुसुममूर्धानं नानागन्धानुलेपम् । वायु पुराण, 30/132-133.

13. सद्व्रकृतशेखरा । मत्स्य पुराण, 158/39.

14. बिभ्रती पारिजातस्य केशपक्षेण मञ्जरीम् । विष्णु पुराण, 5/30/37.

15. [illegible]पिच्छकिरीटेन । वायु पुराण, 104/45.

16. बर्हिपत्रकृतापीडौ । विष्णु पुराण, 5/6/32.

17. वेदांगश्रुतिभूषण: । वायु पुराण, 6/17.

18. कर्णोत्तंसं चकारेशो वासुकिं तक्षकं स्वयम् । मत्स्य पुराण, 154/444.

19. कुण्डलभूषिता: । वायु पुराण, 45/45.

20. सकुण्डलांगदापीडा । तत्रैव, 70/62.

21. का त्वं चारुमुखी श्यामा सुश्लिष्टमणिकुण्डला । मत्स्य पुराण, 27/17.

22. विष्णु पुराण, 5/29/11.

23. एतच्छ्रुत्वा स भगवान्मणिरत्नं स्यमन्तकम् ।
स्वकण्ठादवमुच्याथ बबन्ध नृपतेस्तथा । वायु पुराण, 96/25.

24. कौस्तुभोद्भासितवक्षा: । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/42/20.

25. नमोऽस्तु ते देव । [illegible]तिने ----- । वायु पुराण, 55/49.

26. एकोनत्रिंशक: ----- श्वेतलोहित: ।
श्वेतोष्णीष: श्वेतमाल्य: ------ । तत्रैव, 22/9-10.

27. हारदोरसुवर्णैश्च चन्द्रकान्तविभूषितम् । मत्स्य पुराण, 187/21.

28. रत्नकेयूरहारौ । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/42/20.

29. कनकांगदकेयूरहार ------- । वायु पुराण, 45/45.

30. दिशा दश भ्राजन्ते वै [illegible]भूषिता: । तत्रैव, 24/153.

31. विष्णु पुराण, 5/13/51.

32. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, 28.

33. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/27/6 .

34. --- मुद्रामणिधराय च । वायु पुराण, 24/149.

35. --- किंकिणीकाय वै नमः । तत्रैव, 24/148.

36. राजानः श्रोणिबन्धास्तुतथाऽन्येक्षत्रियाभुवि । तत्रैव, 32/47.

37. भूष्यामास दिव्यैः स्वयं भूषणैः किंकिणी-[illegible]नूपुरैः । मत्स्य पुराण, 154/556.

38. समस्तसामन्तकिरीट -------।कादम्बरी, पूर्व भाग, श्लोक 3.

39. जवापीडधारिणा -------- । मालतीमाधव, अंक 7.

40. ।वहन्ति यं। कुण्डलशोभितानना --- निशाचराः । रामायण, 5/8/7.

41. मोतीचन्द, भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ 184.

42. गर्भं ते अश्विनौ देवा वा धत्तां पुष्करस्त्रजा । ऋग्वेद, 10/184/3.

43. पी0आर0 रामचन्द्रराव, आर्ट आफ़ नागार्जुनीकोण्ड, फलक 53, पृष्ठ 140.

44. वलयत्यनितेन तद्विवरे । शिशुपालवध, 7/45.

45. उत्तररामचरित, 1/18.

46. केयूरिभिर्बाहुभिः ------ । प्रियदर्शिका, 3/4.

47. मार्शल एण्ड फूशे, मानुमेन्ट्स आफ़ सांची, भाग 2, फलक 52.

48. मेमायर्स आफ़ दि आक्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, न0 73, फलक 6, चित्र 18.

49. राजदानी, अजन्ता, भाग 1, फलक 17.

50. ----- चित्रमाल्यानुलेपनान् । वायु पुराण, 69/253.

51. ----- नानामाल्यानुलेपनः । तत्रैव, 55/53.

52. ----- नानागन्धानुलेपनम् । तत्रैव, 30/133.

53. चन्दनानुलिप्तांगं ------- । मत्स्य पुराण, 117/6.

54. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/22/52.

55. भविष्यति कलौ प्राप्ते ह्युशीरं चानुलेपनम् । विष्णु पुराण, 6/1/54.

56. कालागुरुविलिप्तांगं ----- । मत्स्य पुराण, 148/28.

57. लाक्षारक्तनिभास्तथा । वायु पुराण, 100/165.

58. क्षीरं सुरां च मांसं च लाक्षां गन्धं रसं तिलान् । तत्रैव, 101/161.

59. तालक्तकैरप्सरसां मुद्रितं चरणैः क्वचित् । मत्स्य पुराण, 117/6.

60. लाक्षारसः केनचित् । अभिज्ञानशकुन्तलम् , 4/5.

61. महिषाःरनाराणां नयनाञ्जनसत्करम् । वायु पुराण, 54/19.

62. जात्यञ्जननिभाः परे । विष्णु पुराण, 6/3/34.

63. प्रापाङ्गणोगमिदपशाद्दमञ्जनाभैः । शिशुपालवध, 8/43.

64. वासो हि सर्वदैवत्यं सर्वदैवैरभिष्टुतम् ।
वस्त्राभावे क्रिया नास्ति यज्ञा वेदास्तपांसि च । वायु पुराण, 80/39-40.

65. वासोभिः [illegible] ----- । मत्स्य पुराण, 59/13.

66. स्यम्वाऽएतत्पुरुषस्य यद्वासः ----- । शतपथ ब्राह्मण, 13/4/1/15.

67. ऊर्णाकौशेयवस्त्राणि तथा प्रवरकम्बलौ । वायु पुराण, 80/34.

68. पर्णकौशेयपट्टोर्णे तथा प्रावारकम्बलौ । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/16/32.

69. ऋग्वेद, 4/22/2.

70. स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा -- ऊर्णावती -- । तत्रैव, 8/75/8.

71. संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् । अथर्ववेद, 14/2/67.

72. कृष्णाजिनोत्तरासंगन्द शेऽनन्तकं हरिम् । वायु पुराण, 25/32.

73. वसानं चर्म वैयाघ्रं ----- । तत्रैव, 30/125.

74. दिव्यं वर्षसहस्त्रन्तु अवहत् कृष्णवाससम् । तत्रैव, 21/46.

75. विष्णु पुराण, 6/6/13-20.

76. मत्स्य पुराण, 154/142.

77. अथ कृष्णाजिनमादत्ते ।
यज्ञस्य सर्वत्वाय -- । शतपथ ब्राह्मण, 1/1/1.

78. जटिलश्चीराजिनवासाः । गौतम धर्मसूत्र, 3/34.

79. तत्र वृक्षा --- वस्त्राणि च प्रसूयन्ते । वायु पुराण, 45/12.

80. चीरपत्राजिनानि ----- । तत्रैव, 8/183.

81. मुञ्जमेखली । मत्स्य पुराण, 154/542

82. वल्कलपर्णचीरप्रावरणा --- । विष्णु पुराण, 4/24/96.

83. ऊर्णकौशेयवस्त्राणि --- पट्टं --- कौशेयं क्षौमकार्पासम् ।
---------- दद्यात्कामानाप्नोतिपुष्कलान् । वायु पुराण, 80/34-37.

84. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश, पृष्ठ 331.

85. क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकार: । गौतम धर्मसूत्र, 7/9; मस्करि-भाष्य ।

86. मैत्रायणी संहिता, 3/6/7.

87. आश्वलायन श्रौतसूत्र, 2/3/4/17.

88. कृमिकोशविकारभूतं वासः कौशम् । हरिस्वामी
शतपथ ब्राह्मण, 5/2/1/8.

89. अमरकोश, 2/6/111.

90. कौशेयक्षौमकार्पासदुकूलमहतं तथा । वायु पुराण, 80/37.

91. आश्वलायन श्रौतसूत्र, 2/3/4/17.

92. प्रावृत्य मनसा शुक्लं पटं वा --- । वायु पुराण, 12/13.

93. स्नातः शुक्लाम्बरस्तद्वच्चमानो --- । मत्स्य पुराण, 59/13.

94. शुक्लाम्बरः शुचिः स्वाध्याये चैव युक्तः । मनुस्मृति, 4/35.

95. प्रादुर्भूतो महातेजाः कुमारः पीतवस्त्रवान् । वायु पुराण, 23/2-5.

96. स तं दृष्ट्वा महादेवं कुमारं रक्तवाससम् । तत्रैव, 22/23.

97. पुनश्च रक्तांबरधृङ्मायामोहो ------ । विष्णु पुराण, 3/18/15.

98. कृष्णाम्बरधरा --- स्वप्ने सोऽपि न जीवति । वायु पुराण, 19/13.

99. चिन्तयामास दुःखितः ।
कृष्णाम्बरः -------- । तत्रैव, 23/21-24.

100. महाभारत, सभापर्व, 1/52/1-2.

101. सुवर्णाञ्जनवर्णाभ्यां तौ तदा रुचिताम्बरौ । विष्णु पुराण, 5/9/5.

102. मत्स्य पुराण, 62/28.

103. होमदेवार्चनाद्यासु --- नैकवस्त्रः प्रवर्तेत । विष्णु पुराण, 3/12/20.

104. बिभ्राणं वाससी पीते । तत्रैव, 5/17/22.

105. वस्त्रयुग्मं च दद्यात् । मत्स्य पुराण, 66/14.

106. यत्ते वासः परिधानं या नीविं कृणुते स्वयम् । अथर्ववेद, 8/2/16.
अधीवासं परि मातु रिहन्नह । ऋग्वेद, 1/140/9.

107. कृष्णाजिनोत्तरासंगन्ददर्शोऽन्तकी हरिम् । वायु पुराण, 25/32.

108. अमरकोश, 2/6/117-118.

109. महाभारत, 3/46/15, 1/49/9.

110. शिशुपालवध, 10/42.

111. विष्णु पुराण, 3/12/24.

112. एकार्टापरिहित: । वसिष्ठ धर्मसूत्र, 1/9.

113. श्वेतोष्णीषः श्वेतमाल्यः --- । वायु पुराण, 22/10.
--- पीतोष्णीषो महाभुजः । तत्रैव, 23/3.

114. उष्णीषिणं चन्द्रधरं ------ । तत्रैव, 30/132.

115. अथोष्णीषं संहृत्य ------- । शतपथ ब्राह्मण, 5/3/23.
116. स्नातः सोष्णीषो धौतवाससी बिभृयात् । विष्णु पुराण, 64/14.
117. सोपानत्कश्च यो भुंक्ते । वायु पुराण, 83/43.

118. न स्त्रगुपानहौ । गौतम धर्मसूत्र, 9/5.

119. पुनश्चश्वेतसा: पुंसो मुक्तकेशास्तु चूलिका: । वायु पुराण, 58/58.

120. ------ [illegible] पिण्डका: । तत्रैव, 69/279.

121. ------ मुक्तकेशाय तेनान्ये रोहिताय च । तत्रैव, 97/165.

122. तत्रैव, 55/51-55.

123. तत्रैव, 30/189.

124. तत्रैव, 30/250.

125. तत्रैव, 23/186-188.

126. तत्रैव, 23/59.

127. तिष्ठन्ति वीथिमालाभिरत्यमानवहा जने । विष्णु पुराण, 2/8/112.

128. वायु पुराण, 22/10; 30/250; 97/162; 23/115.

129. द्रष्टव्य, डी0आर0 पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 87.

130. पञ्चचूडाप्सरःसहस्राणि दैविक्योऽप्सरसोदश । वायु पुराण, 69/49.

131. तिलतण्डुलको दीनो जरया शिथिलीकृतः । तत्रैव, 93/33.

132. अर्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वाव्यसर्जयत् ।
यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च ।
पारदामुक्तकेशाश्च पल्हवाः श्मश्रुधारिणः ।
तत्रैव, 88/140-141.

133. पुंसां जटाधारणमौण्ड्यतां वृथैव । विष्णु पुराण, 3/18/104.

134. रघुवंश, 13/7.

135. शिरोमुण्डितं --- चित्तं न मुण्डितम् किमर्थं मुण्डितम् । मृच्छकटिक, 8/3.

खाद्य एवं पेय पदार्थ

सदैव से ही अन्न की मान्यता मानव जीवन के लिए अपरिहार्य और शरीर निर्वाह के एकमात्र आश्रय के रूप में रही है । आलोचित पुराण में इसी भावना को अंगीकार करते हुए प्रथम अध्याय में ही अन्नादि के विषय पर चर्चा की गई है जो उसकी अतीव महत्ता की बोधक है ।[1] इसके साथ ही अन्य विभिन्न स्थलों पर भी अन्न को प्राण और अपान बताते हुए अन्नाभाव को जीवों के लिये मृत्यु कहा गया है । इसी प्रसंग में अन्न को ब्रह्म और प्रजाओं का सृष्टिमूल बताया गया है । अन्न से ही भूतसमूह उत्पन्न होते हैं और अन्न द्वारा ही उनका पालन होता है । सकल जीव अन्न से ही वृद्धि पाते हैं, इसलिये यह अन्न कहा जाता है ।[2] विष्णु पुराण में इसी विचार का समर्थन मिलता है जहाँ अन्न को बल का कारण भूत वर्णित किया गया है, जो शरीर में स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारों तत्वों में वृद्धि लाता है । यह; प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की पुष्टि कर अबाधित सुख प्रदान करता है । अन्न को विष्णु के समान माना गया है ।[3] अन्न की महिमा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी । शतपथ ब्राह्मण में अन्न को आत्मा कहा गया है ।[4]

आलोचित पुराण में विविध रूप अनाजों का भी उल्लेख मिलता है । व्रीहि (धान), जौ (जव), गोधूम (गेहूँ), तिल, प्रियंगु, उदार, कारूष, चीनक, माष, मूँग मसूर, निष्पाव, कुलत्थ, आढक्य, चणक (चना) तथा साण ये ग्रामीण अनाजों के अन्तर्गत वर्णित हैं । यज्ञोपयोगी ग्रामीण और वन्य अनाजों को पृथक करते हुए व्रीहि, यव, माष, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, कुलत्थक, श्यामक, नीवार, जर्तिल, गवेधु कुरुविन्द, वेणुयव और मर्कटक को उनमें समाहित किया गया है ।[5] इनके विषय में आख्यात है कि बिना जोते ये अनाज जंगलों और ग्रामों में उत्पन्न हुए ।[6] मत्स्य पुराण में केवल गोधूम, चणक और निष्पाव का उल्लेख किया गया है[7] परन्तु विष्णु पुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में भी एतत्सम अनाजों की विस्तृत तालिका निरूपित है ।[8] इन पौराणिक

उद्धरणों से उगाये जाने वाले विभिन्न अनाजों के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। इनमें यव का उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है जिसे सर्व प्राचीन अनाज कहा जा सकता है। एक छन्द में पूषा से सोम के बार-बार प्राप्ति की उपमा बैलों द्वारा खेतों में यव बोए जाने की क्रिया से दी गई है।[9] शतपथ ब्राह्मण में यव का वर्णन व्रीहि और श्यामक के साथ किया गया है।[10] वाजसनेय संहिता में व्रीहि, माष, तिल, मुद्ग (मूँग) प्रियंगु, अणु, श्यामक, नीवार और गोधूम के साथ यव की चर्चा की गई है।[11]

अनाज निर्मित खाद्य पदार्थों का विवरण

आलोचित पुराण में एक स्थल पर योगी के लिये यवागू और यावक का भोजन सिद्धिवर्धक बताया गया है।[12] सम्भवतः यावक सादा भोजन माना जाता था। अर्थशास्त्र में यावक जौ से बनाया जाने वाला पदार्थ कहा गया है।[13] जातकों में यवागू का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[14] पाणिनि के 'गोयवाग्वोश्च' सूत्र से ज्ञात होता है कि यह भी यव से बनता था।[15] महाभाष्य में उल्लिखित है कि यवागू आधुनिक लप्सी के समान कोई द्रव भोजन था।[16]

आलोचित पुराण में श्राद्ध सम्बन्धी भोज्य पदार्थों में सक्तु का भी वर्णन किया गया है। ऐसा निरूपित है कि सत्तु, धान के लावे (लाजा), पूआ (अपूप) और कुल्माष (कुल्थी) से पितरगण एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं।[17] प्रसंगान्तर में खिचड़ी और स्निग्ध पूआ का श्राद्ध के अवसर पर दान करने वाला अग्निष्टोम यज्ञ के फल का भागी कहा गया है।[18] मसूर और खिचड़ी के दान से भी पितरों को एक वर्ष तक सन्तुष्टि रहती है।[19] अन्न निर्मित विभिन्न पदार्थों के वर्णन के साथ इस स्थल पर पुनः अन्न को महिमान्वित करते हुए वर्णित है कि मर्त्यलोक में अन्नदान से बढ़कर कोई अन्य दान नहीं है। अन्नों द्वारा यह त्रैलोक्य जीवित है, यह समस्त विश्व प्रपंच अन्न का ही परिणाम है। अन्न में सकल लोकों की स्थिति और प्रतिष्ठा है, अन्न ही साक्षात् प्रजापति है, उसी से यह सारा त्रैलोक्य व्याप्त है।[20]

आलोचित पुराण में उपलब्ध अन्न से बने हुए पदार्थों की पुष्टि अन्य पुराणों से भी की जा सकती है । विष्णु पुराण में सत्तु को निःस्वाद भोजन बताया गया है ।[21] मत्स्य पुराण में आख्यात है कि जब भविष्य कालीन अनिष्ट की सूचना मिले, उस समय सत्तु से वायु की पूजा सम्पन्न करनी चाहिये ।[22] अपूप के सम्बन्ध में भी दोनों पुराणों में वर्णित है ।[23] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भी अपूप का उल्लेख है जिससे उसकी प्राचीन उपयोगिता का भी ज्ञान होता है ।[24] धान के लावे का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में किया गया है[25] जिसे सादे आहार की संज्ञा दी जा सकती है । कुल्माष का वर्णन विष्णु पुराण में मिलता है जिसमें इसे योगी भरत का भोजन बताया गया है ।[26] छान्दोग्य उपनिषद में उल्लिखित है कि किसी ग्राम में कृषि के नष्ट हो जाने पर वहाँ के निवासी कुल्माष खाकर जीवन व्यतीत कर रहे थे ।[27] सम्भवतः कुल्माष पवित्र और सरल खाद्य पदार्थ था ।

आलोचित पुराण में सावा और ईख का भी वर्णन प्राप्त होता है । इन दोनों से पितरों की समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं । सावा पितरों के लिये पूजित माना गया है और ईख शीतलता प्रदान करने वाली, रुचिकर, मधुर और कफ कारक कही गई है ।[28]

प्रस्तुत पुराण के श्राद्ध प्रकरण में काले तिल का भी उल्लेख है जिसे पितरों के लिये श्रेष्ठ कहा गया है ।[29] खाद्य पदार्थों में तिल का प्रचलन भी अवश्य था क्योंकि अन्यत्र भी इसका वर्णन किया गया है ।[30]

मिष्ठान्न

आलोचित पुराण में गुडौदन द्वारा भूत-बलि की क्रिया सम्पन्न करने का उल्लेख है ।[31] गुड़ में मिश्रित किया हुआ ओदन गुडौदन कहलाता था । इसके अतिरिक्त दूध मिश्रित शक्कर और चिउड़ा के दान कभी न नष्ट होने वाला कहा गया

है ।[32] परन्तु अन्य किसी मिष्ठान्न की चर्चा नहीं प्राप्त होती है । अन्य पौराणिक उद्धरणों द्वारा मिष्ठान्न की लोकप्रियता का ज्ञान होता है । सम्भवतः मिष्ठान्न गुड़ और शक्कर के प्रयोग द्वारा बनाते थे ।[33] विष्णु पुराण के अनुसार मिष्ठान्न प्रिय आहार था और इसे शिष्टाचार के अनुकूल सामूहिक रूप से खाने की परम्परा थी ।[34]

मत्स्य पुराण में मोदक और संयाव का उल्लेख है जिन्हें रसकल्याणिनी नामक व्रत में दानार्थ निर्धारित किया गया है ।[35] विष्णु पुराण में संयाव को सुस्वादु बताया गया है ।[36] मनुस्मृति में इसे देवताओं के लिये समुचित अन्न कहा गया है ।[37] टीकाकार कुल्लूक ने संयाव घी, दूध, गुड़ और गेहूँ के आटे से बनाया जाने वाला पदार्थ बताया है ।[38]

शाक और फल

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में तीनों अष्टकाओं में किये जाने वाले श्राद्ध का वर्णन है । प्रथम अष्टका चित्री, द्वितीय प्राजापत्य और तृतीय वैश्वदेवी कही गई है और तृतीय अष्टका पर शाकों द्वारा श्राद्ध करने का नियम निश्चित किया गया है ।[39] अन्यत्र अभक्ष्य शाक को श्राद्धकर्म में वर्जित बताया गया है ।[40] शाक के प्रयोग के संबंध में अन्य पौराणिक दृष्टान्तों से भी प्रकाश पड़ता है । विष्णु पुराण में गृहस्थ के लिये अन्न तथा शाक से अतिथि की पूजा करने का निर्देश दिया गया है ।[41] प्रतीत होता है कि शाक की मान्यता सादगीपूर्ण आहार में थी और इसे भोजन के साथ सम्मिश्रित कर खाना अधिक उचित माना जाता था । भर्तृहरि ने भी कहा है कि मनस्वी व्यक्ति संकटग्रस्त स्थिति में शाकाहार से ही सन्तोष करते हैं ।[42]

प्रस्तुत पुराण में विभिन्न स्थलों पर फलों का भी वर्णन किया गया है । सम्भवतः पौराणिक संरचना के काल में फलाहार की विशेष लोकप्रियता बनी हुई थी ।

एक प्रसंग में श्रद्धापूर्वक वन्य मूल और फलों के आहारों से श्राद्धकर्म सम्पन्न करने का आदेश दिया गया है ।[43] एक अन्य स्थल पर पुष्प, मूल और फलों द्वारा पितरगणों की तृप्ति बताई गई है ।[44] अन्यत्र बेल, जामुन, आम तथा सुपारी की फलों के अन्तर्गत चर्चा भी प्राप्त होती है ।[45]

दूध और दही

प्रस्तुत पुराण में दूध और दही के प्रचुर प्रयोग का वर्णन प्राप्त होता है । एक स्थल पर आख्यात है कि विधिवत् पूजा कर लेने के पश्चात् बुद्धिमान व्यक्ति अतिथि रूप में समागत ब्राह्मण के भोजन के लिये विविध व्यंजन और फल समर्पित करे। ऐसा सुना जाता है कि केवल दूध देने मात्र से अग्निष्टोम यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है ।[46] अन्यत्र दूध और दूध निर्मित पदार्थों के दान का उल्लेख है ।[47] योगी के भोज्य पदार्थों में भी दूध को स्थान दिया गया है ।[48] दैनिक जीवन के खाद्य पदार्थों में दूध को विशेष महत्व देने की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही थी । शतपथ ब्राह्मण में दूध को भोजन के अनुकूल मानते हुए कहा गया है कि इस रूप में सर्वप्रथम प्रजापति ने इसका सृजन किया ।[49] मनुस्मृति में भी श्राद्ध के अवसर पर दूध की उपयोगिता का उल्लेख किया गया है ।[50]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में दही को श्राद्धकर्म में वर्जित बताया गया है ।[51] परन्तु अन्यत्र दही के साथ सत्तू का भोजन श्राद्ध के अवसर पर देना आदेशित किया गया है ।[52] श्राद्धकर्म के समय दही की पवित्रता का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में भी विवेचित है ।[53] विष्णु पुराण में निरूपित है कि जातकर्म पर पितरों को दही से मिश्रित पिण्ड का दान करना चाहिये ।[54] शतपथ ब्राह्मण में दही को इन्द्र का प्रिय कहा गया है जिससे दही की धार्मिकता व्यक्त होती है ।[55] मनुस्मृति में श्राद्ध के अवसर पर दही की उपयोगिता को प्रकाशित किया गया है ।[56]

घृत

आलोचित पुराण में श्राद्ध क्रिया में घृत को आवश्यक माना गया है । एक प्रसंग में आख्यात है कि मधु, घृत तथा दूध में बने व्यंजनों से पितरगण एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं ।[57] अन्यत्र श्राद्ध के अवसर पर घृत से पूर्ण अनेक पात्रों का सत्कारपूर्वक दान देने का आग्रह किया गया है ।[58] घी के प्रयोग के प्रमाण अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं । विष्णु पुराण में वर्णित है कि उर्वशी ने केवल घी खाने की प्रतिज्ञा की थी।[59] मत्स्य पुराण में शिव के प्रतिमा के समक्ष घी रखने का नियम प्रतिपादित किया गया था ।[60] शतपथ ब्राह्मण में घी की दैवी आवश्यकता का वर्णन मिलता है ।[61]

भोजन के सम्बन्ध में अन्य ध्येय तथ्य

आलोचित पुराण के विभिन्न स्थलों पर ऐसे तथ्यों का वर्णन किया गया है जिनसे भोजन पकाने और करने के नियमों का ज्ञान होता है । भोजन में शुद्धता और स्वच्छता का अधिक ध्यान रखा जाता था । एक स्थल पर आख्यात है कि भोज्य द्रव्यों को सर्वप्रथम जल से सिंचित करना चाहिये, पुनः उनके ऊपर लगे मैल आदि को छुड़ा देना चाहिये ।[62] अन्यत्र उल्लिखित है कि जब तक अन्न उष्ण रहता है, तभी तक वह पवित्र है अर्थात् ठंडा हो जाने पर अपवित्र हो जाता है ।[63]

विष्णु पुराण के उद्धरणों से भी भोजन सम्बन्धी अनेक विधानों का ज्ञान होता है । भोजन का शुद्ध पात्र होना तथा भोज्य पदार्थों पर मन्त्रपूत जल का सेचन अपेक्षित माना जाता था । भोजन का अग्रभाग अग्नि में आहूत किया जाता था । बासी भोजन का ग्रहण किया जाना वर्जित था और भोजन करते समय अन्न की निन्दा करने का निषेध था ।[64]

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि सुस्वादु एवं मधुर द्रव्य पितरों को प्रिय हैं ।[65] प्रसंगान्तर में सावा, हस्तिनाम, पटोल, बृहतीफल आदि को कषाय स्वादु वाला बताया गया है ।[66] कुछ अन्यत्र चिकने खाद्य पदार्थों एवं सुगन्धित खाद्य

पदार्थों से सन्तुष्ट करके ।ब्राह्मणों को। विविध रसों द्वारा तृप्त करने का उल्लेख है।[67] प्रतीत होता है कि भोजन में विभिन्न रसों का विशेष ध्यान रखा जाता था । विष्णु पुराण में भी मधुर, लवण, आम्ल, कटु, तिक्त आदि रसों से युक्त भोजन को श्रेष्ठ कहा गया है ।[68] मत्स्य पुराण में लवण को रसराज की संज्ञा दी गई है ।[69]

भोजन से सम्बन्धित नियमों के मूल में आहार की शुद्धता और आरोग्यवर्द्धन को प्रधानता दी गई थी । प्राचीन काल से ही भोजन के प्रति इन्हीं विचारों की निरन्तरता बनी हुई है । छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है कि आहार के शुद्ध रहने से सत्त्व की शुद्धि होती है, जिससे स्मरण शक्ति का विकास होता है ।[70] मनुस्मृति में आहार का दोष मृत्यु का कारण माना गया है ।[71]

मांसाहार के समर्थक स्थल

आलोचित पुराण के एक स्थल पर निरूपित है कि दूसरी प्राजापत्य नामक अष्टका में श्राद्धकर्म मांस के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये ।[72] अन्यत्र बलि के अन्तर्गत मांस देने का विधान भी बताया गया है ।[73] शिव के मानस पुत्रों को मांसाहारी कहा गया है ।[74] एक प्रसंग में ब्राह्मणों को दान, दान का अंगीकार, हवन, भोजन और बलि, इन सबको अंगूठे के साथ सम्पन्न करने का आदेश दिया गया है ।[75] इसके अतिरिक्त पितरों के तर्पण के लिये मछली, हरिण, खरगोश, पक्षी, शूकर, बकरा, पृषत् नामक मृग, रुरु मृग, कछुआ, गैंडा आदि पशुओं के मांस की चर्चा की गई है ।[76]

प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त तत्कालीन खाद्य पदार्थों में मांस भक्षण की पुष्टि अन्य पौराणिक साक्ष्यों से भी की जा सकती है । विष्णु पुराण में राजा सौदास के विषय में उल्लिखित है कि यज्ञ की समाप्ति पर उन्होंने कुल पुरोहित वसिष्ठ के लिये मांसाहार तैयार करवाया था ।[77] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार देवता, पितर एवं अतिथि के रूप में आये हुए गुरु के लिये तथा इस प्रकार के श्रेष्ठ व्यक्तियों के आने पर भेध्य पशुओं का हनन सर्वथा उचित है ।[78]

स्मृतियों में भी पौराणिक दृष्टिकोण का समर्थन प्राप्त होता है । विष्णु स्मृति में मांसाहार देवाराधना, यज्ञ एवं श्राद्ध आदि विशिष्ट अवसरों पर आदिष्ट किया गया है ।[79] मनुस्मृति में आख्यात है कि पशुहिंसा केवल धार्मिक अवसरों पर ही की जा सकती है ।[80]

आलोचित पुराण के कतिपय प्रसंगों में जीवों के वध की भर्त्सना भी की गई है । देवराज इन्द्र के द्वारा सम्पूर्ण सामग्रियों एवं उपकरणों समेत यज्ञ की प्रथा प्रचलित करने के प्रसंग में ऋषियों द्वारा इन्द्र को परामर्श दिया गया कि दीन पशुओं की हिंसा से संचित धर्म का भी विनाश होता है, पशुहिंसा कदापि धर्म नहीं है, हिंसा को कभी भी धर्म नहीं कहा जाता है । वेदानुमत विधि से किया गया यज्ञ अक्षयफलदायी होगा ।[81] अन्यत्र मांसाहारी व्यक्ति को नरकगामी बताया गया है ।[82] मत्स्य पुराण में कालसप्तमी तथा अहिंसा के लिये विहित व्रतों के सम्बन्ध में मांसविहीन आहार करने का आदेश दिया गया है ।[83] सम्भवतः पशुओं का हनन और मांस भक्षण विशेष अवसरों पर ही करने की परम्परा थी । मनु के द्वारा भी अकारण पशु हत्या करने वाले मनुष्य की आलोचना की गई है ।[84]

आलोचित पुराण के एक स्थल पर निरूपित है कि वायुपुर में गोहत्या करने वाला, कृतघ्न, मद्यप आदि ऐसे कठोर पाप करने वाले भी वाडादित्य को नमस्कार कर सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं ।[85] गोवध तथा गोमांस का भक्षण निन्दनीय अपराध माना जाता था जिसका निषेध वैदिक काल से ही किया जाता रहा । ऋग्वेद में सोलह स्थलों पर गाय की अवध्यता उद्घोषित है ।[86] पौराणिक संरचना के युग में भी मांसाहार का प्रचलन होते हुए भी गोवध अथवा गोमांस के प्रति प्राचीन परम्परा का सातत्य बना रहा । कालान्तर में यही प्रवृत्ति पूर्णतः विकसित रूप में प्रतिष्ठित रही । गुप्त अभिलेखों में गोहत्या और ब्रह्महत्या को समान माना गया है ।[87]

मदिरापान

आलोचित पुराण में सुरापान की गणना गोहत्या के समान कठोर पाप के अन्तर्गत की गई है ।[88] अन्यत्र मदिरा बनाने वाले व्यक्ति को भी नरकगामी बताया गया है ।[89] सुरापान के निषेधात्मक स्थल अन्य पौराणिक उद्धरणों में भी प्राप्त होते हैं । विष्णु पुराण के अनुसार सुरापान करने वाले और ऐसे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति नरक के भागी होते हैं ।[90] मदिरापान के प्रति पौराणिकों की यह भावना वैदिक प्रवृत्ति के निर्वाह की सूचक है । ऋग्वेद के एक स्थल पर इसे पाप का कारण कहा गया है ।[91] शतपथ ब्राह्मण में इसकी उपमा असत्य, दुःख और अन्धकार से दी गई है ।[92] स्मृतियों में भी इन्हीं विचारों का पोषण हुआ है ।[93]

प्रतीत होता है कि पौराणिक युग में मदिरा की धार्मिक महत्ता विद्यमान थी । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में पितरों को श्राद्धकर्म में सभी प्रकार के अभिमत (मद्य, सोम आदि) देने का निर्देश है ।[94] शिव के मानस पुत्रों को सोम पान करने वाला बताया गया है ।[95] अधिकांशतः सोम को प्रस्तुत पुराण में देवताओं के पेय पदार्थों में स्थान दिया गया है । विधर्मी राजा वेन के राज्य काल में देवतागण यज्ञों में हवनीय द्रव्यों के भक्षण तथा सोम रस का पान करने के लिये व्याकुल रहने लगे ।[96] ब्रह्मा के द्वारा सृष्ट पदार्थों में वेदों के साथ सोम की भी परिगणना की गई है ।[97] देवराज इन्द्र के निषेध करने पर भी त्वष्टा (विश्वकर्मा) ने सोमरस पान किया और पीते समय वह पृथ्वी पर गिर पड़ा ।[98]

सोम और मदिरा की धार्मिक अवसरों पर उपादेयता के प्रमाण वैदिक काल से प्राप्त होने लगते हैं । शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि वाजपेय यज्ञ में सुरा-पात्र उपहार के लिये प्रयुक्त होता था ।[99]

अमृत

आलोचित पुराण में इस दिव्य पेय की चर्चा अनेक प्रसंगों में की गई है । अमृत

तुल्य मीठे फलों का उल्लेख सामान्य रूप से किया गया है ।[100] अमृत का चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए आख्यात है कि सोम ।चन्द्रमा। को देवताओं में अमृत की खान कहा जाता है ।[101] सोमक नामक पर्वत पर प्राचीन काल में देवों ने अमृत रखा था और गरुड़ ने उसे अपनी माता के लिये हर लिया था ।[102] भगवान विष्णु को अमृत के समुद्र क्षीर सागर में शयन करने वाला बताया गया है ।[103]

मधु

त्रेता युग के लोगों का आहार मधु को बताया गया है[104] और कलियुग के अन्तिम चरण में लोग मधु, फलों और वृक्ष की जड़ों पर आश्रित रहेंगे ।[105] अन्यत्र ब्राह्मण अतिथि को मधु देने से अतिरात्र यज्ञ के फल की प्राप्ति बताई गई है ।[106] परन्तु यति अथवा भिक्षु के लिये उसका स्वाद लेना वर्जित बताया गया है ।[107] श्राद्ध क्रिया में मधु दान का विशेष महत्व निर्धारित किया गया है ।[108]

फलों का रस

आलोचित पुराण के एक स्थल पर निरूपित है कि हरिवर्ष के निवासी ईख का मधुर रस पिया करते हैं ।[109] पुराणान्तर में वर्णित है कि इलावृत के निवासी जामुन के रस और फल को खाकर प्रसन्न रहते हैं ।[110]

एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि जम्बू द्वीप में भी गन्धर्व, देव, दानव आदि सभी अमृततुल्य मीठे जम्बूरस का आस्वादन करते हैं ।[111] हिरण्वत देश के निवासी छः रसों से युक्त 'लकुच' के वृक्ष के फलों का रस पीकर जीवन धारण करते हैं ।[112] पर्वतस्थली के बेल के समान बड़े बड़े सुन्दर, सुगन्धित और सुस्वादु पनस फल टहनियों से गिरकर वहाँ की भूमि को पंकिल बनाये रहते हैं और चारण जन पनस के रस को पीकर उन्मत्त बने रहते हैं ।[113] इसी प्रकार रम्यकवर्ष के निवासी रोहिण नामक महान और दिव्य वटवृक्ष के फलों का रस पीकर जीवित रहते हैं ।[114]

आलोचित पुराण के अन्न पान से सम्बन्धित स्थलों की समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है कि विविध खाद्य पदार्थों की प्राप्ति वनस्पति जगत से ही होती थी अतः उसे मानव जीवन का प्रमुख स्त्रोत माना गया । इसके अतिरिक्त पेय पदार्थों में सुरा, सोम, आसव आदि शास्त्रीय दृष्टिकोण से विधिसम्मत न होते हुए भी प्रचलित थे । मदिरापान की पुष्टि अन्य पौराणिक उद्धरणों द्वारा की जा सकती है । ब्रह्माण्ड पुराण में मदिरा के अनेक प्रकार निरूपित किये गये हैं ।[115] मत्स्य पुराण में अत्रि के मनोहर आश्रम के विषय में कहा गया है कि वहाँ कोई रमणी अपने पति को मद्यपान करा रही थी ।[116] सोम और सुरा के प्रयोग के प्रमाण अति प्राचीन काल से मिलते हैं । वाजसनेय संहिता में इन दोनों को पृथक रखने का आदेश दिया गया है ।[117] बुद्ध के काल में भी सुरापान का प्रचलन था । वारुणि जातक के अनुसार नगर में जहाँ मधुशाला रहती थी वहाँ भीड़ रहा करती थी ।[118]

सन्दर्भ

1. अन्नादीनां तनूनां च सृजनं त्यजनं तथा । वायु पुराण, 1/60

2. अन्नं प्राणस्तथाऽपानं मृत्युर्जीवितमेव च ।
अन्नं ब्रह्म च विज्ञेयं प्रजानां प्रलयस्तथा । तत्रैव, 15/14-16.

3. विष्णुरुक्ता तथैवान्नम् ----- । विष्णु पुराण, 3/11/91-92-95.

4. तस्मादन्नमात्मना परिहितमात्मैव भवति । शतपथ ब्राह्मण, 12/4/1/2.

5. वायु पुराण, 8/143-149.

6. अकालकृष्टाओषध्योग्राम्यारण्यास्तु सर्वशः । तत्रैव, 8/156.

7. मत्स्य पुराण, 74/6-60/27.

8. विष्णु पुराण, 1/6/21-26; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/142-146.

9. उतो स मह्यमिन्दुभिः --- गोभिर्यवं न चर्कृषत् । ऋग्वेद, 1/23/15.

10. व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा । शतपथ ब्राह्मण, 10/4/6/2.

11. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे --- । वाजसनेय संहिता, 18/12.

12. भैक्षं यवागूं तक्रं वा पयो यावकमेव च । वायु पुराण, 16/13.

13. अर्थशास्त्र, 2/15.

14. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 121.

15. अष्टाध्यायी, 4/2/136.

16. महाभाष्य, 7/3/69.

17. सक्तुलाजास्तथापूपा: कुल्माषव्यंजनैस्तथा । वायु पुराण, 80/48.

18. कृसरान्मधुपर्कं ---------- ।
स्निग्धांश्च पूपान्यो दद्यादग्निष्टोमस्य यत्फलम् । तत्रैव, 80/43.

19. --------- क्षीरमधुरेण च । तत्रैव, 80/47.

20. अन्नदानात्परं दानं विद्यते नेह किञ्चन ।
अन्नाद्भूतानि जायन्ते जीवन्ति च न संशय: । तत्रैव, 80/55-57.

21. विष्णु पुराण, 2/15/12

22. वायोस्तु पूजां द्विजसक्तुभिश्च कृत्वा । मत्स्य पुराण, 236/5.

23. विष्णु पुराण, 2/15/12; मत्स्य पुराण, 63/19.

24. अपूपमद्धि सगणो मरुद्भि: । ऋग्वेद, 3/52/7.

25. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/16/4.

26. भुंक्ते कुल्माष ----- । विष्णु पुराण, 2/13/45.

27. छान्दोग्य उपनिषद्, 1/10/2.

28. श्यामाकैरिक्षुभिश्चैव पितृणां सार्वकामिकम् । वायु पुराण, 78/7-8.

29. कृष्णैश्चैव तिलैश्चैव ----- । तत्रैव, 75/31.

30. तत्रैव, 74/5.

31. व्रीहिभिरिद ... तैलभक्ष्यगुडौदनै: । तत्रैव, 69/281.

32. शर्कराक्षीरसंयुक्तं पूपकं नित्यमक्षयम् । तत्रैव, 80/47.

33. गुडश्कर्पत्तला । मत्स्य पुराण, 20/31.

34. वेणीपूयवहे चैको याति मिष्टान्नभुङ्नरः । विष्णु पुराण, 2/6/18.

35. लड्डुकांश्वेतवर्णांश्च संयावमथ पूरिकाः । मत्स्य पुराण, 63/19.

36. विष्णु पुराण, 2/15/13.

37. वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च । मनुस्मृति, 5/7.

38. संयावो घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धः । कुल्लूक

39. शर्करस्या तृतीया स्यादेवं द्रव्यगतो विधिः । वायु पुराण, 81/4.

40. -- शाकंतथाऽभक्ष्या शुक्तं चौषं विवर्जितम् । तत्रैव, 78/47.

41. अन्नशाकाम्बुदानेन । विष्णु पुराण, 3/11/108.

42. क्वचिच्छाकाहारः । नीतिशतक, 83.

43. [illegible]हारैः श्राद्धं कुर्यात्तु श्रद्धया । वायु पुराण, 78/19.

44. पुष्पमूलफलैर्वाऽपि तुष्टिं ग[illegible]न्नतः । तत्रैव, 79/86.

45. बिल्वजम्बाम्रमूलेभ्यः फलेभ्यश्चैव ----- । तत्रैव, 69/307.

46. अग्निष्टोमं तु पयसा प्राप्नुयादैतथाश्रुतम् । तत्रैव, 79/10.

47. ----- पयः पायसमेव च । तत्रैव, 80/43.

48. पयो यावकमेव च । तत्रैव, 16/13.

49. तद्वैपय स्वान्नम् ।
एतद्यगे पूज [illegible] त ----- । शतपथ ब्राह्मण, 2/5/1/6.

50. पयोदधिघृतं मधु ----- । मनुस्मृति, 3/226.

51. दधि ----- विवर्जितम् । वायु पुराण, 78/47.

52. दध्ना सक्तूंच भोजयेत् । तत्रैव, 80/48.

53. दध्ना संस्कृत्य भोजयेत् । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/18/47.

54. दध्ना मिश्रान्पिण्डान् ----- । विष्णु पुराण, 3/10/6.

55. ऐन्द्रं वै दधि । शतपथ ब्राह्मण, 7/4/1-42.

56. पयोदधिघृतं ----- । मनुस्मृति, 3/226.

57. ----- पायसं मधुसर्पिषा । वायु पुराण, 83/8.

58. [illegible] पिष्पूर्णा निपत्राणि श्राद्धे स[illegible] त्पदापयत् । तत्रैव, 80/29.

59. घृतमात्रं च समाहर । विष्णु पुराण, 4/6/46.

60. मत्स्य पुराण, 60/27.

61. घृतं वै देवानां ----- । शतपथ ब्राह्मण, 3/1/3/8.

62. द्रव्याणां प्रोक्षणं कार्यं तथैवाऽऽवपनं पुनः ।
निधाय चाद्भिः सिञ्चेत तथैवाप्सु निवेशनम् । वायु पुराण, 78/50-51.

63. तत्रैव, 79/87.

64. विष्णु पुराण, 3/11/75-91.

65. एवमादीनि चान्यानि स्वादूनि मधुराणि च । वायु पुराण, 78/10.

66. श्यामाका हस्तिनामा च पटोलं बृहतीफलम् ।
अगस्त्यस्य शिखा तीव्रा कषायाः सर्व एव च । तत्रैव, 78/9.

67. स्निग्धैर्भक्ष्यैः सुगन्धैश्च तर्पयेत रसैस्तथा । तत्रैव, 76/39.

68. षड्रसं भुंक्ते विप्र प्रजाः सर्वाः सदैव हि । विष्णु पुराण, 2/4/93.

69. रसराजं च लवणम् । मत्स्य पुराण, 60/28.

70. छान्दोग्य उपनिषद्, 7/26/2.

71. अन्नदोषाच्च मृत्युः । मनुस्मृति, 5/4.

72. आद्या पूपैः सदा कार्या मतिरन्या भवेत्तदा । वायु पुराण, 81/3.

73. मधुमांसौदनैर्दध्ना ------- । तत्रैव, 69/287.

74. पिपिलादांश्च ------- । तत्रैव, 10/47.

75. दानं प्रतिग्रहो होमो भोजनं बलिरेव च । तत्रैव, 79/88.

76. तत्रैव, 83/4-8.

77. विष्णु पुराण, 4/4/46.

78. देवतार्थे च पित्रर्थे तथैवाभ्यागते गुरौ ।
मधुपर्कं चैव [illegible] ब्रह्माण्ड पुराण, 4/6/57.

79. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । विष्णु स्मृति, 51/64.

80. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः । मनुस्मृति, 5/41.

81. नेष्टः पशुवधस्त्वेष तव यज्ञे सुरोत्तम ।
अधर्मोधर्मघाताययारब्धः पशुभिस्त्वया ।
नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते । वायु पुराण, 57/98-99.

82. सुरापो मांसभक्षश्च तथा पशुघातकः । तत्रैव, 101/165.

83. यथाशक्त्याथ भुञ्जीय मांसतैलविवर्जितम् । मत्स्य पुराण, 78/6.

84. यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि । मनुस्मृति, 5/38.

85. गोघ्नोवाऽपिकृतघ्नो वा ------ ।
वाडादित्यं नमस्कृत्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । वायु पुराण, 60/75.

86. वैदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 146.

87. सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 312.

88. -------- सुरापीगुरुतल्पगः ।
-------- सर्वपापैः प्रमुच्यते । वायु पुराण, 60/75.

89. श्वमादीनिविक्रीणत्घोरे पूयवहे पतेत् । तत्रैव, 101/165.

90. सुरापो ब्रह्महा ---- प्रयान्ति नरके यश्च तैः संसर्गमुपैति वै ।
विष्णु पुराण 2/6/9.

91. न स स्वो दक्षो वरुणध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
ऋग्वेद, 7/86/6.

92. अनृतं पाप्मा तमः सुरा । शतपथ ब्राह्मण, 5/1/5/28.

93. ब्रह्महा च सुरापश्च ----- महापातकिनो नराः । मनुस्मृति, 9/235.

94. ----- दद्यात्सर्वानभिप्रेतानपि । वायु पुराण, 78/48.

95. सोमपांस्तथा -------- । तत्रैव, 10/47.

96. आसन्न च पपुः सोमं हुतं यज्ञेषु देवताः ।
न यष्टव्यं न होतव्यमिति तस्य प्रजापतेः । तत्रैव, 62/113-114.

97. तत्रैव, 3/16.

98. पिब-शचीपतेः सोमं पृथिव्याममतत्पुरा । तत्रैव, 78/6.

99. सप्तदश सुराग्रहान्प्रजापतेः । शतपथ ब्राह्मण, 5/1/2-10.

100. अमृतस्वादु कल्पानि फलानि विविधानि च । वायु पुराण, 45/28.

101. तत्रैव, 42/2.

102. -------- दैवैर्यत्रामृतं पुरा ।
संभृतं च हृतं चैव मातुरर्थे गरुत्मता । तत्रैव, 49/10.

103. -------- समुद्रस्यक्षीरोदस्याऽमृतोदधेः । तत्रैव, 97/22.

104. तत्रैव, 8/92.

105. मधुमातैर्मूलफलैर्वर्तयन्ति सुद्रः स्थिताः । तत्रैव, 58/98.

106. मधुना त्वतिरात्रस्य फलं च समवाप्नुयात् । तत्रैव, 79/11-12.

107. एकान्नं मधु मांसं वा स्यामन्नाद्यं तथैव च । तत्रैव, 18/20.

108. ------- मधुमूलफलानि च । तत्रैव, 80/46.

109. हरिवर्षे नरा: सर्वे पिबन्तीक्षुरसं शुभम् । तत्रैव, 46/9.

110. जम्बूरसफलाहारा ----- । तत्रैव, 46/18.

111. तत्पिबन्त्यमृतप्रख्यं मधु जाम्बूरसस्त्रवम् । तत्रैव, 35/31.

112. ----- लकुच: लकुचाश्रय: । तत्रैव, 45/8-9.

113. परुष्करसोन्मत्तामानाद्यास्तत्र चारणा: । तत्रैव, 38/65.

114. तत्रापि सुमहान्दिव्यो न्यग्रोधो रोहिणो महान् ।
तस्य पीत्वा फल रसं पिबन्तो वर्तयन्त्युत । तत्रैव, 45/4.

115. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/28/71.

116. मत्स्य पुराण, 121/27.

117. सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष ----- । वाजसनेय संहिता, 19/7.

118. वारुणि जातक, 47.

संगीत, नृत्य एवं अन्य मनोरंजक क्रीड़ायें

मनोरंजन और आमोद-प्रमोद का मानव समाज में सदैव से ही महत्व रहा है । ऋग्वेद में भी नृत्य, गान और वाद्य के द्वारा नर-नारी के रंजन करने का उल्लेख है ।[1] इसके अतिरिक्त अक्ष क्रीड़ा के प्रचलन की भी चर्चा है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति दास तक बन जाते थे ।[2] गायन में अभिरुचि का सर्वाधिक प्रबल प्रमाण 'साम-वेद' है जिसे लयबद्ध स्वर में गाया जाता था । मृगया, घुड़दौड़, रथदौड़ आदि अन्य उपायों द्वारा भी मनोविनोद किया जाता था । मृगया में रुचि रखने वाला व्यक्ति 'मृगयु' कहलाता था ।[3] आलोचित पुराण के एतद्विषयक विवरणों में प्राचीन परम्परा का सातत्य ही दृष्टिगोचर होता है । मनोरंजन के साधनभूत उपकरणों का वर्णन प्रासंगिक तथा सोद्देश्य दोनों ही रूपों में प्राप्त होता है ।

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में गान्धर्व विद्या ।संगीत शास्त्र। की गणना उन अट्ठारह विद्याओं की तालिका में की गई है जिनमें वेद व उसके 6 अंग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्व, अर्थशास्त्र आदि सभी निहित हैं ।[4] अन्यत्र कल्प निरूपण में कल्पों के नाम स्वरों के नाम पर आधारित किये गये हैं । गान्धार कल्प में गान्धार स्वर की उत्पत्ति और इसी प्रकार ऋषभ, षड्ज, मध्यम, धैवत, वैराजक ।निषाद स्वर।, निषाद, पञ्चम आदि कल्पों में तत्सम्बन्धित स्वरों की उत्पत्ति का निरूपण है ।[5] परमधार्मिक राजा रैवत के द्वारा अपनी कन्या रेवती के साथ ब्रह्मा के समीप संगीत सुनने के लिये जाने के प्रसंग में संगीत शास्त्र की विस्तार से चर्चा की गई है । इसके अन्तर्गत सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनायें और उनचास तान बताये गये हैं जिन्हें स्वर मण्डल कहा जाता है ।[6] इसके अतिरिक्त एक सम्पूर्ण अध्याय गीतों के अलंकारों पर ही लिखा गया है जिसमें आख्यात है कि जो गायक अलंकारों को यथा स्थान सन्निहित कर के राग का प्रदर्शन करते हैं, वे संगीत के समुचित कर्तव्य का पालन करते हैं ।[7]

आलोचित पुराण में संगीत का सम्बन्ध शिव के साथ भी स्थापित किया गया है। दक्ष यज्ञ की कथा में स्वयं शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि यद्यपि यज्ञ में उनके लिये भाग रखने की व्यवस्था नहीं है तथापि प्रस्तोता यज्ञ में उनका ही स्तवन रथन्तर साम के द्वारा करते हैं।[8] प्रसंगान्तर में दक्ष के द्वारा देव देवेश शिव के लिये नर्तनशील, गीतवाद्यरत आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।[9] इसके अतिरिक्त विष्णु के द्वारा भी शिव वन्दन करते हुए उन्हें नृत्य वाद्य के प्रेमी, नृत्यशील, गतिशील, गायक आदि सम्बोधनों से युक्त किया गया है।[10] सम्भवतः नृत्य और संगीत के लिये ही शिव के द्वारा किंकिणी धारण की गई जो उनके लिये प्रयुक्त 'किंकिणीधारी' विशेषण से अनुमानित होता है।[11] अन्यत्र देवकूट पर्वत पर विशाल भूतवट नामक वृक्ष का उल्लेख है जहाँ त्रिनयन महादेव का तीनों लोकों में विख्यात भास्वर स्थान बताया गया है। वहाँ भूतगण विभिन्न वाद्यों के द्वारा संगीत और नृत्य करते हुए महादेव की उपासना करते हैं।[12]

आलोचित पुराण में यज्ञ के अवसर पर संगीत के आयोजन का भी वर्णन मिलता है। वरुण के विशाल यज्ञ में समस्त गेय पदों सहित विश्वावसु आदि गन्धर्वों के साथ घृत से संवलित सामवेद अपने सभी उपकरणों से संयुक्त होकर शोभित हो रहा था।[13] कश्यप की सन्ततियों की सृष्टि के प्रसंग में प्रवाही के द्वारा यज्ञ क्षेत्र में दस पुत्रों को उत्पन्न किया गया जो सुप्रसिद्ध गायक सिद्ध हुए।[14] देवराज इन्द्र के द्वारा अश्वमेध यज्ञ के आयोजन पर उच्च सुमधुर स्वर में वेद की ऋचाओं के गायन होने की भी चर्चा मिलती है।[15]

गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर, इनका सम्बन्ध भी प्रस्तुत पुराण में संगीत के साथ निरूपित है। देवगन्धर्वों को नृत्य एवं गीत में सुनिपुण कहा गया है।[16] किन्नरगणों को भी नृत्य और गीत में प्रवीण बताया गया है।[17] अन्यत्र वर्णित है कि श्राद्ध के अवसर पर दान करने वाले व्यक्ति का गन्धर्व और अप्सराओं के वृन्द मनोहर गायन एवं वादन के द्वारा मनोरंजन करते हैं।[18]

आलोचित पुराण में नृत्य और संगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्य यन्त्रों का भी उल्लेख मिलता है। भेरी, दुन्दुभि, गोमुख, झांझ, शंख, नगाड़ा आदि वाद्यों का वर्णन भूतगणों द्वारा भूतपति महादेव की उपासना के लिये प्रयुक्त उपकरणों के सन्दर्भ में किया गया है।[19] महान् तेजस्वी स्कन्द के जन्म पर सरस्वती के द्वारा महान् शब्द करने वाली विशाल वीणा अर्पित करने का उल्लेख भी है।[20] कुरुदेश के वर्णन में मृदंग, वेणु, पणव, वीणा आदि वाद्यों के बजते रहने की भी चर्चा की गई है।[21] अन्यत्र वासुदेव के जन्मोत्सव पर आनक, दुन्दुभि आदि बजाये जाने का वर्णन है।[22]

नृत्य

आलोचित पुराण में उपलब्ध संगीत सम्बन्धी स्थलों पर नृत्य का उल्लेख भी है। भगवान् महादेव को नर्तनशील आदि विशेषणों से सम्बोधित करके मुनि और भूतों के द्वारा नृत्य से उन्हें प्रसन्न करने का भी वर्णन है।[23] दक्ष यज्ञ के विनाशार्थ शिव द्वारा सृष्ट वीरभद्र के स्वरूप चित्रण में आख्यात है कि कभी वह विचित्र भाव भंगिमा से नाचने लगता था, कभी मधुर स्वर में गाने लगता था।[24]

आलोचित पुराण में गायन और वादन के अतिरिक्त नृत्य से भी गन्धर्वों, अप्सराओं एवं किन्नरों को सम्बद्ध किया गया है। राजा पुरुरवा के पुत्र के राज्य-काल में श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा नैमिषारण्य में यज्ञ आरम्भ किया गया जिसमें गन्धर्व साम गान करते थे, अप्सरायें नृत्य करती थीं।[25]

संगीत और नृत्य की महत्ता के प्[illegible] स्थलों के समर्थन में अन्य पौराणिक उद्धरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। ब्रह्माण्ड पुराण में गान और वाद्य के द्वारा देवी को प्रसन्न किये जाने का उल्लेख है।[26] विष्णु पुराण में वर्णित है कि श्रीराम का राज्याभिषेक वाद्य, गीत और नृत्य द्वारा सम्पन्न हुआ था।[27] मत्स्य पुराण में आख्यात है कि शिव की बारात में मुरज, तुम्बुर आदि वाद्यों के साथ मूर्च्छनायुक्त गीत गाया जा रहा था।[28]

इन विभिन्न दृष्टान्तों के आधार पर अनुमानित होता है कि नृत्य, संगीत आदि मनोविनोद के साधनों में प्रमुख स्थान रखते थे। धार्मिक तथा मांगलिक अवसरों पर इनका विशेष आयोजन करने की भी परम्परा थी। संगीत की लोकप्रियता का वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। मेघदूत में अलकापुरी के प्रासादों को संगीत के लिये बजाये जाने वाले वाद्यों के स्निग्ध और गम्भीर घोषों से मुखरित बताया गया है।[29] कामसूत्र में संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य कहा गया है।[30]

द्यूत

आलोचित पुराण में महान यशस्वी राजा ऋतुपर्ण के विषय में वर्णित है कि वह, राजा नल का परम सुहृद एवं शक्तिशाली था और दिव्य अक्ष विद्या में परम निपुण था।[31] मनोरंजन के प्रचलित साधनों में द्यूत क्रीड़ा की लोकप्रियता के प्रमाण अन्य पौराणिक स्थलों पर भी मिलते हैं। मत्स्य पुराण में निरूपित है कि द्यूत में कुशलता दिखाकर राजा को प्रसन्न करना चाहिये।[32] अन्यत्र इस पुराण में राजा निमि के द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ द्यूत क्रीड़ा का उल्लेख किया गया है।[33] विष्णु पुराण से भी जुए के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। जुए की बाजी में मुद्रायें दाँव पर लगाई जाती थीं और अभ्यस्त खिलाड़ियों को परास्त करने में विशेष गौरव समझा जाता था।[34]

पौराणिक संरचना के काल में प्रचलित यह क्रीड़ा अति प्राचीन थी क्योंकि ऋग्वेद में इसका सम्बन्ध मन से किया गया है।[35] शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि राजसूय यज्ञ के समय यज्ञकर्ता जुआ खेलता था।[36] इसके अतिरिक्त स्मृतियों में द्यूत क्रीड़ा को राजा का चारित्रिक अवगुण बताया गया है।[37] अर्थशास्त्र में भी कौटिल्य के द्वारा नल और युधिष्ठिर का उदाहरण देते हुए इसे राजाओं के लिये हेय कहा गया है।[38]

आखेट

मनोरंजन के उपायों में आखेट का पृथक स्थान था और अधिकांशतः उच्च वर्ग में इसका प्रचलन था। प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि एक बार किसी समय स्यमन्तक मणि से विभूषित होकर राजा प्रसेनजित आखेट के लिये वन को गये, वहाँ उसी मणि के कारण एक सिंह ने उन्हें मार दिया।[39] अन्यत्र उल्लिखित है कि संयोगवश राजा शान्तनु आखेट करते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ सत्यधृति की जुड़वाँ सन्तानें उत्पन्न हुई थी और उन्होंने कृपावश उन बच्चों को उठा लिया।[40] मत्स्य पुराण में द्यूत के समान आखेट को भी राजा के लिये वर्जित बताया गया है।[41] परन्तु मृगया प्रेमी राजाओं के वर्णन पौराणिक स्थलों पर विकीर्ण अवश्य मिलते हैं। विष्णु पुराण में आख्यात है कि राजा मित्रसह ने मृगयावश वन में घूमते हुए व्याघ्रयुगल में एक को अपने बाण से मार दिया था।[42] आखेट के दुष्परिणाम पर प्रकाश डालते हुए आलोचित पुराण के एक प्रसंग में निरूपित है कि पुरुषों के लिये निषिद्ध उपवन में आखेट हेतु जाने के कारण सुद्युम्न नामक राजा स्त्री रूप में परिणित हो गया था।[43] विष्णु पुराण में राजा पाण्डु के द्वारा वन में मृगया विहार करते समय ऋषि के शापवश पुंसत्व नष्ट हो जाने का वर्णन मिलता है।[44]

पौराणिक उद्धरणों की पुष्टि स्मृति, अर्थशास्त्र, साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से की जा सकती है। स्मृतियों में द्यूत क्रीड़ा के समान मृगया को भी पतन के लिये उत्तरदायी माना गया है।[45] अर्थशास्त्र में आखेट को द्यूत से भी निकृष्ट बताया गया है।[46] शाकुन्तल में दुष्यन्त को मृगया विहारी विशेषण से सम्बोधित किया गया है।[47] गुप्तकालीन मुद्राओं पर बाघ के आखेट करने वाले गुप्तशासकों के चित्र अंकित हैं।[48] मृगया के प्रति रुचि रखने की परम्परा अति प्राचीन है और अथर्ववेद में 'मृगयु' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[49]

झूला

आलोचित पुराण में झूले का उल्लेख भी मिलता है। शिव द्वारा अधिष्ठित

कैलाश पर्वत के शिखर पर व्याप्त मनोहर वातावरण के प्रसंग में वर्णित है कि कहीं पर श्रवण सुखद वीणा वादन पर निर्घोष हो रहा है, कहीं पर स्त्रियाँ झूला झूल रही हैं, जिनके गतिशील होने से ध्वजा में लटकने वाली घंटियाँ बज रही हैं ।[50] श्रीकृष्ण की कथा प्रसंग में विष्णु पुराण में हिंडोले की चर्चा की गई है और कृष्ण की मानवोचित क्रीड़ाओं में झूला झूलने का भी वर्णन हुआ है ।[51] अन्य परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों से भी झूले की लोकप्रियता का समर्थन होता है । वात्स्यायन ने गृहोद्यान में झूला निर्मित करने की व्यवस्था प्रतिपादित की है ।[52] कालिदास ने रघुवंश में प्रेमीयुगलों द्वारा झूला झूलने का वर्णन किया है ।[53]

जलक्रीड़ा

आलोचित पुराण में सहस्त्रबाहु कार्तवीर्य के द्वारा नर्मदा में जलक्रीड़ा करने का सुन्दर चित्रण किया गया है । प्राचीन काल में जलक्रीड़ा करते समय उसके कंठ से सुवर्ण माला खिसक कर नर्मदा की धारा में गिर पड़ी थी, उससे सुशोभित एवं क्रीड़ा से आलोड़ित नर्मदा अपनी तरंगरूपी कातर भ्रुकुटियों तथा तरंगों के शब्दों से शंकिता के समान उस [राजा] के अभिमुख गमन करती थी ।[54] इस क्रीड़ा का वर्णन मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होता है । हिमालय की सुरम्य स्थली में स्थित सरोवर के सम्बन्ध में आख्यात है कि इसमें देवांगनायें विविध रूपेण मनोविनोद कर रही थीं । कोई रमणी अपने पति के ऊपर जल फेंक रही थी और कोई पति द्वारा जल-ताडित होने पर प्रसन्न हो रही थी ।[55] निस्सन्देहात्मक रूप से ग्रीष्मऋतु में इस क्रीड़ा को मनोरंजन के साधनों में विशिष्ट स्थान दिया गया था । वात्स्यायन ने भी ग्रीष्म में ग्राह आदि भयंकर जीवों से रहित जलाशय में जलक्रीड़ा का निर्देश दिया है ।[56]

अभिनय

पौराणिक स्थलों की समीक्षा से सम्भावित लगता है कि नाटक और अभिनय के द्वारा भी मनोरंजन किया जाता था । आलोचित पुराण के एक स्थल पर देवताओं

के चरित्र का अनुकरण करने वाला (अभिनेता) व्यक्ति यज्ञ और श्राद्ध में निमन्त्रण के लिये अयोग्य कहा गया है ।[57] मत्स्य पुराण में भगवान शंकर को वाम पार्श्व में कपाल एवं नागों को धारण कर, एक हाथ से वर देते हुए और दूसरे में रुद्राक्ष लिये हुए अभिनय की मुद्रा में स्थित रहने वाला बताया गया है ।[58] ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि ललिता देवी का मनोरंजन नाटकों के द्वारा होता था ।[59] विष्णु पुराण में नाटक को जीविका साधन बनाने वाला व्यक्ति नरकगामी कहा गया है ।[60] अभिनय द्वारा मनोविनोद किये जाने का प्रचलन अवश्य था परन्तु अभिनेता धार्मिक कृत्यों के योग्य नहीं थे । मनु स्मृति में भी ऐसे व्यक्तियों को श्राद्ध वर्जित निर्धारित किया गया है ।[61]

उत्सव

आलोचित पुराण के एक प्रसंग से उत्सव मनाये जाने के सम्बन्ध में ज्ञात होता है । हिमवान् पर्वत के मनोहर कुक्षि प्रदेश में स्थित शरवण नामक सुन्दर वन में कार्तिकेय के समुत्पन्न होने पर सम्पूर्ण आकाशमण्डल देवताओं के विमानों से इस प्रकार आवृत्त हो गया मानों पक्षियों के समूह घेरे हुए हों । चारों ओर से मुख्य-मुख्य गन्धर्व गान करने लगे, विद्याधरों, सिद्धों तथा किन्नरों के समूह सम्मिलित होकर उत्सव मनाने लगे ।[62] इस विषय में विष्णु और मत्स्य पुराण के उद्धरणों से भी समुचित प्रकाश पड़ता है । असुरों को परास्त करने के उपरान्त देवताओं ने सुमेरु पर्वत पर महोत्सव आयोजित किया था जिसमें सुरांगनायें भी सम्मिलित हुई थीं ।[63] मत्स्य पुराण में तारकासुर-वध के पश्चात् देवताओं द्वारा उत्सव मनाये जाने का वर्णन है जिसमें देवतागण स्तुतियों द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित कर रहे थे ।[64] वस्तुतः मानसिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति का माध्यम ये उत्सव ही होते थे जिनके आयोजन पर हर्षोल्लासमय वातावरण में समागत जनसमूह का मनोरंजन होता था ।

आलोचित पुराण में उपलब्ध मनोरंजनार्थ साधनों की विवेचना के आधार पर

तत्कालीन समाज में प्रचलित मान्यताओं का यथेष्ट ज्ञान होता है । कुछ मनोविनोद ऐसे भी हैं जो वैदिक काल से ही लोकप्रिय थे, कुछ के सम्बन्ध में वर्जना भी मिलती है और कुछ धार्मिक कृत्यों के समय गौण रूप से विद्यमान होते हुए भी मनोरंजन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण थे । विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध होने के कारण जनसमुदाय अपनी रुचि के अनुकूल उनका अनुगमन कर सकता था ।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद, 10/146/2; 1/28/5; 2/43/3; 10/135/7.

2. पतेव कितवं शशात्य, तत्रैव, 5/37/7.

3. मृग: न मृगयुस्त्वं, अथर्ववेद, 10/1/26;
मृगयुभ्यश्च वो नम:, वाजसनेय संहिता, 16/27.

4. आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रय: ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्यास्त्वष्टादशैव तु । वायु पुराण, 61/78-80.

5. ------- गन्धर्वोगांधारो यत्र वै स्वर: । तत्रैव, 21/32-49.

6. सप्तस्वरास्त्रयोग्रामामूर्छनास्त्वेकविंशति: ।
तानाश्चैकोनपञ्चाशदित्येतत्स्वरमण्डलम् । तत्रैव, 86/36.

7. क्रियमाणोऽप्यलंकारो रागं यश्चैवदर्शयेत् ।
यथोद्दिष्टस्य मार्गस्यकर्तव्यस्य विधीयते । तत्रैव, 87/26.

8. मामध्वरे शंसितार: स्तुवन्ति रथंतरे ।रं। साम गायन्ति गेयम् । तत्रैव, 30/119.

9. नमो नर्तनशीलाय ------- ।
----- गीतवादरताय च । तत्रैव, 30/198-199.

10. नमोऽस्तु नृत्यशीलाय वाद्यनृत्यप्रियाय च ।
मन्यवे गीतशीलाय मुनीतिं गायते नम: । तत्रैव, 24/142-143.

11. ------- किंकिणीकाय वै नम: । तत्रैव, 24/148.

12. तत्र भूतास्तेभूता नित्यं पूजां प्रयुञ्जते ।
रम्भितालसितोद्गीतैर्नित्यं हसितगीतिभि: । तत्रैव, 40/24-25.

13. सामवेदश्च घृताद्य: सर्वगेयपुर: सर: ।
    विश्वावस्वादिभि: सार्धं गन्धर्वै: संभूतोऽभवत् । तत्रैव, 65/26.

14. प्रबाह्यजनयत्पुत्रान्यज्ञे वै गायनोत्तमान् । तत्रैव, 68/37.

15. संप्रगीतेषु तेष्वेवमागमेष्वथ सुस्वरम् । तत्रैव, 57/93.

16. नृत्यगा[illegible]: । तत्रैव, 69/44.

17. नृत्यगीतप्रगल्भानामेतेषां ----- । तत्रैव, 69/36-37.

18. गन्धर्वाप्सरसस्तत्र गायन्ते वादयन्ति च । तत्रैव, 80/13.

19. तत्रैव, 40/24.

20. यस्यदत्ता सरस्वत्यामहावीणा महास्वना । तत्रैव, 72/45.

21. मृदङ्गवेणुपणववीणाया बहु[illegible]: । तत्रैव, 45/40.

22. जज्ञे तस्य प्रसूतस्य दुन्दुभि: --- आनकानां सह्लाद: । तत्रैव, 96/145.

23. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी, 12.

24. क्वचिन्नृत्यतिचित्रा[illegible] क्वचिद्वदतिसुस्वरम् । तत्रैव, 30/134.

25. जगु: सामानि गन्धर्वा न[illegible]चाप्सरोगणा: । तत्रैव, 2/31.

26. महाराज्ञीगुणान्गायन्तो वल्लकीस्वनै: । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/33/16.

27. नृत्यगीतवाद्यादिषु ----- । विष्णु पुराण, 4/4/99.

28. मत्स्य पुराण, 154/463.

29. संगीताय प्रहतमुरजा: स्निग्धगम्भीरघोषम् । उत्तरमेघ, 1.

30. कामसूत्र, पृष्ठ 92.

31. ------- ऋतुपर्णो [illegible] : ।
दिव्याक्षहृदयज्ञोऽसौ राजा नल सखो बली । वायु पुराण, 88/172-173.

32. द्यूतादिषु तथैवान्यत्कौशलं तु प्रदर्शयेत् ।
प्रदर्श्य कौशलं चास्य राजानं तु विशेषयेत् । मत्स्य पुराण, 216/8.

33. तत्रैव, 61/32.

34. विष्णु पुराण, 5/28/12-22.

35. यो व: सेनानी[illegible]तो गणस्य । ऋग्वेद, 10/34/12.
हे अक्षा: वो युष्माकं महतो गणस्य संघस्य योऽक्ष: सेनानीर्नेता । सायण

36. राजसूयेन यजते ---- यो वैतदेवं ---- यदक्षावापश्च ।
शतपथ ब्राह्मण, 5/3/1-15.

37. मृगयाक्ष ---- परिहरेत् । विष्णु पुराण, 3/50.
पानमक्षा: स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । मनुस्मृति, 7/50.

38. अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री-सम्पादित, पृष्ठ 399.

39. कदाचिन्मृगयां यात: प्रसेनस्तेन भूषित: ।
स्यमन्तककृते [illegible] प्राप्त: सुदारुणम् । वायु पुराण, 96/33.

40. मृगया तस्य जग्राह [illegible] मृगयांगत: । तत्रैव, 99/204.

41. मत्स्य पुराण, 45/6.

42. स चाटव्यां मृगयार्थी --- एकं तयोर्बाणेन जघान । विष्णु पुराण, 4/4/40-42.

43. उमावनं प्रविष्टस्तु स राजा मृगयां गतः ।
पिशाचैः सह भूतैस्तु रुद्रैः स्त्रीभावमास्थितः । वायु पुराण, 85/27.

44. पाण्डोरप्यरण्ये मृगयायामृषिशापोपहतप्रजाजननसामर्थ्यस्य ----- ।
विष्णु पुराण, 4/20/40.

45. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी 37.

46. अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री - सम्पादित, पृष्ठ 399.

47. ----- मृगया विहारी पार्थिवो दुष्यन्तः । अभिज्ञानशाकुन्तलम् , अंक 1.

48. द्रष्टव्य, ए0एस0 अल्तेकर, दि गुप्त गोल्ड क्वायंस इन दि बयाना होर्ड, एपेग्डिक्स, 2, पृष्ठ 326.

49. द्रष्टव्य, पाद टिप्पणी 3.

50. दोलालम्बितसम्पाते वनिता संघ सेविते ।
दकैर्लम्बितदोलानां घण्टानां निनदाकुले । वायु पुराण, 54/36.

51. विष्णु पुराण, 5/9/7-8.

52. कामसूत्र, सूत्र 40.

53. रघुवंश, 19/44.

54. सुभिता क्रीडता तेन हे[illegible]दाममालिनी ।
उर्मिभ्रुकुटिलनादा शङ्किताऽभ्येति नर्मदा । वायु पुराण, 94/28.

55. मत्स्य पुराण, 120/12-20.

56. एतेन रचितोदग्राहोदकानां ग्रीष्मे जलक्रीडागमनं विख्यातम् ।
कामसूत्र, सूत्र 46.

57. गायनान्देववृत्तांश्च हव्यकव्येषु वर्जयेत् । वायु पुराण, 79/69.

58. कपालं वामपार्श्वे तु नागं खट्वांगमेव च ।
एकश्च वरदो हस्तस्तथाऽक्षवलयो परः -- नृत्याभिनयसंस्थितः ।
मत्स्य पुराण, 259/9-10.

59. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/37/8.

60. रंगोपजीवी ----- याति वैतरणीं नरः । विष्णु पुराण, 2/6/22.

61. कुशीलवोऽवकीर्णो ----- । मनुस्मृति, 3/155.

62. वायु पुराण, 72/34-36.

63. जितेऽसुरसंघेषु मेरुपृष्ठे महोत्सवः ।
बभूव तत्र गच्छन्त्यो ददृशुस्तं सुरस्त्रियः । विष्णु पुराण, 5/38/72.

64. तस्मिन्विनिहते दैत्ये त्रिदशानां महोत्सवे ।
स्तुवन्तः षण्मुखं देवाः क्रीडन्तश्चांगनायुताः । मत्स्य पुराण, 160/27-28.

नगर योजना तथा गृह विन्यास

आदिकाल में मानव ने किस समय और किन परिस्थितियों में सामूहिक जीवन, गृह-निर्माण, नगर-स्थापना आदि का समारम्भ किया, इस सम्बन्ध में आलोचित पुराण के आख्यानपरक स्थलों से ज्ञानवर्धन होता है। ऐसा विवेचित है कि स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा विविध प्राकृतिक तत्त्वों और वनस्पतियों का निर्माण करने के उपरान्त कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि आदि युगों को निर्मित किया गया। कृतयुग के प्रारम्भ में मानव नदी, सरोवर, सागर और पर्वतों के समीप रहता था, उसको अधिक शीत और गर्मी से कष्ट नहीं होता था, वह इच्छानुसार इधर उधर विचरण करता था। पृथ्वी से उत्पन्न वनस्पतियों, फल, मूल आदि का आहार करता था।[1] सम्भवतः इस पौराणिक स्थल का संकेत इतिहास सिद्ध उस युग विशेष की ओर है, जिसे पाषाण काल की संज्ञा दी जाती है। इस समय मानव का आवास अस्थाई और अनिश्चित था। भोजन की खोज में वह विभिन्न स्थानों में भटकता रहता था। पाषाण काल के अन्तिम चरण में इस व्यवस्था का स्थिरीकरण आरम्भ हुआ, जब कि मनुष्य ने स्थाई आवासों का निर्माण करके सामूहिक जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया।[2]

प्रस्तुत पुराण में प्रसंगान्तर में निरूपित है कि त्रेता युग में प्रजाओं में शीतोष्णादि द्वन्द्व-क्लेश उत्पन्न होने लगे। तब गृहहीन प्रजागण गात्रावरण (वस्त्र) धारण करके शीत, वायु और गर्मी के कष्ट का निवारण करने के लिये यथायोग्य अपनी रुचि के अनुसार गृह-निर्माण करके निवास करने लगे।[3]

आलोचित पुराण में प्राप्त होने वाले विचारों की पुष्टि अन्य [illegible] उद्धरणों द्वारा भी की जा सकती है। विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराण के एतत्सम स्थलों पर निरूपित है कि त्रेता युग में अज्ञान, क्लेश आदि के प्राबल्य के फलस्वरूप जन समूह में दुःख की प्रचुरता हो जाती है और इन्हीं परिस्थितियों में मनुष्य ने पुर आदि की व्यवस्था में गृह निर्माण का आरम्भ किया।[4]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि वेनपुत्र नृप पृथु के कार्यकाल से पहले विषम पृथ्वीतल पर पुरों और ग्रामों का कोई विभाग नहीं था । न अन्न उत्पन्न होता था, न पशुपालन, न कृषि, न वाणिज्य ही था । किन्तु परम धर्मज्ञ राजा पृथु के राज्यकाल से पृथ्वीलोक में समस्त वस्तुएं उत्पन्न होने लगीं ।[5] राजा पृथु पुराण द्वारा नियत किये गये राजा हैं जिनका शासन काल जन जीवन के सन्तुलन का युग माना गया है । इसे सामाजिक व्यवस्था का कारण बताते हुए इस युग में पृथ्वी का समीकरण और विक्षोभ का समापन भी माना गया है । विष्णु तथा मत्स्य पुराण में भी इन्हीं तथ्यों का समर्थन मिलता है ।[6]

भवन निर्माण

प्रस्तुत पुराण में भवन निर्माण कला में विश्वकर्मा को पूर्णतः दक्ष बताया गया है ।[7] अन्यत्र वर्णित है कि बृहस्पति की भगिनी वरस्त्री का पुत्र विश्वकर्मा समस्त शिल्पियों का प्रजापति था । वह विश्वकर्मा सम्पूर्ण शिल्पकर्मों का निर्माता और देवताओं का बढ़ई था । शिल्पजीवी मानव समूह आज भी उसके शिल्पकर्म के द्वारा जीविका अर्जित करते हैं ।[8]

आलोचित पुराण में उपलब्ध विश्वकर्मा और वास्तुविद्या का पारस्परिक सम्बन्ध इस तथ्य का परिचायक है कि समाज में इस कला में निपुण जन भी विद्यमान थे और व्यवहारिक रूप से निर्धारित मान्यताओं का अनुकरण भी किया जाता था । देवशिल्पी और वास्तुकला विशारद विश्वकर्मा की परम्परागत कल्पना का समर्थन अन्य पौराणिक स्थानों पर भी मिलता है । विष्णु पुराण के अनुसार राजा मान्धाता की पुत्रियों का प्रासाद विश्वकर्मा द्वारा निर्मित हुआ था ।[9] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि विश्वकर्मा को प्रासाद आदि के निर्माण में पर्याप्त कुशलता प्राप्त थी ।[10]

दुर्ग निर्माण

प्रस्तुत पुराण में दुर्ग-निर्माण सम्बन्धी विधानों की भी चर्चा हुई है । एक

स्थल पर निरूपित है कि दुर्ग चार प्रकार के होते हैं। तीन तो प्राकृतिक होते हैं जिनकी सीमा पर्वत तथा जल के द्वारा निश्चित की जाती है।[11] अन्यत्र प्राकृतिक दुर्गीकरण के दृष्टान्त भी मिलते हैं जहाँ वर्णित है कि विद्युद्वान पर्वत के मध्यवर्ती तल-देश में सैकड़ों हजारों पुर हैं जो परस्पर एक ही एक में मिले हुए तथा एक ही द्वार वाले हैं।[12]

दुर्ग का चतुर्थ प्रकार कृत्रिम बताया गया है और उसकी निर्माण-विधि के विषय में आख्यात है कि उसको चारों ओर से ऊँचे वप्र तथा प्राकारों से घेरना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसमें बहुजलपूर्ण परिखा भी अपेक्षित है जिसकी लम्बाई और चौड़ाई दस एवं आठ हाथ की अथवा नौ एवं आठ हाथ की निर्धारित की गई है। इस दुर्ग में एक प्रमुख द्वारकी व्यवस्था भी आदिष्ट है।[13]

आलोचित पुराण में प्राप्त दुर्ग विषयक नियमों की पुष्टि अन्य पौराणिक साक्ष्यों से भी की जा सकती है। विष्णु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में पर्वत, जल और मरुभूमि द्वारा सुरक्षित क्षेत्र को प्राकृतिक दुर्ग की संज्ञा दी गई है।[14] मत्स्य पुराण में विभिन्न प्रकार के दुर्गों में पर्वत द्वारा आवेष्टित दुर्ग सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[15] इसी पुराण में दुर्ग के अंगों में वप्र की गणना भी की गई है। इसके अतिरिक्त दुर्ग को अट्टालकों से युक्त करने का उल्लेख भी इसमें मिलता है।[16]

नगर योजना

आलोचित पुराण में नगर अथवा पुर को एक योजन क्षेत्र वाला कहा गया है। नगर के अतिरिक्त खेट एवं ग्राम का उल्लेख मिलता है जिन्हें क्रमशः आधा योजन एवं चौथाई योजन क्षेत्र पर विस्तृत बताया गया है।[17] सम्भवतः इनकी तुलना आधुनिक नगर, कस्बे और गाँव से की जा सकती है। एक स्थल पर राजा पुरूरवा के विषय में वर्णित है कि उर्वशी की खोज में वे, खेट, खर्वट (पहाड़ी गाँव), वाटिका और नगर

क्रम

नगर में घूमते रहे ।[18] कार्तवीर्य अर्जुन के बाणों में स्थित होकर भगवान् आदित्य ने पृथ्वी के समस्त पुरों, घोषों, ग्रामों और पत्तनों को भस्म कर दिया था ।[19]

सामुदायिक आवासों के लिये प्रयुक्त इन विभिन्न शब्दों की चर्चा के अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण में नगरों के विन्यास पर समुचित प्रकाश डाला गया है । लम्बाई से आधी चौड़ाई वाला नगर श्रेष्ठ बताया गया है और इसका पूर्वोत्तर दिशा का भाग कुछ नीचा रहना उत्तम कहा गया है । चौकोर, कुछ बड़ा और एक दिशा में घना बसा हुआ नगर भी प्रशस्त माना गया है परन्तु प्रथम प्रकार के नगर को ही वरीयता दी गई है ।[20]

प्रसंगान्तर में इसी स्थल पर निरूपित किया गया है कि छिन्नकर्ण, विकर्ण, व्यंजक, कृश, वृत्त, हीन तथा दीर्घ आकार वाले नगर निन्दनीय होते हैं ।[21]

नगरों की स्थापना के लिये पर्वत शिखर, पर्वतों की तलहटी और नदियों के तटों को उपयुक्त बताया गया है । भुवन विन्यास सम्बन्धी अध्यायों में अनेक नगरों का उल्लेख है जो दैत्यों, दानवों, गन्धर्वों, विद्याधरों आदि के बताये गये हैं । मलयद्वीप में स्थित त्रिकूट पर्वत पर लंका नगरी का विस्तार 100 x 30 योजन का वर्णित है । मनुष्यों के लिये यह महापुरी अगम्य कही गई है ।[22] इसी प्रकार कैलाश पर्वत पर स्थित गन्धर्वों के नगरों का विस्तार हजार योजन लम्बा और तीस योजन चौड़ा उल्लिखित है ।[23] नदी-तटों पर स्थित तीर्थों की चर्चा भी विस्तार से की गई है ।[24]

नगरों के चतुर्दिक परकोटे और नगर द्वार का भी वर्णन प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध है । नगर का मुख्य प्रवेश द्वार आठ सौ किष्कु का होना चाहिये ।[25] द्वारवती नगरी के सन्दर्भ में अनेक द्वार वाली नगरी कहा गया है ।[26] अन्यत्र त्रिपुरी के वर्णन में उसके चारों ओर मध्याह्न कालीन भास्कर की भाँति परम तेजस्वी सुवर्ण

निर्मित महान प्राकार और चार सुवर्ण निर्मित द्वारों का उल्लेख मिलता है ।[27] वाराणसी नगरी के विनाश की कथा में गणेश्वर निकुम्भ के द्वारा नापित को स्वप्न में आदेश दिया गया कि नगरी के प्रवेश द्वार पर उसकी प्रतिमा स्थापित की जाये ।[28]

नगर द्वार और प्राकारों का उल्लेख प्राय: दैत्यों, असुरों, गन्धर्वों आदि के नगरों के सम्बन्ध में भी मिलता है । एक स्थल पर वर्णित है कि महानील पर्वत पर स्थित किन्नरों के पन्द्रह नगर हैं जिनमें 'बिल प्रवेश' (गुप्तद्वार) है ।[29]

अन्यत्र निषध पर्वत के दक्षिणी भाग में स्थित दैत्यों के नगर का प्रवेश द्वार गुफा के समान बताया गया है ।[30] मनोहर शिखर वाले पाण्डुर पर्वत पर विशाल भवनों से युक्त विद्याधरों के नगर वर्णित हैं जिनके चारों ओर विशाल प्राकार और तोरण निर्मित है ।[31] भुवन (विन्यास) विषयक अध्यायों में वर्णित नगर अधिकांशत: पर्वतों के मध्य अथवा शिखर पर स्थित और अगम्य कहे गये हैं । अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण उन्हें पूर्णत: सुरक्षित माना जाता था ।

आलोचित पुराण में वायुपुर के प्रसंग में केवल एकमात्र स्थल पर धर्मशाला का उल्लेख मिलता है । वायुपुर को तीर्थस्थान घोषित करते हुए वहाँ प्रचुर मात्रा में धर्मशालाओं की विद्यमानता बताई गई है ।[32] सम्भवत: पौराणिक संरचना के काल में तीर्थस्थलों पर धर्मशाला निर्मित करवाने की परम्परा आरम्भ हो चुकी थी ।

नगर योजना विषयक प्रसंग में ही प्रस्तुत पुराण में आख्यात है कि अवस्कर (मलजल का नाला) और जलनिर्गम स्थान एक पद चौड़ा होना चाहिये ।[33] नगर में स्वच्छता के दृष्टिकोण से जलनिकास प्रणाली की व्यवस्था होना सम्भावित लगता है ।

नगर में सौन्दर्यवर्धन के लिये वाटिका और उपवनों की व्यवस्था के प्रमाण भी आलोचित पुराण में उपलब्ध हैं। भुवन महागिरि के उत्तर शिखर पर सैंहिकेय नामक देवशत्रु का नगर है जिसमें कितने ही उद्यान और वन सुशोभित हैं।[34] निषध पर्वत पर उल्लंघी नामक राक्षसों के नगर में स्थान स्थान पर वाटिकाओं के निर्मित होने का उल्लेख है।[35]

आलोचित पुराण में उपलब्ध नगर-योजना सम्बन्धी मान्यताओं की पुष्टि अन्य पौराणिक उद्धरणों से भी होती है जिसके आधार पर कह सकते हैं कि तत्कालीन नगर-योजना के अन्तर्गत इन विधानों पर ध्यान अवश्य दिया जाता था। मत्स्य पुराण में आख्यात है कि नगर को आयताकार, चौकोर अथवा वृत्ताकार बनाना चाहिये।[36] विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण द्वारा निर्मित द्वारकापुरी विशाल वप्र द्वारा आवेष्टित कही गई है।[37] ब्रह्माण्ड पुराण में श्रीपुर को प्राकारों से युक्त बताया गया है।[38] इसी पुराण में अन्यत्र उल्लिखित है कि जमदग्नि ने शिवलोक के जिस नगर का दर्शन किया था, उसमें चार द्वार थे।[39] विष्णु पुराण में वर्णित है कि द्वारका की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण ने जो दुर्ग बनाया था, वह अति विशाल उद्यान से युक्त था।[40] ब्रह्माण्ड पुराण में श्रीपुर नगर योजना पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नगर के लिये उद्यान आवश्यक है।[41]

अन्य साहित्यिक प्रमाणों द्वारा भी पौराणिक स्थलों को समर्थित किया जा सकता है। महाभारत में गिरिव्रज नगर को पाँच पर्वतमालाओं से घिरा बताया गया है।[42] अर्थशास्त्र में पर्वत, मरुभूमि आदि नगर रक्षा के स्वाभाविक उपादान कहे गये हैं।

इसके अतिरिक्त प्राकार निर्माण के पहले वप्र बनाने का विधान भी इसमें निरूपित है। नगर के चार द्वारों का भी इसमें उल्लेख है।[43] कादम्बरी में उज्जयिनी

को घेरने वाली परिखा की उपमा सागर से दी गई है । उज्जयिनी के प्राकारों को कैलाश पर्वत के तुल्य ऊँचा वर्णित किया गया है ।[44] रामायण में नगर के चारों ओर वृक्षारोपण का उल्लेख मिलता है । अयोध्या के विषय में वर्णित है कि यह नगरी चतुर्दिक आम्रवन से युक्त थी ।[45]

मार्गों की व्यवस्था और उनका आकार

नगर योजना के अन्तर्गत आलोचित पुराण में विभिन्न प्रकार के मार्गों का विस्तार भी निर्धारित किया गया है । ग्राम अथवा नगर से अनेक दिशाओं में जाने वाले मार्ग (दिशा मार्ग) बीस धनुष (120 फीट) चौड़े होने चाहिये । सीमा-रेखा के समीप मार्ग का विस्तार दस धनुष (60 फीट) का निरूपित है । श्री सम्पन्न राजमार्ग के विषय में वर्णित है कि इसकी चौड़ाई दस धनुष (60 फीट) की होनी चाहिये जिससे मनुष्य, घोड़े, रथ, हाथी आदि सभी सुविधापूर्वक भ्रमण कर सकें ।[46] राजमार्ग का प्रशस्त होना सम्भवतः आवश्यक था क्योंकि विष्णु पुराण में भी उल्लिखित है कि मथुरा का राजमार्ग इतना चौड़ा था कि जब श्रीकृष्ण और बलराम उस पर से निकल रहे थे, तब अनेक नर-नारियों को उन्हें देखने का अवसर मिला था ।[47]

राजमार्ग की स्वच्छता पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था । आलोचित पुराण के एक स्थल पर आख्यात है कि जिस राजमार्ग की सफाई नहीं होती है, वहाँ पिशाच निवास करते हैं ।[48] मत्स्य पुराण में राजमार्ग को गन्दा करने वाला व्यक्ति अपराधी कहा गया है ।[49]

प्रस्तुत पुराण में प्रमुख मार्गों के साथ ही साथ अन्य पथों का आकार निश्चित किया गया है । शाखा पथ की चौड़ाई चार धनुष (24 फीट) की होनी चाहिये । निवास स्थानों को प्रमुख मार्ग से संयुक्त करने वाला पथ दो धनुष (12 फीट) की और साधारण पथ एक धनुष (6 फीट) की चौड़ाई में बनाने का नियम दिया गया है ।[50]

अन्यत्र वर्णित है कि विद्याधरों के नगर का पथ इतना विशाल था कि उस पर अनेक नर-नारी विचरण करते थे ।[51] निस्सन्देहात्मक रूप से नगर योजना में राजमार्गों एवं अन्य पथों को यथास्थान निर्मित करने और उनकी समुचित लम्बाई चौड़ाई का विशेष ध्यान रखना अपेक्षित था । शुक्रनीति में भी आदिष्ट है कि राजा को नगर परिमाण के अनुसार ही राजमार्गों को निर्मित करवाना चाहिये ।[52] इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में पुरातात्त्विक महत्व के स्थलों पर जैसे सिन्धु घाटी, तक्षशिला, कौशाम्बी आदि में सुनियोजित मार्ग निर्माण के साक्ष्य भी उपलब्ध हैं ।[53]

चतुष्पथ

आलोचित पुराण में चारों ओर से एक ही स्थल पर मिलने वाले मार्गों का स्थान चतुष्पथ कहा गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि योगी को चतुष्पथ पर ध्यान योग में लीन नहीं होना चाहिये ।[54] अन्यत्र देवेश विघ्न को चतुष्पथ में अवस्थित बताया गया है ।[55] ब्रह्माण्ड पुराण में भी जमदग्नि की पुरी को अनेक चत्वरों से युक्त बताया गया है ।[56]

गृह निर्माण

आलोचित पुराण में "शाला" शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में मनुष्य को वृक्ष की फैली हुई शाखाओं से संरक्षण और आश्रय प्राप्त हुआ था उसी के अनुकरण में उसने घरों को बनाया अतः वृक्षशाखा के समान विन्यस्त होने से घरों का नाम 'शाला' रखा गया ।[57] ब्रह्माण्ड पुराण में भी विश्वकर्मा द्वारा विभिन्न प्रकार के गृहों के निर्माण का वर्णन किया गया है ।[58]

साधारण गृहों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण में विशाल भवनों तथा प्रासादों का उल्लेख भी किया गया है । गरुडपुत्र महात्मा सुनाभ के पुर के विषय में निरूपित है

कि वह नगर विशाल भवनों से मण्डित है । प्रसंगान्तर में उल्लिखित है कि पिशाच नामक गिरिवर पर हर्म्य (विशाल कोठी) और प्रासाद सुशोभित होते हैं ।[59] प्रासाद सम्भवतः 'शाला' की अपेक्षा अधिक भव्य और आकर्षक बनाये जाने वाले भवन थे । 'प्रासाद' के नामकरण के विषय में एक स्थल पर निरूपित है कि जो घर मन को प्रसन्न करे उसे 'प्रासाद' कहते हैं ।[60]

गृह निर्माण के समय उनकी स्थिति भी योजना अनुसार निश्चित की जाती थी । आलोचित पुराण के भवन विन्यास सम्बन्धी स्थलों पर नगरों में पंक्तिबद्ध ऊँचे भवनों का उल्लेख मिलता है । लंका महापुरी को 'हर्म्यप्रासादमालिनी' अर्थात् जहाँ हर्म्य और प्रासाद माला के समान पंक्ति में दिखाई पड़ते हैं, कहा गया है ।[61] अन्यत्र देवकूट पर्वत की दक्षिण दिशा में स्थित सात श्रृंगों पर देवों द्वारा निर्मित बड़े बड़े भवन माला के समान शोभित होने वाले बताये गये हैं ।[62]

पौराणिक संरचना के युग में गृह निर्माण के अवसर पर सभी आवश्यक उपादानों की व्यवस्था करने की परम्परा का निर्वाह किया जाता था । मत्स्य पुराण में आख्यात है कि गृह निर्माण करते समय सभी कार्यों को छोड़कर सर्वप्रथम स्तम्भ निर्मित होने चाहिये ।[63] आलोचित पुराण में स्तम्भों का उल्लेख अग्निदेव के आवास के प्रसंग में हुआ है और रत्नमणियों से जड़ित छतों को [illegible] स्तम्भों पर आधारित बताया गया है ।[64] अन्यत्र देवताओं के विमान के स्तम्भ मणि रत्नों से निर्मित वर्णित है ।[65] गृह को सुविधाजनक बनाने के लिये उसमें द्वार, गवाक्ष, सोपान, कपाट आदि का विधान भी था । एक प्रसंग में लंका पुरी को द्वार एवं वलभी (अटारी) से युक्त भवनों से मण्डित कहा गया है ।[66] कुरु देश के वर्णन में निरूपित है कि वहाँ शंख की भाँति उज्ज्वल भूमिगृह है जिनके गवाक्षों में मणियों का जाल बना हुआ है ।[67] अन्यत्र त्रिपुर के स्वर्णमय प्रासाद के विषय में निरूपित है कि विविध आकार वाले गवाक्षों के कारण उसकी शोभा प्रदीप्त हो गई थी ।[68] गवाक्ष और वातायन की चर्चा अन्य पौराणिक

उद्धरणों में भी प्राप्त होती है । मत्स्य पुराण में त्रिपुर के भवनों के सौन्दर्यवर्धक अंगों में गवाक्ष का वर्णन मिलता है ।[69] ब्रह्माण्ड पुराण में भी वातायन का उल्लेख गृह के विभिन्न भागों में किया गया है ।[70]

गृह में सोपान भी शोभावृद्धि में सहायक माने जाते थे । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि विष्णुलोक की नगरी के मध्यभाग स्थित भवनों के सोपान रत्न-जटित थे ।[71] अन्यत्र औतथ्य नामक राक्षसों के महापुर के ऊंचे भवनों में सौ सौ और हजार हजार डगों वाली सीढ़ियां निर्मित होने का वर्णन है ।[72] सोपानों की स्वच्छता पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था । एक प्रसंग में आख्यात है कि सोपान पर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये ।[73] ब्रह्माण्ड पुराण में जमदग्नि की पुरी के प्रासादों को अनेक सोपानों से युक्त बताया गया है ।[74]

गृहों में अलंकरण हेतु पताका फहराने की प्रथा भी प्रचलित थी । विष्णुपुर के प्रासाद के वर्णन में कहा गया है कि चन्द्रमा की किरणों के समान सुप्रकाशमान पताकायें उस पर सुशोभित हैं ।[75] ब्रह्माण्ड पुराण में भी अयोध्या के भवनों को पताका एवं ध्वजा से अलंकृत बताया गया है ।[76] मत्स्य पुराण में त्रिपुर के प्रासादों को अनेक ध्वजा और पताका से युक्त वर्णित किया गया है ।[77]

गृह निर्माण के उपरान्त सम्भवतः कुछ अनुष्ठान भी किये जाते थे जिससे उसकी शुचिता बनी रहे । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में निरूपित है कि जिन भवनों में संस्कार नहीं किये जाते हैं और आचारों के सम्पादन के बिना ही वहाँ रहना प्रारम्भ कर दिया जाता है, उनमें पिशाचों का निवास रहता है ।[78]

आलोचित पुराण में गृह विन्यास के अन्तर्गत उद्यान लगाना भी निहित था । एक स्थल पर शीतांत नामक महागिरि के समीपस्थ देवगृहों के सौन्दर्यवर्धक साधनों में पारिजात आदि वृक्षों वाले उद्यान को महत्वपूर्ण बताया गया है ।[79] विष्णु पुराण

में उल्लिखित है कि सत्यभामा पारिजात वृक्ष को अपने घर का आभूषण मानती थी।[80]

अन्य भवन

आलोचित पुराण के एक स्थल पर निरूपित है कि कैलाश शिखर पर स्थित नगर के मध्य में अनेक स्तम्भों और तोरणों से युक्त तथा स्वर्णमण्डित विपुल नामक सभा भवन है।[81] अन्यत्र तेजोवती नामक अग्नि देव की महा सभा का वर्णन मिलता है। इसी स्थल पर सुसंयमा, कृष्णाङगना, शुभवती, सती, गन्धवती, महोदया, यशोवती नामक अन्य सात महासभाओं का भी उल्लेख किया गया है जो इन्द्र आदि आठ प्रमुख देवताओं की बताई गई है।[82] सभाभवन के निर्माण की परम्परा अन्य पौराणिक दृष्टान्तों में भी दृष्टिगोचर होती है। मत्स्य पुराण में हिरण्यकशिपु की कथा प्रसंग में सभा भवन वर्णित है।[83] ब्रह्माण्ड पुराण में देवी के राजप्रासाद को अनेक सभाओं से युक्त वर्णित किया गया है।[84]

सामान्यतः अन्तःपुर राजप्रासाद के अंगों में परिगणित है परन्तु आलोचित पुराण में इसका उल्लेख राजप्रासाद के सन्दर्भ में न होकर स्वतन्त्र रूप से ही हुआ है। एक स्थल पर वर्णित है कि ग्रामों, नगरों, अन्तःपुरों आदि की स्थापना मनुष्य के द्वारा की गई।[85]

अन्तःपुर का उल्लेख अन्य पुराणों में भी प्राप्त होता है। मत्स्य पुराण में त्रिपुर की योजना में अन्तःपुर के निर्माण का वर्णन है।[86] विष्णु पुराण के अनुसार राजमहिषी रुक्मिणी अन्तःपुरचरा थी।[87]

आलोचित पुराण में वर्णित अन्य भवनों के अन्तर्गत सूतिकागृह, सुनसान पड़े रहने वाले गृह और श्मशानभूमि में निर्मित आश्रय स्थल हैं जिनको पिशाचों का निवास स्थान कहा गया है।[88]

नगरों और गृह विन्यास सम्बन्धी विभिन्न पौराणिक उद्धरणों की विवेचना से ज्ञात होता है कि इसमें शिल्प-शास्त्र विषयक विधानों का निर्वाह किया गया है। अन्य साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के द्वारा भी पौराणिक प्रवृत्ति का समर्थन होता है।

सन्दर्भ

1. वायु पुराण, 8/18-22; 8/47-48

2. ग्रेहम क्लार्क, फ्राम सेवेजरी टू सिविलाइजेशन, पृष्ठ 51,82,86,91.

3. यथायोग्यं यथाप्रीति निकेतेष्ववसन्पुनः ।
   आरब्धास्ते निकेता वै [illegible] कर्तुं [illegible]णम् । वायु पुराण, 8/95-99.

4. विष्णु पुराण, 1/6/16-19; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/46-88.

5. न हि पूर्वं विसर्गे वै विषमे पृथिवीतले ।
   प्रविभागः पुराणां वा ग्रामाणांवाऽपिविद्यते । वायु पुराण, 62/174-178

6. विष्णु पुराण, 1/13/82-83; मत्स्य पुराण, 10/31-35.

7. कर्ता [illegible]णां त्रिदशानां च वास्तुकृत । वायु पुराण, 84/17.

8. विश्वकर्मा सुतस्तस्याजातः शिल्पप्रजापतिः ।
   मानुषाश्चापजीवन्ति यस्य शिल्पानि शिल्पिनः। तत्रैव, 66/29-30.

9. विष्णु पुराण, 4/2/97.

10. मत्स्य पुराण, 5/27-28.

11. चतुर्णामिह दुर्गाणां स्वसमुत्थानि त्रीणि तु ।
    चतुर्थं कृत्रिमं दुर्गं ------------------ ।
    त्रिविधानां च दुर्गाणां पर्वतोदकधन्वनम् । वायु पुराण, 8/108-111.

12. तेषां तत्प्रवेशानि सहस्त्राणि शतानि च ।
    पुराणि संनिविष्टानि पर्वतान्तर्गतानि च । तत्रैव, 48/6-7.

13. सौधोच्च[illegible]प्राकारं सर्वतश्चातकावृतम् ।
    तदेकं स्वस्तिकद्वारं कुमारीपुरमेव च ।
    स्त्रोतसीसंहतद्वारं निरवातं पुनरेव च ।
    हस्ताष्टौ च दश श्रेष्ठा नवाष्टौ वाऽपरे मता: । तत्रैव, 8/109-110.

14. विष्णु पुराण, 1/6/8; ब्रह्माण्ड पुराण, 2/7/105.

15. मत्स्य पुराण, 217/7.

16. वप्राट्टालकसंयुतम् । तत्रैव, 217/8.

17. नगरायोजनं खेटं खेटाद्ग्रामोऽर्धयोजनम् । वायु पुराण, 8/117.

18. खेटखर्वटवाटीषु नगरे नगरे तथा । तत्रैव, 91/29.

19. पुराणि घोषान्ग्रामांश्च पत्तनानि च सर्वशः । तत्रैव, 94/40.

20. परमार्धार्धमायामं प्रागुदक्प्रवणं पुरम् ।
चतुरस्रार्जवं दिक्स्थं प्रशस्तं वै पुरं परम् । तत्रैव, 8/113-114.

21. [illegible] विकर्णं तु व्यञ्जनं कृतसंस्थितम् ।
वृत्तं हीनं च दीर्घं च नगरं न प्रशस्यते । तत्रैव, 8/114.

22. शतयोजन विस्तीर्णा त्रिंशदायामयोजना ।
नित्यप्रमुदिता स्फीता लङ्का नाममहापुरी । तत्रैव, 48/28.

23. सहस्त्रयोजनायामास्त्रिंशद्योजन विस्तराः ।
दश गन्धर्वनगराः समृद्ध्या परया युता । तत्रैव, 41/19-20.

24. तत्रैव, 77/68-70.

25. अथ किष्कुशतान्यष्टौ प्राहुर्श्रेष्ठं निवेशनम् । तत्रैव, 8/116.

26. कृतां द्वारवतीं नाम बहुद्वारां मनोरमाम् । तत्रैव, 86/27.

27. शातकौम्भेन महता प्राकारेणाभिवर्धता ।
द्वारचतुर्भिः सौवर्णैर्मुक्तादाम विभूषितैः । तत्रैव, 101/233-234.

28. सद्रूपां प्रतिमां कृत्वा नगर्यन्ते निवेशय । तत्रैव, 92/39.

29. क्लिष्टप्रवेशैः नगरैः -------------- । तत्रैव, 39/34.

30. गुहाप्रख्यां नगरं --------------- । तत्रैव, 41/55.

31. पाण्डुरे चारुशिखरे महाप्राकारतोरणे ।
विद्याधरपुरं तत्र महाभवनशालिनः । तत्रैव, 39/60.

32. धर्मशालाऽपि बहुला वायुस्थाने महापुरे । तत्रैव, 59/127.

33. अपस्करं परीवाहं पदमात्रं समन्ततः । तत्रैव, 8/122.

34. ------------- उद्यानमालाभितम् । तत्रैव, 40/9.

35. उद्यानमालाकलितं ------------- । तत्रैव, 41/53.

36. आयतं चतुरस्त्रं वा वृत्तं वा कारयेत्पुरम् । मत्स्य पुराण, 217/12

37. महोद्यानां महावप्राम् । विष्णु पुराण, 5/23/14.

38. प्राकारः प्रथमः प्रोक्तः -------- । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/31/34.

39. चतुर्द्वारसमायुक्तम् । तत्रैव, 2/32/9.

40. महोद्यानां ------------ । विष्णु पुराण, 5/23/14

41. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/31/54-55.

42. एते पंच महाशृंगाः रक्षन्तीव -- गिरिव्रजम् । सभापर्व, 21/3.

43. ब्राह्मैन्द्रयाम्यसैनापत्यानि द्वाराणि ।
अर्थशास्त्र, (श्याम शास्त्री, संपादित) पृष्ठ 52, 54, 56.

44. जलनिधिनेव रसातलगभीरेण परिखा वलयेन परिवृता ।
कैलासगिरिणेव ------- प्राकारमण्डलेन परिवृता ।
कादम्बरी, पूर्व भाग, पृष्ठ 102.

45. उद्यानाम्रवणोपेताम् । रामायण, बालकाण्ड, 5/12

46. धनूंषि दश विस्तीर्णः श्रीमान्राजपथः स्मृतः ।
नृणां विरथनागानाम संबाधः सुसंचरः । वायु पुराण, 8/118-119.

47. विष्णु पुराण, 5/9/12-13.

48. असंस्पृष्टोपलिप्तानि संस्कारैर्वर्जितानि ।
राजमार्गोपरथ्याश्च निष्कुटा------ च । वायु पुराण, 69/283.

49. समुत्सृजेद्राजमार्गे च । मत्स्य पुराण, 227/175.

50. धनूंषि चैवचत्वारि शाखारथ्यास्तु तैः कृताः ।
गृहरथ्योपरथ्याश्चद्विकाश्चा---रथ्यकाः । वायु पुराण, 8/120.

51. तस्योपरि महारथ्या प्रांशुप्राकारतोरणा ।
नरनारीगणा--ीर्णा स्फीता विभवविस्तरैः । तत्रैव, 38/13.

52. पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् कारयेन्नृपः । शुक्रनीतिसार, 1/268.

53. ह्वीलर, दी इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ 36;
मार्शल, तक्षशिला, भाग 1, पृष्ठ 114;
एक्सकेवेशंस एट कौशाम्बी, पृष्ठ 40.

54. --- चतुष्पथे ---- न चाऽऽस्मातः कदाचन । वायु पुराण, 11/33-34.

55. ------- चतुष्पथरताय च । तत्रैव, 30/219.

56. --- सोपानदेवालय चत्वरेषु --- । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/27/11.

57. वायु पुराण, 8/124-125.

58. --- गुहाणि रुचिराणि च । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/14/14.

59. -- महाभवनमण्डिते -- पुरं गरुडपुत्रस्य सुनाभस्य महात्मनः ।
पिशाचके गिरिवरे हर्म्यप्रासाद मण्डितम् । वायु पुराण, 39/56-57.

60. प्रसीदति मनस्तासुमनः प्रसादयन्तिताः । तत्रैव, 8/127.

61. तत्रैव, 48/27-29.

62. महाभवनमालाभिः शोभिता देवनिर्मिताः । तत्रैव, 40/6.

63. स्तम्भोच्छ्रयादि कर्तव्यमन्यथा परिवर्जयेत् । मत्स्य पुराण, 253/10.

64. नैकरत्नार्पितलमनेकस्तम्भसंयुतम् । वायु पुराण, 34/79.

65. मणिरत्नार्पित स्तम्भः --- । तत्रैव, 34/67.

66. निर्यूहवलभी चित्रा --------। तत्रैव, 48/27.

67. [illegible]गवाक्षाणि मणिजालान्तराणि च । तत्रैव, 45/38.

68. गवाक्षविविधाकारैः [illegible]धिवासितम् । तत्रैव, 101/251.

69. सकपाटगवाक्षाणि ------ । मत्स्य पुराण, 140/55.

70. वातायनेषु --- । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/21/16.

71. वज्रस्फटिकसोपान -- । वायु पुराण, 54/38.

72. तत्रैव, 40/17-18.

73. न सोपाने --- मेल्येत् । तत्रैव, 27/30.

74. स राजमार्गाभिषशोधमद्मसोपान --- । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/27/11.

75. चन्द्ररश्मिप्राकाशाभिः पताकाभिरलंकृतम् । वायु पुराण, 101/251.

76. --- पताकाध्वजमालिनीम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/55/15.

77. बहुध्वजपताकानि ---- । मत्स्य पुराण, 130/17.

78. --- अनाचारोषितानि --- संस्कारैः वर्जितानि च । वायु पुराण, 69/282.

79. क्रीडावनं महेन्द्रस्य सर्वकामगुणैर्युतम् ।
पारिजातकपुष्पाणां --------- । तत्रैव, 39/10.

80. विष्णु पुराण, 5/30/34.

81. तस्य मध्ये सभा रम्या नानाकनकमण्डिता ।
विपुला नाम विख्याता विपुलस्तम्भतोरणा। वायु पुराण, 41/5.

82. सा हि तेजोवती नाम हुताशस्य महासभा । तत्रैव, 34/81-92.

83. ---- शुभ्रां [illegible]श्मिाः सभां । मत्स्य पुराण, 161/38.

84. सिंहासनसभां चैव नवरत्नमयीं शुभाम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/14/12.

85. ---- तथैवान्तःपुराणि च । वायु पुराण, 8/100.

86. इदमन्तःपुरस्थानं ------- । मत्स्य पुराण, 130/4.

87. अन्तःपुरचरां देवीं रुक्मिणीं --- । विष्णु पुराण, 5/24/25.

88. --- वै सूतिकागृहसेविनः ।
शून्यागाराश्रयाः ---- ।
--- श्मशानायतनास्तथा । वायु पुराण, 69/273-277.

द्वितीय खण्ड

धार्मिक गठन

वायु पुराण का सामान्य एवं विशेष सर्वेक्षण

पौराणिक शोध प्रक्रिया में कभी यह प्रश्न उठा था कि पुराण धार्मिक ग्रन्थ है अथवा नहीं। इस प्रश्न के द्विद उत्तर प्रस्तावित किये गये। एक मत के अनुसार पुराणों में धार्मिक तत्वों का समाहार प्रारम्भिक स्तरों से होता रहा और इस मत का समर्थन किया गया आचार्य बलदेव उपाध्याय के द्वारा।[1] उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पुराण विमर्श' में इस मत के विशदीकरण की चेष्टा की है। उनकी धारणा है कि प्राचीनतम पुराण में सृष्टि और प्रलय के अतिरिक्त धर्मशास्त्र से सम्बन्धित विषयों की सत्ता अवश्यमेव थी किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पुराण, जहाँ तक इनके मौलिक रूप का प्रश्न है, प्रारम्भ में धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थ थे परन्तु आगे चलकर उत्तरकालीन संकलनकर्ताओं की वैयक्तिक अभिरुचि के कारण तथा नवोदित धार्मिक उद्वेलन के फलस्वरूप इन्हें धार्मिक ग्रन्थ बनाया गया।

अमरकोश (चतुर्थ श0ई0) में जिस पुराण पञ्चलक्षण की परिभाषा प्राप्त होती है उसके आधार पर पार्जीटर ने (1) सर्ग (2) प्रतिसर्ग (3) वंश (4) मन्वन्तर और (5) वंशानुचरित को ही पुराणों का वर्ण्य विषय स्वीकार किया है।[2] एक प्राचीन पौराणिक विवरण के अनुसार पुराण का पाँचवाँ लक्षण भूमि संस्थान का निरूपण है।[3] इस सन्दर्भ में राय का मत है कि पञ्चलक्षण पुराण विषय का मापदण्ड नहीं था और इससे केवल पुराण संरचना की शैली ही व्यक्त होती थी न कि पुराण विषय का सीमा निर्धारण।[4] प्रस्तुत प्रसंग में पं0 राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ ने पुराण पञ्चलक्षण की एक अन्य परिभाषा की ओर ध्यान आकर्षित किया है जो सामान्यतः प्रचलित पौराणिक पञ्चलक्षण की परिभाषा से भिन्न है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में जयमंगला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक प्रमाणस्वरूप लिया है –

> सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्षप्रयोजनम्।
> ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्।।[5]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसी श्लोक के आधार पर अपने मत की पुष्टि की है कि धर्म पुराण का अविभाज्य लक्षण था । इसी की पुष्टि के संदर्भ में पुसाल्कर और हाज़रा जैसे विद्वानों ने पुराणों में धार्मिक विषयों का समायोजन उत्तरकालीन पौराणिक संकलन का ही परिणाम माना है ।[6] प्रो॰ राय का मत है कि जयमंगला के व्याख्याकार ने जिस ग्रन्थ को इस सम्बन्ध में विश्वसनीय माना है, उसके नाम और समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना दुष्कर है । इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में भी प्रमाणों का अभाव है । इसकी भी सम्भावना है कि उक्त श्लोक की रचना उस समय हुई थी जबकि पुराणों के अतीतकालीन स्वरूप में परिवर्तन आ चुका था और उन्हें धर्मपरक ग्रन्थों की श्रेणी में रखा जाने लगा था । स्वयं पुराण ग्रन्थों में इस तथ्य का प्रमाण मिल जाता है कि जिस समय इनमें धार्मिक विषयों का सन्निवेश किया जा रहा था, पञ्चलक्षण की प्राचीन परिभाषा में भी सम्यक् वृद्धि करने की चेष्टा की जा रही थी । दृष्टान्तस्वरूप, विष्णु पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के वर्णन का विषय विष्णु का गौरव गान कहा गया है। जिस अध्याय में यह श्लोक वर्णित है, उसमें अठारह पुराणों का उल्लेख किया गया है और इसी आधार पर श्लोक के उत्तरकालीन होने की सम्भावना की पुष्टि हो जाती है ।[7] उपरोक्त विवेचन के पश्चात् दूसरा मत सबल बन बैठता है कि पुराणों में धर्म को कालान्तर के स्तरों पर ही समाहित किया गया ।

जहाँ तक वायु पुराण का प्रश्न है, अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु मौलिक स्थल इसमें यत्र तत्र संकलित अवश्य प्राप्त होते हैं । इसके साथ ही इस ग्रन्थ के धार्मिक अनुशीलन में एक विशेष कठिनाई सामने आती है । अपने उपलब्ध रूप में वायु पुराण शैवपरक प्रतीत होता है । विद्वानों की समीक्षा के अनुसार वायु और ब्रह्माण्ड पुराण वर्तमान समय में मूल वायुप्रोक्त पुराण के शैव और वैष्णव संस्करण दृष्टिगोचर होते हैं ।[8] इस मूल ग्रन्थ को 'वायुप्रोक्तं पुराणम्' अथवा 'पवमानप्रोक्तं पुराणम्' जैसे विशेषणों से अन्य ग्रन्थों में सम्बोधित किया गया है । दोनों पुराणों के अध्याय परिशिष्टों में भी इन्हें वायुप्रोक्त कहा गया है तथा इनकी पारस्परिक

समानता केवल वर्णन तक सीमित नहीं है वरन् अध्यायों के दृष्टिकोण से भी यह दोनों एक ही मूल पुराण से विनिःसृत प्रतीत होते हैं। इसी आधार पर डा० किर्फेल का कथन है कि पौराणिक परम्परा के पूर्ववर्ती स्तर पर दोनों एक ही पुराण में अन्तर्निविष्ट थे।[9] इसके अतिरिक्त पौराणिक अनुसन्धान प्रक्रिया में सर्वप्रथम पार्जीटर ने इस तथ्य का निर्देश किया था कि वायु और ब्रह्माण्ड पहले एक ही थे परन्तु बाद में मूल वायु पुराण से प्रभिन्न होकर एक नवीन पुराण प्रकाश में आया जिसे ब्रह्माण्ड पुराण के नाम से ख्याति मिली।[10] हाज़रा आदि विद्वान् भी इस मत से सहमत हैं।[11] मौलिक वायु पुराण के इन दोनों शाखाभूत ग्रन्थों में संकलनकर्ताओं की शैवात्मक (वायु) और वैष्णवात्मक (ब्रह्माण्ड) रुचि अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त हुई है।

आलोचित पुराण की मान्यता शिवमहात्म्य प्रतिपादक पुराण के रूप में है और स्थान स्थान पर शैवोपासना से सम्बन्धित श्लोक प्राप्त होते हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ही महादेव ईशान को नमस्कार किया गया है। नारदीय पुराण के अनुसार वायवीय पुराण रुद्र की महिमा का प्रतिपादक है। वास्तव में शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। पशुपति की पूजा से सम्बद्ध पाशुपत योग का निरूपण वायु पुराण की महती उपलब्धि है। अन्य किसी भी पुराण में पाशुपत योग की इतने विस्तार से चर्चा नहीं की गई है। 30वें अध्याय में दक्ष प्रजापति द्वारा शिव की स्तुति अत्यन्त सुन्दर रूप में की गई है। यहाँ तक कि प्रस्तुत पुराण के संकलनकर्ता ने ग्रन्थ का सम्बन्ध भी महेश्वर से बताया है (महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम्)। अतः शिव के गौरव वर्णन और उपास्य तत्व पर विशेष बल देने के कारण इसे शैवात्मक माना जाता है।

शैवपरक प्रवृत्ति के विषय में अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि आलोचित पुराण में इसका संयोजन उत्तरकाल में साम्प्रदायिक प्रेरणा से ही किया गया। हाज़रा महोदय का मत है कि पाशुपत योग का निरूपण ब्रह्माण्ड पुराण में अनुपलब्ध है जो मूल वायुपुराण का रूपान्तर माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन अध्यायों में सुनिर्धारित

उस वर्णन योजना का अभाव है जो एक ही समय में एक ही संकलनकर्ता द्वारा प्रणीत होने पर सम्भव होती है ।[12] सम्भवतः आरम्भिक स्तर पर प्रस्तुत पुराण में दैवी समन्वयवाद को ही निरूपित करने का प्रयत्न किया गया लेकिन उत्तरकालीन परिस्थितियों में आकार विस्तार के लिये, शिव की उपासना को प्रमुख तथा प्रकाशमय बनाने के लिये और प्रामाणिकता व प्रचार के लिये मार्कण्डेय पुराण से शैव देवतत्वों को उद्धृत कर इसमें संयोजित कर दिया गया ।[13]

आलोचित पुराण में अनेक प्रसंग ऐसे प्राप्त होते हैं जिनसे सम्भावना होती है कि इसमें समय समय पर संशोधन और परिवर्द्धन का प्रयास किया गया । उदाहरणार्थ अध्याय 24 के श्लोक संख्या 103 के अनुसार शिव व्रतों के पालयिता हैं तथा श्लोक संख्या 117 के अनुसार उनमें अहिंसा का सन्निधान है । विचारणीय तथ्य यह है कि व्रतों का निरूपण पुराणों का वर्ण्य विषय नहीं है । हाजरा की समीक्षा के अनुसार पुराणों में व्रत विधानों का समावेश उस समय हुआ जबकि उत्तरवर्ती कालों में उनके स्थलों को प्रचुर मात्रा में परिवर्द्धित कर दिया गया था ।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर अध्याय 27 के प्रथम श्लोक के सम्बन्ध में भी चर्चा की जा सकती है । इस श्लोक की मौलिकता और अध्याय की प्राचीन विद्यमानता पूर्णतः निर्विवाद है क्योंकि ब्रह्माण्ड पुराण में भी यह श्लोक उपलब्ध है । परन्तु वायु पुराण में जो श्लोक का पाठ है वह मौलिक रूप में नहीं है जबकि ब्रह्माण्ड पुराण में इसका मूल रूप सुरक्षित है । दोनों पुराणों के श्लोक इस प्रकार हैं -

अस्मिन् कल्पे त्वया <u>चोक्तः</u> प्रादुर्भावो महात्मनः ।
महादेवस्य रुद्रस्य साधकैर्मुनिभिः सह । वायु पुराण

अस्मिन् कल्पे त्वया <u>नोक्तः</u> प्रादुर्भावो महात्मनः ।
महादेवस्य रुद्रस्य साधकैर्ऋषिभिः सह ॥ ब्रह्माण्ड पुराण

दोनों श्लोकों में <u>चोक्तः</u> और <u>नोक्तः</u> के पाठ में अन्तर है जिसकी अपेक्षा

नहीं की जा सकती है । आलोचित पुराण के सन्दर्भ में इसका अर्थ है कि इस अध्याय के पहले महादेव तथा अन्य साधक मुनियों के अवतार का वर्णन किया जा चुका है । ब्रह्माण्ड पुराण में इसका अर्थ है कि इस अध्याय के पूर्व अभी तक अन्य ऋषियों के साथ महादेव के अवतार का वर्णन नहीं किया गया है । दोनों वर्णनों के औचित्य अनौचित्य की समीक्षा करने पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ से सम्पूर्ण अध्याय की पूर्वपीठिका और पृष्ठा स्पष्ट हो जाती है किन्तु वायु पुराण के पाठ से वर्णन के उपसंहार का निष्पादन हुआ प्रतीत होता है जो अध्याय के आरम्भ में असंगत लगता है । इसके अतिरिक्त दोनों पुराणों में ही उसी अध्याय के अनुवर्ती श्लोकों में शिव के प्रादुर्भाव और उनके साथ अनेक रुद्रों के अवतरण का विवरण दिया गया है । इस दृष्टिकोण से प्रोक्तः की अपेक्षा नोक्तः पाठ ही यथार्थता के निकट है । वायु पुराण के अध्याय 23 में शिव के अवतारों का वर्णन है जो ब्रह्माण्ड पुराण में नहीं है अतः प्रोक्तः का संकेत पूर्ववर्ती अध्याय की ओर ही सम्भव लगता है । इस स्थिति में संगतपूर्ण यही लगता है कि मूल वायु पुराण में नोक्तः पाठ ही था और शिव के अवतारों का उल्लेख नहीं किया गया था । उत्तरकाल में किसी संकलनकर्ता ने अपनी इच्छा से मौलिक अध्यायों में अल्प परिवर्तन द्वारा अपनी शैवात्मक साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का सन्निवेश कर दिया । अतः यह भिन्नता अर्वाचीनकालीन वर्णन संयोजन का ही परिणाम है ।[14] इसी प्रकार आलोचित पुराण में अनेक ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं जिनकी समीक्षा करने से प्रमाणित हो जाता है कि मूल वायुप्रोक्त पुराण के वे अंश नहीं थे और संशोधन व परिवर्धन की प्रक्रिया में उनका समाहार किया गया । उत्तरकालीन अनेक प्रक्षिप्त स्थलों के होते हुए भी वायु पुराण की अतीतकालीन प्रामाणिकता का समापन नहीं हुआ है ।

वास्तव में वायु पुराण की गणना पारस्परिक साक्ष्यों के आधार पर सर्वप्राचीन पुराणों में से एक के रूप में की जाती है ।[15] पुराणों में केवल वायु ही ऐसा पुराण है जिसके अस्तित्व की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में भी की गई है । महाभारत, हरिवंश और बाणभट्ट की दोनों रचनाओं में आलोचित पुराण का उल्लेख है । महाभारत में

वायु पुराण का वर्णन एक विशिष्ट पुराण के रूप में किया गया है, जिसमें प्राचीन राजाओं का उल्लेख विशेष रूप से प्रतिपादित है ।[16] हरिवंश में वायु पुराण को एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता दी गई है । हाप्किंस की समीक्षा के अनुसार हरिवंश एवं वायु पुराण के अनेक स्थलों में शाब्दिक समानता दिखाई पड़ती है ।[17] बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' दोनों ही में वायु पुराण की चर्चा की है। बाण के समय तक लिखित सभी पुराणों में सर्वाधिक प्रामाणिक वायु पुराण ही सम्भवतः था । इसके अतिरिक्त उत्तरकालीन पुराण भी वायु पुराण की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता से अवगत थे जैसा कि नारदीय पुराण के विवरण से स्पष्ट हो जाता है । इसमें आलोचित पुराण के 24 सहस्त्र श्लोकों, इसके दो भागों और पञ्चलक्षणों पर प्रकाश डाला गया है ।[18] आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत किये गये पुराण के श्लोकों से ज्ञात हो जाता है कि वे भी वायु पुराण से परिचित थे । अतएव इस दृष्टिकोण से वायु पुराण को सातवीं श0ई0 से पहले की कृति अवश्य माना जा सकता है ।

अष्टादश महापुराण की तालिका में अठारहवें क्रम पर प्रतिष्ठित ब्रह्माण्ड पुराण को कूर्म पुराण में वायवीय ब्रह्माण्ड का अभिधान देते हुए विख्यात पुराण प्रवक्ता वायु से इसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है ।[19] ब्रह्माण्ड और वायु पुराण का साम्य इस सीमा तक है कि कभी कभी दोनों ग्रन्थ एक ही मूलभूत ग्रन्थ के दो भिन्न नाम प्रतीत होते हैं । विन्टरनित्स ने अपनी विवेचना में निष्कर्ष स्वरूप कहा है कि ब्रह्माण्ड पुराण अपने मूल रूप वायु पुराण का प्रतिसंस्करण मात्र है ।[20] वायु पुराण के समान ही ब्रह्माण्ड पुराण के अध्याय परिशिष्ट में इसे वायुप्रोक्त कहा गया है । मूल वायुप्रोक्त पुराण वायु को माना जाये अथवा ब्रह्माण्ड को, यह निश्चित करना कठिन है । सामान्य रूप से दोनों पुराणों के सम्भावित एकत्व की मान्यता है । मूल वायुप्रोक्त पुराण से इसका पृथक्करण 400 ई0 के लगभग मानना तर्कसंगत लगता है परन्तु पूर्णतः विश्वसनीय नहीं ।

ब्रह्माण्ड पुराण में वैष्णवात्मक धर्म-प्रवण प्रवृत्ति को प्रकाश में लाया गया है । इसके वैष्णव स्वरूप वाले अध्याय वायु पुराण में अनुपलब्ध हैं, परन्तु जहाँ वैष्णव

परक श्लोक हैं उन्हीं प्रसंगों में वायु पुराण में शैव परक प्रवृत्ति का प्रतिपादन मिलता है । अतः मूल वायुप्रोक्त पुराण अपने आदि रूप में न वायु पुराण में और न ही ब्रह्माण्ड पुराण में सुरक्षित है । सम्भवतः ब्रह्माण्ड पुराण का स्रोत अतीतकालीन वायुप्रोक्त पुराण होगा जो वर्तमान समय में अप्राप्त है । इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में वायु पुराण की एक प्रति ऐसी है जिसके प्रसंग, विशेष रूप से राजवंश से सम्बन्धित प्रसंग, वायु पुराण के उपलब्ध संस्करणों से पूर्णतः पृथक है । इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण की पृथक संरचना की पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को उत्तरदायी माना जा सकता है जिसके फलस्वरूप इसे मूल वायुप्रोक्त पुराण के वैष्णव संस्करण के रूप में मान्यता प्राप्त है ।

सर्वप्रथम इसमें विश्व को हरि के रूप का प्रकाशक मानते हुए उनकी स्तुति की गई है । इस पुराण के वर्ण्य विषय का सम्बन्ध भी पद्मनाभ अर्थात् विष्णु से ही निर्धारित किया गया है ।यः पद्मनाभनाम्ना तु सत्कात्सन्येन च कीर्तितः। । यहाँ तक कि ग्रन्थ का सम्बन्ध भी संकलनकर्ता ने नारायण से कर दिया है "नारायणः सर्वमिदं पुराणम्" । इसके अतिरिक्त वैष्णव धर्म के अन्तर्गत इसमें विष्णु के अवतार के तीन स्तर प्रतिपादित किये गये हैं - प्रथम स्तर पर कृष्ण, जिन्हें विष्णु का अंश-अंशावतार कहा है । द्वितीय स्तर पर कृष्ण जो विष्णु के अंशावतार हैं । तृतीय स्तर पर कृष्ण जो स्वयं भगवान् विष्णु हैं अर्थात् आन्तिम रूप में कृष्ण और विष्णु का एकीकरण कर दिया गया है । निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड पुराण का यह प्रसंग वैष्णव धर्म के उस उत्तरकालीन स्वरूप का परिचायक है जब विष्णु और श्रीकृष्ण का उपास्य तत्व परस्पर पूर्णरूपेण पृथक हो चुका था तथा श्रीकृष्ण की कल्पना उस परम-शक्ति के रूप में की जाने लगी थी जो कारण विशेष से प्रेरित होकर अवतार अथवा अंशों में व्यक्त होती है ।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण के वैष्णव संस्करण के विषय में यह सम्भावित लगता है कि वायु पुराण के समकक्ष स्थान देने के लिये और वैष्णव प्रवृत्ति से प्रभावित होकर वायुप्रोक्त पुराण के मौलिक अध्यायों में वैष्णव प्रसंगों का सन्निवेश कर दिया गया ।

धार्मिक सम्प्रदायों की प्रेरणा से वायु पुराण में शैव और ब्रह्माण्ड पुराण में वैष्णव स्थलों के अध्याय संयोजन, श्लोक संयोजन तथा शब्द संयोजन द्वारा परिवर्तन और विस्तार किया गया ।

जहाँ तक वायु पुराण के वैष्णव धर्म से सम्बन्धित स्थलों की समीक्षा का प्रश्न है, इस दिशा में निम्नांकित शीर्षकों से संयुक्त अनुच्छेदों के अन्तर्गत आलोचित पुराण में निरूपित तथ्यों को प्रस्तावित किया जा सकता है -

विष्णु की वरीयता एवं आदरणीयता की परिकल्पना

प्रस्तुत पुराण के अनेक विवेचित प्रसंगों में विष्णु को सर्वोच्च स्थान देते हुए महिमान्वित किया गया है । उन्हें कार्य, कारण, अन्तरिक्ष, भूमि, स्वर्ग आदि सभी का प्रभु बनाते हुए परम पद कहा गया है ।[21]

महायशस्वी विष्णु को विश्वेश, प्रभु तथा सभी लोकों के कर्ता की उपाधि दी गई है ।[22] इन्हें सहस्त्र चरणों वाला, सहस्त्र नेत्रों वाला, सहस्त्र शिरों वाला एवं दिव्य गुण सम्पन्न कहा गया है । यह भी उल्लेख मिलता है कि परम परमात्मविशिष्ट विष्णु पुराणों में पुण्यात्मा के नाम से प्रशंसित है ।[23]

आलोचित पुराण में प्राप्त होने वाली यह भावना विष्णु की ऋग्वैदिक स्थिति में परिवर्तन की परिचायक है क्योंकि ऋग्वेद में विष्णु की अपेक्षा इन्द्र, वरुण अग्नि जैसे देवों की प्रशंसा में अधिक छन्द प्राप्त होते हैं ।[24] इसमें विष्णु को जो स्थान प्राप्त है वह भी इन्द्र की महत्ता से अभिभूत है । इन्द्र की प्रेरणा से ही विष्णु भी सोम पान करते हैं और असुरों के धन का अपहरण करते हैं ।[25] सम्भवतः उत्तरवैदिक काल में विष्णु को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हो चुकी थी जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के साक्ष्य से प्रमाणित होता है - विष्णु को सभी देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है ।[26]

अन्य वैदिक देवताओं की तुलना में पौराणिक विष्णु की सर्वोच्चता

इन्द्र और विष्णु

ऋग्वेद में विष्णु की अपेक्षा इन्द्र का महात्म्य अधिक दर्शाते हुए उन्हें श्रेष्ठ स्थान दिया गया है । परन्तु वैदिक परम्परा के विपरीत पौराणिक स्थलों पर विष्णु का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि दैत्यों के समूहों से चारों ओर घिरे हुए अत्यन्त उद्विग्न इन्द्र की विष्णु ने रक्षा की और स्वर्ग के आधिपत्य पर पुरुहूत इन्द्र को प्रतिष्ठित किया ।[27]

सूर्य और विष्णु

अन्य अनेक वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों की भाँति सूर्य की अपेक्षा विष्णु की महत्ता इस पुराण में भी स्वीकार की गई है । 70वें अध्याय में वर्णा की गई है कि जब लोक पितामह विभिन्न देवों को राज्य वितरण करने लगे, उस समय उन्होंने आदित्यों का आधिपत्य विष्णु को दे दिया ।[28] ऋग्वेद में भी इसी प्रसंग से समानता रखने वाले विवरण प्राप्त होते हैं । एक स्थल पर इन्द्र और विष्णु की सहशक्ति सूर्य की उत्पादिका मानी गई है ।[29] अतएव पौराणिक प्रसंगों में विष्णु को आदित्यों के अधिपति निर्धारित करने से विष्णु की श्रेष्ठता स्वतः प्रमाणित हो जाती है ।

वायु पुराण में अग्नि, वरुण, पूषा, अश्विन, मरुत, साध्य, विश्वदेवता आदि समस्त वैदिक देवताओं का अस्तित्व भी विष्णु के समक्ष नगण्य बताया गया है जो विशिष्ट धार्मिक परिवर्तन का द्योतक है ।

रुद्र और विष्णु

रुद्र की वैदिक स्थिति में प्रस्तुत पुराण में पूर्णतः परिवर्तन दिखाई पड़ता है और उन्हें महान् देवता के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है । महेश्वर को परम देवता मानकर कहा गया है कि विष्णु में परम तत्व की प्रतिष्ठा है लेकिन उनका स्थान महेश्वर के उपरान्त आता है ।[30]

इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर रुद्र और विष्णु दोनों देवों की समानता भी प्रतिपादित की गई है। नैमिषारण्य के ऋषि वायु से प्रश्न करते हैं कि जब सभी देवता विष्णुमय हैं; विष्णु के समान कोई अन्य गति नहीं है तो विष्णु रुद्र को प्रणाम क्यों करते हैं? विष्णु और रुद्र में प्रेमभाव किस प्रकार हुआ?[31] इस स्नेह सम्बन्ध का कारण मेघवाहन नामक कल्प बताया गया है जिसमें विष्णु ने मेघ के रूप में सैकड़ों वर्ष तक पर्वततनधारी महादेव को धारण किया था।[32] एक अन्य प्रसंग में दोनों देवों की समानता पर और अधिक प्रकाश डाला गया है। इस वर्णन में विष्णु शिव से वर-दान माँगते हैं और वरदान देने के पश्चात् शिव विष्णु के प्रति स्नेह व्यक्त करते हैं।[33]

वायु पुराण में शैवपरक स्थलों की प्रचुरता होते हुए भी कुछ ऐसे प्रसंग भी उपलब्ध हैं जहाँ पर शिव की तुलना में विष्णु को अधिक सम्माननीय पद दिया गया है। सम्भवतः विष्णु को यज्ञविधि के कारण वरिष्ठता प्रदान की गई। एक स्थल पर दक्ष के यज्ञ के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट देवता के निर्धारण के विषय पर विवाद की चर्चा है। दधीचि महादेव को सर्वोपरि बताते हैं किन्तु स्वयं दक्ष विष्णु को सर्वोच्च स्थान देकर उन्हें प्रभु, विभु और अप्रतिम बताते हुए यज्ञ के आराध्य देवता निश्चित करते हैं।[34] यह उल्लेखनीय तथ्य है कि वैदिक काल में विष्णु की यज्ञीय महत्ता निर्विवाद रूप से मान्य थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवों द्वारा आयोजित एक यज्ञ में विष्णु को उनके तप आदि श्रेष्ठ कार्यकलापों के कारण प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया था।[35]

विष्णु का तृतीय अथवा परम पद

पौराणिक वर्णनों में विष्णु का तृतीय पद भास्वर माना गया है जिसे वैदिक परम्परा का प्रभाव माना जा सकता है। आलोचित पुराण के पूर्वोक्त प्रसंग में कहा गया है कि सप्तर्षि मण्डल के ऊपर ध्रुव तक विष्णुपद है। इस पद तक जो व्यक्ति पहुँचते हैं, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती और लोक के साधक ध्रुव आदि इसी विष्णु पद के आश्रित होकर अचल रहते हैं।[36] इसी से साम्य रखने वाले विवरण

ऋग्वेद में भी उपलब्ध हैं जिसमें उल्लेख किया गया है कि विष्णु के परम पद में मधु का स्त्रोत है । इससे स्ववासी सुख प्राप्त करते हैं ।[37] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विष्णु का परम पद आकाश (टीकाकार हरिस्वामी ने 'दिवि' का अर्थ आकाश माना है । 'सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट' में इसका अर्थ स्वर्ग माना गया है ।) में आँख के समान संयुक्त है, इसे केवल प्रज्ञावान् व्यक्ति ही देख पाते हैं ।[38]

विष्णु के तीन पदों का उल्लेख भी आलोचित पुराण में मिलता है जिसके अनुसार केवल अपने तीन पगों द्वारा उन्होंने समस्त लोकों को जीतकर त्रिलोक का राज्य समस्त देवताओं के साथ इन्द्र को अर्पित किया ।[39] शतपथ ब्राह्मण में भी इसी के समकक्ष प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनमें कहा गया है कि विष्णु के तीन पदों का विन्यास वह विजय है जिसके फलस्वरूप उन्होंने देवताओं को अपरिमेय अधिकार प्रदान किया ।[40] पौराणिक भावना भी इसी परम्परा के समीप रखी जा सकती है जबकि ऋग्वेद में भी विष्णु के तीन पदों की चर्चा की गई है ।[41]

विष्णु की सर्वविद्यमानता

आचार्य सायण ने विष्णु शब्द का अर्थ व्यापनशील माना है ।[42] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में वर्णित है कि विष्णु के विशाल विक्रम में सर्वलोक समाविष्ट हैं ।[43] प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति प्रवेशन के अर्थ में प्रयुक्त 'विश्' धातु से मानी गई है । अखिल जगत उन्हीं की शक्ति से आच्छादित है अतः उन्हें विष्णु की संज्ञा दी गई है ।[44]

वैष्णव धर्म का स्वरूप निर्धारण - विष्णु और नारायण का एकात्म्य

विष्णु और नारायण की एकरूप कल्पना से वैष्णव धर्म के विकास को प्रोत्साहन मिला । इस पुराण में शिव स्वयं विष्णु का गुणगान करते हुए समस्त विश्व को रुद्र तथा नारायण अर्थात् विष्णु से युक्त बताते हैं ।[45] एक अन्य स्थल पर विष्णु को नारायण नाम दिया गया है और उन्हें एकमात्र साधनीय बताया गया है ।[46] नारायण

सम्बन्धी यदि प्राचीनतम भावना के मूलस्त्रोत की खोज की जाये तो बीज रूप में इसकी चर्चा ऋग्वेद में भी हुई है । एक छन्द में उस प्रथम जल का उल्लेख है जिसमें स्वयम्भू उपस्थित थे, जिन्होंने सम्पूर्ण जीवों को धारण किया था ।[47] भण्डारकर की धारणा है कि स्वयम्भू यहाँ पर नारायण का परिचायक है । शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में नारायण में ही सभी लोक, देव, वेद तथा प्राण की प्रतिष्ठा मानी गई है ।[48] यही परम्परा स्मृतियों के काल में भी दृष्टिगोचर होती है । विष्णु स्मृति में विष्णु की स्तुति करती हुई पृथ्वी उन्हें नारायण के नाम से सम्बोधित करती है ।[49]

<u>विष्णु और वासुदेव कृष्ण का संयोजन</u>

वायु पुराण के कुछ प्रसंगों में विष्णु और वासुदेव कृष्ण की एकता स्थापित की गई है । इस तादात्म्य से वैष्णव धर्म रूपरेखा निर्धारित करने में सहयोग मिला । एक प्रसंग में वासुदेव कृष्ण के रूप में विष्णु द्वारा अवतार लिये जाने का उल्लेख है ।[50] महातेजस्वी देवदेव प्रभु भगवान् नारायण विहार करने के लिये मनुष्य योनि में कृष्ण के रूप में अवतरित होते हैं । वे नारायण भगवान् कृष्ण अव्ययात्मा एवं समस्त चराचर सृष्टि के विधायक हैं । वे कमलनेत्र, दिव्य स्वरूप, चतुर्भुज भगवान् अपनी सम्पूर्ण कान्ति से समन्वित होकर वसुदेव की परम तपस्या के फलस्वरूप देवकी के गर्भ से उत्पन्न होते हैं ।[51] इस प्रकार के स्थलों समीक्षा के परिणामस्वरूप स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक वर्णनों में अव्यक्त, शाश्वत प्रभु नारायण हरि की श्रीकृष्ण के रूप में एकता स्थापित की गई थी । निस्सन्देहात्मक रूप से यह भावना वेदोत्तरवर्ती साहित्य में स्थापित की गई । महाभारत के शान्तिपर्व में श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए युधिष्ठिर उन्हें विष्णु के रूप में देखते हैं; यह दृष्टान्त मिलता है ।[52] अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि वासुदेव के उपासक वासुदेवक कहलाते थे ।[53] विष्णुस्मृति में वासुदेव और विष्णु का एकीकरण करके उनके ध्यान करने का आदेश दिया गया है ।[54]

<u>भक्ति</u>

विष्णु की उपासना से सम्बन्धित 'भक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है ।

इसी पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि विष्णु का आयतन निषद पर्वत पर है । इस आयतन में पीताम्बर धारण कर विष्णु निवास करते हैं । वहाँ उनकी सेवा सिद्ध और ऋषियों द्वारा सम्पन्न होती है । वे सनातन हैं, सृष्टि के कर्ता हैं तथा वर देने वाले हैं ।[55] इसी विवरण से समानता रखने वाले स्थल मत्स्य और विष्णु पुराण में भी उपलब्ध हैं जिनमें सामान्यतः विष्णु का निवासस्थान समुद्र ही बताया गया है ।

इसके अतिरिक्त 'भक्ति' के विषय में यहाँ उल्लेखनीय है कि बीज रूप में इसका आविर्भाव ऋग्वेद के समय में हो चुका था । ऋग्वेद के ऋषि द्यौस को अपना पिता और अदिति को अपनी माता बताते हैं ।[56] उपनिषदों में पुनः भक्ति की भावना प्राप्त होती है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस देव आश्रय की कामना की गई है जो ब्रह्मा की रचना कर उसे वेद प्रदान करता है । और जो बुद्धि का प्रकाशक है ।[57] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी देवोपासना की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है ।[58] उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी भक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त होती है । महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित है कि श्रीकृष्ण को किया गया एक प्रणाम भी दस अश्वमेध यज्ञों के तुल्य है ।[59] हरिवंश के अनुसार सत्वगुण में स्थित होकर सदैव हरि का ही ध्यान करना चाहिये ।[60] आलोचित पुराण में विष्णु भक्ति का स्थूल स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है जो वैदिक परम्परा के समीप है । ऋग्वेद में विष्णु को 'गिरिष्ठा' और 'गिरिक्षित' जैसे विशेषण दिये गये हैं ।[61] स्थूल रूप धारण करने वाले विष्णु के पर्वत और पयोधि दो आवासों का उल्लेख मिलता है और सम्भवतः इन ऋग्वैदिक पंक्तियों का संकेत भी इसी ओर है । परन्तु अन्य पौराणिक प्रसंगों में की गई चर्चा वैदिक परम्परा में परिवर्तन की ही परिचायक है । तथा वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों मे समानता रखती है ।

विष्णु के अवतार का प्रयोजन

पुराण के प्रधान विषयों में अवतार-तत्व अन्यतम है । अतः कौन से इस अवलोक

से इस अधोलोक में भगवान् का उतर कर आना ही अवतार पद वाच्य होता है । अवतार की आवश्यकता के समर्थक अनेक पौराणिक वचन भी प्राप्त होते हैं । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने श्रीमद्भागवदगीता के इस श्लोक को अवतारवाद का मौलिक तथ्य प्रकट करने वाला कहा है -

यदा यदा धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय च साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

गीता 4/3-4

उनकी धारणा है कि इन्हीं वचनों का प्रभाव पौराणिक परम्परा पर भी दृष्टिगोचर होता है ।[62] आलोचित पुराण में भी वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों से मिलते जुलते प्रसंग प्राप्त होते हैं । एक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि जब युगधर्म का ह्रास हो जाता है और उसके प्रभाव शिथिल हो जाते हैं । उस समय वे महामहिमामय भगवान् भृगु के शापवश देवासुरों के संघर्ष की शान्ति के लिये एवं धर्म की व्यवस्था के लिये मृत्युलोक में उत्पन्न होते हैं ।[63] एक अन्य स्थल पर विष्णु के अवतार का कारण धर्म की स्थापना और असुरों का विनाश बताया गया है ।[64] इसके अतिरिक्त युगान्त के अवसर पर देवताओं के कार्यों को पूर्ण करने के लिये विष्णु उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार की चर्चा भी वायु पुराण में प्राप्त होती है ।

प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि भक्तों के उपकार करने वाले, इच्छानुरूप विचरण करने वाले, जितेन्द्रिय, विष्णु लोक में बालरूप धारण करके क्रीडा करते हैं, उनका रूप-विस्तार अप्रमेय है ।[65] यहाँ उनके मायावश अवतार ग्रहण की भावना का समर्थन मिलता है । इसी से समानता रखने वाले स्थल मत्स्य और विष्णु पुराण में भी उपलब्ध हैं जिनमें विष्णु को प्रत्येक युग में मायावश अवतार लेने वाला

कहा गया है ।[66] उपनिषदों में भी विष्णु तथा अन्य देवतागणों के मायावश अवतार लेने की भावना का समर्थन मिला है ।

<u>अवतार तत्त्व का उदय, विस्तार और वैदिक परम्परा का उस पर प्रभाव</u>

अवतार तत्त्व का बीज वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है । ऋग्वेद के मन्त्रों में इन्द्र को अपनी माया के द्वारा नाना रूपों के धारण करने का तत्त्व प्रतिपादित किया गया है -

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥
> 6/47/18.

इस मन्त्र में इन्द्र मायाओं के द्वारा विविध रूप धारण करने वाले बताये गये हैं । इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में अग्नि का एकीकरण वरुण, मित्र और अर्यमन् से किया गया है ।[67] तत्पश्चात् देवता का तादात्म्य देवेतर योनि से भी स्थापित किया गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में अवतार सम्बन्धी धारणायें अपेक्षाकृत विकसित अवस्था में मिलती हैं जिनके अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह का तथा विष्णु ने वामन का अवतार लिया था ।[68] शतपथ ब्राह्मण के एक स्थान पर वर्णित है कि प्रजापति ने कूर्म का रूप धारण कर प्रजा की रचना की ।[69] प्रजापति के वराह रूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी मिलती है । प्रारम्भ में इन अवतारों का सम्बन्ध अधिकांशतः प्रजापति के साथ था परन्तु जैसे जैसे विष्णु की श्रेष्ठता व्यापक होती गई और लोकसृजन, लोकरक्षक, लोकसंहार की कल्पना उसके व्यक्तित्व में समाविष्ट कर दी गई । इसके साथ ही विष्णु के स्वरूप में अवतार वादी दृष्टिकोण भी संयुक्त कर दिया गया । वामन अवतार के विषय में कहा जा सकता है कि प्रारम्भ से ही इसका सम्बन्ध विष्णु से था । ऋग्वेद में विष्णु 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' के विशेषणों से मण्डित किये गये हैं और तीन पगों में पृथ्वी को माप लेना (विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः) उनका विशिष्ट कार्य माना गया है । इसके अतिरिक्त

शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन होने की विस्तार से कथा दी गई है । ब्राह्मण साहित्य के युग तक अवतारवाद विद्यमान अवश्य था परन्तु न तो उस समय विष्णु का प्राधान्य था और न ही अवतारों की उपासना प्रचलित थी । वासुदेव कृष्ण के विष्णु के अवतार होने की कल्पना का उदय आरण्यक काल में हो गया था । जब तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक 10, अनुवाक 1/6) उनकी गायत्री इस मन्त्र में दे रहा है -

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि ।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥[70]

अवतारवाद के विकासक्रम में श्रीमद्भगवद्गीता के युग तक (ई०पू० चतुर्थ-पंचम शती) पहुँचकर अवतार तत्त्व वैष्णव धर्म का महत्वपूर्ण अंग बन गया ।

आलोचित पुराण में विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख मिलता है । प्रथम तीन सम्भूतियाँ देवयोनि की मानी जाती है । प्रथम सम्भूति के विषय में उल्लिखित है कि असुरों के अत्याचार के युग में वाराह के रूप में समुद्र के मध्य में प्रादुर्भूत हुए और अपनी दाढ़ों से पृथ्वी को समुद्र से निकालकर उसका उद्धार किया । दूसरा अवतार हिरण्यकशिपु के वध के लिये नरसिंह रूप धारण करके ग्रहण किया । ऐश्वर्यशाली भगवान् विष्णु का तृतीय अवतार वामन का था जिसे उन्होंने तीनों लोकों के एकमात्र अधीश्वर बलि से तीन पगों में स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी तीनों लोकों को दान में माँगकर असुरों के भय से मुक्त किया था । मनुष्य योनि में जो उनकी सात सम्भूतियाँ हैं, उनके विषय में प्रस्तुत पुराण में कहा गया है कि चतुर्थ अवतार दत्तात्रेय का था जिसे धर्म के पुनरुत्थान के लिये ग्रहण किया था । पाँचवाँ अवतार चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता के रूप में था । छठा अवतार जमदग्नि के पुत्र क्षत्रिय कुलसंहारक परशुराम के रूप में था । रावण के विनाशार्थ दशरथपुत्र रामचन्द्र के रूप में उन्होंने सातवीं बार जन्म ग्रहण किया । आठवाँ अवतार वेदों के विस्तार के लिये वेदव्यास के रूप में धारण किया । नवीं बार देवकी के गर्भ से वसुदेव पुत्र होकर कंस के वध

और अधर्म के विनाश के लिये उत्पन्न हुए। भगवान् विष्णु के ये अवतार लोक रक्षा हेतु हुए। कलियुग के सन्ध्यांश में वे कल्कि नामक अवतार धारण करेंगे जो उनका दसवाँ अवतार होगा।

आलोचित पुराण में विष्णु का प्रथम अवतार वराह माना गया है जबकि अन्य पौराणिक वर्णनों में मत्स्य को प्रथम अवतार के रूप में मान्यता प्राप्त है। जिस पृथ्वी पर अन्य अवतारों का लीला विलास सम्पन्न होता है, उसी पृथ्वी के उद्धारकर्ता अवतार को प्रथम अवतार की श्रेणी में रखना सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विष्णु के आद्य तीन अवतारों वराह, नरसिंह, वामन का मूल वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, और शतपथ ब्राह्मण में वराह अवतार का प्रसंग एक ही आकार में उपलब्ध है। इसी प्रकार नरसिंह और वामन अवतार के विषय में भी इन ग्रन्थों में चर्चा की गई है। इस प्रकार वेदों का परिबृंहण इतिहास-पुराण में है, इसी सिद्धान्त के पोषक साधन वायु पुराण में भी उपलब्ध हैं।

महाभारत में कूर्म, वराह, मत्स्य, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि विष्णु के अवतार कहे गये हैं।[71] हरिवंश में कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कल्कि और बुद्ध नामक विष्णु के अवतारों की चर्चा की गई है।[72] अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी कुछ स्थानों में विष्णु के अवतारों का उल्लेख मिलता है। 'शिशुपालवध' में नारद श्रीकृष्ण से कहते हैं कि उन्होंने दाशरथि राम के रूप में लंका नगरी के पास रावण को मारा था।[73]

यहाँ पर विवेचनीय है कि विष्णु के अवतारों की जो तालिका आलोचित पुराण में उपलब्ध है, उसमें किसी भी स्थल पर बुद्ध को अवतार नहीं बताया गया है। परन्तु सम्भवतः उत्तरकालीन संशोधनों और परिवर्तनों के परिणामस्वरूप 'विष्णु पुराण' के मायामोह आख्यान के अन्तर्गत बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता दी गई है। जिसे हाज़रा ने अपनी समीक्षा में विष्णु पुराण का मूल अंग नहीं माना है।

परन्तु इसके अतिरिक्त अग्निपुराण एवं ब्रह्मपुराण में प्राप्त होने वाली सूची में बुद्ध का नाम है -

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥
- पद्मपुराण, उत्तर 257/40-41

दशावतार में बुद्ध का समाहार किस स्तर पर किया गया, इस तथ्य का अनुमान लगाया जा सकता है कुमारिल के तंत्रवार्तिक (जैमिनि सूत्र, 1/3/7) के उल्लेख से, जिसमें वर्णित है कि पुराण में धर्म का लोप करने वाले शाक्य (गौतम बुद्ध) आदि का चरित कलि प्रसंग में वर्णित है, लेकिन इनका वचन सुनेगा कौन ?[74] कुमारिल के इस कथन का तात्पर्य है कि वे जिन पुराणों से परिचित थे, उनमें बुद्ध की निन्दा की गई थी । अतएव इस युग तक (सातवीं आठवीं शती) बुद्ध की परिकल्पना अवतार के रूप में नहीं की गई थी । सम्भवतः 11वीं शती में दशावतार की बुद्ध सहित योजना स्वीकृत हो गई थी । क्षेमेन्द्र ने 1066 ईस्वी में अपने 'दशावतारचरित' महाकाव्य की रचना की और अपरार्क (शिलाहार वंशी शासक, 1100-1130 ई0) ने याज्ञवल्क्य की विशद टीका में मत्स्य पुराण का विस्तृत उद्धरण दिया है जिसमें बुद्ध के साथ दस अवतारों का नाम निर्देश है । निष्कर्ष स्वरूप बुद्ध संवलित दशावतार की कल्पना का उदय काल नवम शती माना जा सकता है ।[75]

वायु और ब्रह्माण्ड दोनों ही पुराणों में बुद्ध से सम्बन्धित मायामोह आख्यान अप्राप्त है परन्तु स्थल सम्बन्धी समानता के कुछ महत्वपूर्ण तत्व दृष्टिगोचर होते हैं । इन दोनों पुराणों में 'नग्न' शब्द का प्रयोग और उसकी व्याख्या दी गई है । सम्भवतः इनमें 'नग्न' का व्यवहार सरल अर्थ में ही किया गया है । इनमें शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उन व्यक्तियों को 'नग्न' अभिधान दिया जा सकता है, जो मोह के कारण वेदाध्ययन का परित्याग करते हैं । इनके उल्लेख के अनुसार वेदत्रयी जगत का संवरण है, इसका परित्याग करने वाले नग्न व्यक्तियों को

श्राद्ध में निमन्त्रित करना उचित नहीं है ।[76] दोनों पुराणों में वर्णन की समानता इस स्थल की मौलिकता की परिचायक है । विष्णु पुराण के एक अध्याय में 'नग्न' का प्रयोग है और दूसरे अध्यायों में 'नग्न' के तात्पर्य को आधार बनाकर मायामोह आख्यान के विस्तृत वर्णन को स्थान दिया गया है । अतः साम्प्रदायोचित प्रवृत्तियों की प्रेरणा से उत्तरकालीन स्तर पर विष्णु पुराण में इस आख्यान के संयोजन द्वारा बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित करके संकलनकर्ता ने अपने वैष्णवपरक विचारों की अभिव्यक्ति की ।

लक्ष्मी और विष्णु का उल्लेख

देवताओं के साथ देवियों को संयुक्त करने की परम्परा ऋग्वेद से ही प्रचलित थी । ऋग्वेद में इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वरुण की भार्या के रूप में क्रमशः इन्द्राणी, रुद्राणी, सूर्या और वरुणानी का वर्णन मिलता है । वैदिक काल के देवी वर्ग में लक्ष्मी का भी स्थान था परन्तु उन्हें विष्णु से सम्बन्धित न मानकर आदित्य के साथ संयुक्त किया गया है । वाजसनेय संहिता में आदित्य की प्रार्थना करते हुए लक्ष्मी को उनकी पत्नी कहा गया है ।[77] वायु पुराण के प्रसंगों में भी लक्ष्मी को विष्णु के साथ ही माना गया है । एक स्थल पर चर्चा की गई है कि जो भूतात्मा भगवान् विश्व के समस्त महाभूतों को धारण करने वाले और बनाने वाले हैं, जो लक्ष्मी द्वारा धारण किये जाने वाले हैं, वे एक मृत्युलोक निवासिनी सामान्य गृहिणी के गर्भ में किस लिये आते हैं ।[78] यहाँ पर वैदिक परम्परा में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में विभिन्न उल्लेखों में लक्ष्मी को विष्णु से सम्बन्धित माना गया है । विष्णुस्मृति में पृथ्वी से लक्ष्मी कहती हैं कि वे विष्णु के समीप सदा सन्निहित रहती हैं ।[79] लक्ष

लक्ष्मी के मूर्त रूपों में कमल का वर्णन आलोचित पुराण में विशेष रूप से दिया गया है । पद्मवन के मध्य में एक महापद्म की स्थिति बताते हुए उसे मूर्तिमती लक्ष्मी का निवासस्थान बताया गया है ।[80] पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी लक्ष्मी के मूर्त रूपों

की पुष्टि होती है । मथुरा से प्राप्त लक्ष्मी की कुषाण कालीन प्रतिमा का दृष्टान्त महत्वपूर्ण है जिसमें लक्ष्मी की प्रतिष्ठा कमलों के बीच में की गई है ।[81]

वायु पुराण में वर्णित वैष्णव धर्म का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह अवश्यमेव वैदिक परम्परा में परिवर्तन का प्रतीक है । ऋग्वेद में विष्णु सर्वोपरि देवता के रूप में न होते हुए भी सूर्य के अन्यतम रूप हैं और उनकी स्थिति गौण है । वेद में विष्णु का सम्बन्ध गायों के साथ विशेष रूप से प्राप्त होता है और यह प्रवृत्ति वैष्णव धर्म के इतिहास में सर्वत्र लक्षित है । इसके अतिरिक्त वैदिक विष्णु का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्राप्त होता है । और अनेक मन्त्रों में दोनों एक साथ प्रशंसित किये गये हैं । ब्राह्मण युग में यज्ञ संस्था के अधिक विकास के फलस्वरूप देवमण्डल में विष्णु का महत्व बढ़ गया । विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गई - यज्ञो वै विष्णुः । ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि हीन देवता माने गये हैं और विष्णु श्रेष्ठ व गौरवशाली देवता स्वीकार किये गये हैं ।[82] इसके उपरान्त पुराणों को विष्णु को प्रधान देवता की प्रतिष्ठा दी गई है और रुद्र शिव ही ऐसे देवता हैं जिन्हें विष्णु के तुल्य स्थान दिया गया है । विष्णु को प्रकृति से भी श्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ अन्तरात्मा में स्थित परमात्मा, रूप, वर्ण, नाम आदि से परे तथा षट् विकारों - जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिणाम, क्षय तथा विनाश - सभी से शून्य माना गया है । ब्राह्मणों में वर्णित लोकस्रष्टा प्रजापति को विष्णु में समाविष्ट करके वैष्णवी स्थिति को उन्नतर करने का प्रयास किया गया है । अनेक पौराणिक स्थल वैदिक विचारधारा से प्रभावित भी है परन्तु उनमें नवीनता का समाहार करके प्रभावशाली परिवर्तन किया गया है । विष्णु की वासुदेव कृष्ण से एकता स्थापित कर तथा अवतारवाद सम्बन्धी भावना को प्रोत्साहन देकर आलोचित पुराण में भी वैष्णव धर्म के प्रगतिशील स्वरूप का परिचय दिया गया है ।

सन्दर्भ

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श,

2. पार्जीटर, एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ 36.

3. मत्स्य पुराण, 2/22.

4. एस0एन0 राय, पौराणिक धर्म और समाज, पृ0 16.

5. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/5 के आधार पर; पुराण पत्रिका, भाग 4, अंक 1,
6. द्रष्टव्य, पुसाल्कर, "स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज", भूमिका, पृष्ठ 53.

   पुसाल्कर ने इस प्रसंग में हाजरा के समस्तरीय मत का समर्थन किया है ।

7. पुराण पत्रिका, भाग 7, अंक 2, पृष्ठ 280.

8. एस0एन0 राय, तत्रैव, पृष्ठ 80.

9. जर्मन विद्वान डा0 किर्फेल ने अपने मत का विशद प्रतिपादन "पुराण पञ्चलक्षण" ग्रन्थ की जर्मन-भाषा-निबद्ध भूमिका में किया है जिसका तिरुपति से प्रकाशित जनरल आफ वेंकटेश्वर इन्स्टीच्यूट की पत्रिका (भाग 7 और 8) में अंग्रेजी में अनुवाद भी हो चुका है ।

10. पार्जीटर, एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ 23/77.

11. हाजरा, आर.सी., स्टडीज इन द पुरानिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका 1940, पृष्ठ 18.
12. हाजरा, तत्रैव, पृष्ठ 15-17.

13. एस0एन0 राय, तत्रैव, पृष्ठ 67.

14. एस०एन० राय, तत्रैव, पृष्ठ 73.

15. हाज़रा, तत्रैव, पृष्ठ 13;
दीक्षितार, सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ वायु पुराण, पृष्ठ 49;
पुसाल्कर, स्टडीज़ इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज़, पृष्ठ 39.

16. महाभारत, वनपर्व, 191/16.

17. हाप्किंस, दि ग्रेट एपिक, पृष्ठ 40.

18. नारदीय पुराण, 1/95/1-16;
श्लोक की समीक्षा के लिये द्रष्टव्य हाज़रा, तत्रैव, पृष्ठ 14;
पुसाल्कर, तत्रैव, पृष्ठ 33-34.

19. कूर्म पुराण, 1/1/13-15.

20. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1, पृष्ठ 578.

21. प्रत्युवाचोत्तरं ------ द्यौरन्तरिक्षं भूतञ्च परं पदमहं प्रभुः । वायु पुराण, 24/18

22. विश्वेशो लोककृद्देव ------ प्रभुर्विष्णुर्दिवाकरः । तत्रैव, 51/18.

23. यः पुराणे पुराणात्मा ------ सुरसत्तमः । तत्रैव, 97/16.

24. वी०एस० घाटे, लेक्चर्स ऑन ऋग्वेद, पृष्ठ 154.

25. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 41;
कीथ, दि रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, पृष्ठ 109.

26. तद्विष्णुः प्रथमः प्राप । स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्तस्मादाहुर्विष्णुः देवानां श्रेष्ठ इति, शतपथ ब्राह्मण, 14/1/1/5.

27. पुरारणी गर्भमधत्त ------ शक्रश्च यो दैत्यगणावरुद्धं गर्भावमानेन भृशं चकार ।
यदा त्विषो ------ सुरेशं पुरुहूतमेव । वायु पुराण, 97/23-24.

28. आदित्यानां पतिं विष्णुं ------ । तत्रैव, 70/5.

29. उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयंता सूर्यम् ------ ।
हे इन्द्राविष्णू ------ युवां ----- सूर्य --- प्रादुर्भाविष्यन्तौ ।
ऋग्वेद, 7/99/4.

30. ईश्वरो हि परो विष्णुस्तु महतः परः । वायु पुराण, 5/20.

31. कथञ्च विष्णो रुद्रेण सार्द्धं प्रीतिरनुत्तमा ।
सर्वे विष्णुमया देवा सर्वे विष्णुमया गणाः ।
न च विष्णुसमा काचिद्गतिरन्या विधीयते ।
भवस्य स कथं नित्यं प्रणामं कुरुते हरिः । तत्रैव, 21/6,7.

32. द्वाविंशस्तु तथा कल्पो विज्ञेयो मेघवाहनः ।
यत्र विष्णुर्महाबाहुर्मेघीभूत्वा महेश्वरं ।
दिव्यं वर्षसहस्त्रन्तु अवहत् कृत्तिवाससम् ।तत्रैव21/46.

33. तत्रैव, 25/15-26.

34. एतन्मखे शूर सुवर्णपात्रे हविः समस्तं विधिमंत्रपूतं ।
विष्णोर्नयास्यप्रतिमस्य सर्वं प्रभो विभो ह्यावहनीय नित्यं ।
तत्रैव, 30/106-107.

35. देवा ह वै सत्रं निषेदुः अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वेदेवाऽन्य-
त्रैवाश्विभ्याम् ।
तेषाङ्कुरुक्षेत्रन्देवयजनमास ------ ते होचुः ।
यो न श्रमेण तपसा श्रद्धया ------ पूर्वोऽवगच्छात्ता ------ तद्विष्णु प्रथमः
प्राप । शतपथ ब्राह्मण, 14/1/1, 1-5.

36. ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्रास्ति वै स्मृतं ।
एतद्विष्णुपदं दिव्यं तृतीयं व्योम्नि भास्वरम् ।
तत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदं ।
धर्मध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाधकाः ।वायु पुराण, 50/221-222.

37. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः ।
ऋग्वेद, 1/154/5.

38. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ----- ।
शतपथ ब्राह्मण, 3/7/1/18.

39. त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकान्जित्वा विष्णुरुरुक्रमः ।
प्रत्यपादयदिन्द्राय देवेभ्यश्चैव स प्रभुः । वायु पुराण, 66/135-36.

40. अथाक्रमते ।
विष्णुस्त्वाक्रमतामिति --- स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचिक्रमे ----- ।
शतपथ ब्राह्मण, 1, 1, 2, 13.

41. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
तृतीयमस्य न किरा ---------------------- । ऋग्वेद, 1/155/5.

42. विष्णोर्व्यापनशीलस्य । तत्रैव, 1, 154, 1 पर सायण ।

43. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । तत्रैव, 1/154/2.

44. यस्माद्विष्टमिदं सर्वं वामनेनेह जायता ।
तस्मात्स वै स्मृतो विष्णुर्विशेः धातोः प्रवेशनात् ।
वायु पुराण, 55/137.

45. विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम् । तत्रैव, 25/21.

46. साध्यो नारायणश्चैव विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः । तत्रैव, 23/95.

47. ऋग्वेद, 10/82/5, 6,
आर0जी0 भण्डारकर, कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर, भाग 4, पृष्ठ 43.

48. सर्वान्लोकानात्मन्निधिषि सर्वेषु लोकेष्वात्मनमधा सर्वान्देवानात्मन्निधिषि ------- सर्वेषुवेदेष्वात्मानमधा सर्वान्प्राणानात्मन्निधिषि ------- ।
शतपथ ब्राह्मण, 13/3/4/11, भण्डारकर, तत्रैव, पृष्ठ 43-54.

49. नारायण । परायण । जगत्परायण । नमो नम इति ।
विष्णु स्मृति, 98/98-101.

50. तदा ष्ठेन योगेन कृष्णः पुरुषसत्तमः ।
वसुदेवाद्यदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति । वायु पुराण, 31/206.

51. देवक्यां वसुदेवेन तपसा पुष्करक्षेणः ।
चतुर्बाहुस्तु संजज्ञे दिव्यरूपः श्रियाऽन्वितः ।
प्रकाशो भगवान्योगी कृष्णो मानुषमागतः ।
तत्रैव, 96/193-194

52. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 43 ।
द्रष्टव्य, भण्डारकर, तत्रैव, पृष्ठ 49.

53. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन । अष्टाध्यायी, 4/3/98
द्रष्टव्य, वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 352.

54. भगवन्तं वासुदेवं --- चतुर्भुजं --- ध्यायेत, ध्यायेत् पुरुषं विष्णुम् ।
विष्णुस्मृति, 97/10,16.

55. दीप्तमायतनं विष्णोः सिद्धसिंघसेवितं -----
तत्र साक्षान्महादेवः पीताम्बरधरो हरिः ।
वरद सेव्यते सिद्धैर्लोककर्ता सनातनः । वायु पुराण, 41/49-50.

56. ------- अदितिर्माता स पिता स पुत्रः । ऋग्वेद, 1/90/110.

57. यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तमहं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । श्वेताश्वतर उपनिषद, 6, 18.

58. अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते । बृहदारण्यक उपनिषद, 1, 4, 10.

59. एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः । शान्तिपर्व, 47/91.

60. हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः । हरिवंश, 3/89/9.

61. प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
ऋग्वेद, 1/154/2.
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे । तत्रैव 1/154/3.

62. आचार्य बलदेव उपाध्याय, तत्रैव, पृष्ठ 168.

63. तस्य दिव्यतनुं विष्णोर्गदतो मे निबोधत ।
युगधर्म्मे परावृत्ते काले च शिथिले प्रभुः ।
कर्तुं धर्म्मव्यवस्थानं जायते मानुषेष्विह ।
भृगोः शाप निमित्तेन देवासुरकृतेन च । वायु पुराण, 97/65-66.

64. कर्तुं धर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम् । तत्रैव, 96/232.

65. अप्रमेयो नियोज्यश्च यत कामचरो ----- प्रविष्टो मानुषीं योनिम् ।
तत्रैव, 98/95-99.

66. मन्यते मायया जातं विष्णुं चापि युगे युगे । मत्स्य पुराण, 154, 180, 181.

67. ऋग्वेद, 5, 3, 1, 2.

68. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग 17, पृष्ठ 370-371.

69. स यत्कूर्म नाम । एतद्वैरूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत ----- ।
शतपथ ब्राह्मण, 7, 5, 1, 5.

70. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 172.

71. कूर्मश्च मत्स्यश्च ------- ।
वराह नरसिंहश्च वामन राम एव च ।
रामश्च दाशरथीश्चैव सात्वत: कल्कि ------- ।
महाभारत, नारायणीय, 339, 104.

72. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग 17, पृष्ठ 379.

73. ------- दाशरथिर्भवान् ------- लंकां निकषा हनिष्यति ।
शिशुपालवध, 1, 47, 48.

74. स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतव: कलौ शाक्यादयस्तेषां
को वाक्यं श्रोतुमर्हति । तन्त्रवार्तिक(जैमिनि सूत्र 1/3/7)

75. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 176.

76. वायु पुराण, 16/24-27; ब्रह्माण्ड पुराण, 3/16/34-36.

77. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहो रात्रे ------- । वाजसनेय संहिता, 31/22

78. महाभूतानि भूतात्मा यो दधार चकार ह ।
श्रीगर्भ: स कथं गर्भे स्त्रिया भूचरया धृत: । वायु पुराण, 97/13.

79. स्थिता सदाहं मधुसूदेन तु । विष्णुस्मृति, 99/22.

80. लक्ष्म्या: पद्मं श्र तदावासं मूर्तिमत्या न संशय: । वायु पुराण, 37/8.

81. ए०के० कुमारस्वामी, यक्षाज़, भाग 2, पृष्ठ 84.

82. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु:परम: तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता: ।
एतरेय ब्राह्मण, 1/1.

शिव माहात्म्य एवं उनके विविध रूप

शिव, सर्वोच्च देव के रूप में

शिव को महेश्वर इसलिये कहा जाता है क्योंकि वे देवों, ऋषियों और असुरों सर्वाधिक तेजस्वी हैं ।[1] उन्होने ऐश्वर्य द्वारा देवों को, बल द्वारा असुरों को और ज्ञान द्वारा ऋषियों को तथा योग द्वारा समस्त भूतों को पराजित किया है ।[2] शिव सभी देवों से महान् हैं, अतएव उन्हें महादेव कहा गया है ।[3] उन्हें देवाधिदेव भी कहा जाता है और वे सुरों एवं असुरों में श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतम हैं । जिस प्रकार 'हर' देवताओं में सर्वोत्कृष्ट हैं, उसी प्रकार स्वयं ब्रह्मा द्वारा रचित उनकी स्तुति भी सभी स्तुतियों में महानतम है ।[4] देव, ऋषि, पितर और दैत्य सभी ईश की उपासना करते हैं क्योंकि वे काल (महादेव ही काल हैं और काल के प्रवर्तक भी) से भयभीत रहते हैं ।[5] शिव ही इस ब्रह्माण्ड के सृजनहार हैं । उन्हें यथार्थ में सृष्टिकर्ता, सहायक और संहारक भी माना गया है । उन्हीं से सप्त ऋषियों, देवों और पितरों की उत्पत्ति हुई है ।[6] वे ही समस्त पर्वतशृंखलाओं और सागरों के स्रोत हैं । प्रजा सृष्टि के पश्चात् जलप्लावन तक वे इस कर्म से विरत हो गये अतः उन्हें स्थाणु कहा जाता है । आलोचित पुराण के एक स्थल पर शिव स्वयं बताते हैं कि युगों तथा काल की रचना उनके द्वारा की गई है । यह समस्त जगत शिव का रूप है ।[7] ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, सृष्टिकरण की क्षमता और आत्मसंबोध ये सम्पूर्ण गुण शिव में ही सन्निहित हैं ।

प्रस्तुत पुराण में वर्णित समस्त देवताओं के मध्य शिव का स्थान अन्य देवों के साथ उनके सम्बन्धों से स्पष्ट हो जाता है - सभी देवगण और ऋषिगण चतुर्मुख काल से भयभीत होकर महादेव की शरण में जाते हैं । यहाँ शिव उन्हें काल की वास्तविकता बताते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा की उपासना कृतयुग में होती है, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में विष्णु पूजित होते हैं परन्तु मैं चारों युगों में पूजित हूँ ।[8] ब्रह्मा और विष्णु द्वारा संयुक्त रूप से शिव की स्तुति की गई है और शिव प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देते हैं। एक प्रसंग में शिव स्वयं कहते हैं कि लोकपितामह उनके दाहिने हाथ और नित्य युद्ध में स्थित रहने वाले विष्णु उनके बायें हाथ हैं । शिव ही यथार्थ सृष्टिकर्ता हैं तथा ब्रह्मा

व विष्णु उनके कार्यकर्ता मात्र हैं ।[9] ये शंकर स्वरूप रहित हैं, अज्ञात हैं, अव्यक्त हैं, लोक में उनकी 'शिव' नाम से प्रसिद्धि है, वे अचिन्त्य हैं, अद्रूप हैं । वायु पुराण के एक प्रसंग में ब्रह्मा विष्णु से शंकर के विषय में प्रश्न करते हैं कि उन दोनों से श्रेष्ठ शंकर कौन हैं ? तब विष्णु ब्रह्मा की शंका निवारण करते हुए शिव को सृष्टिकर्ता, स्वयं को सृष्टिभूमि और ब्रह्मा को उसका बीज बताते हैं । सभी देवों द्वारा वन्दनीय विष्णु स्वयं शिव की वन्दना करते हैं ।[10] और उन्हें तीनों लोकों को धारण करने वाला तथा सृष्टिकर्ता कहते हैं । एक अन्य स्थल पर दक्ष शिव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा, गोविन्द और प्राचीन ऋषिगण शिव की महानता का मापन करने में असमर्थ है । इसके अतिरिक्त उनके द्वारा शिव को सर्व, सर्वग, सर्वभूतपति और सभी जीवों के अन्तरात्मा कहा गया है । जिस प्रकार गोष्ठ में गोगण रहते हैं, उसी प्रकार समस्त देवगण शिव में ही अवस्थित है । इस प्रकार आलोचित पुराण में इस दृश्यजगत को शिव से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं माना गया है । शिव को ही पूर्ण आनन्द, परम आनन्द का निधान और सर्वश्रेष्ठ आत्मा कहा गया है ।

समन्वयवादी प्रवृत्ति

वायु पुराण के अनेक स्थलों पर शिव के महात्म्य का अतिरेक के साथ प्रतिपादन मिलता है परन्तु केवल शैव धर्म का उत्कर्ष प्रदर्शित करना ही इसका उद्देश्य नहीं है ।[11] ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता का वर्णन, इस पुराण में वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत किया गया है ।[12] इसके अतिरिक्त 25वें अध्याय के एक प्रसंग में शिव और विष्णु में एकात्म्य स्थापित किया गया है जिसके अनुसार प्रकाश, अप्रकाश, जंगम, स्थावर अथवा समस्त विश्वरूप को रुद्र और नारायणमय माना है । शिव को अग्नि, विष्णु को सोम और इसी प्रकार क्रमशः एक को दिवस, सत्य माना है तो दूसरे को रात्रि, ऋत कहा है । विष्णु को ज्ञान मानकर शिव को ज्ञेय कहा गया है । युगक्षय काल में इन दोनों को छोड़कर कोई अन्य गति नहीं हैं । विष्णु प्रकृति और शिव पुरुष हैं । एक ही शरीर के श्रीवत्सपदलक्षण श्यामल वाम व पार्श्व विष्णु हैं और नीललोहित दक्षिण पार्श्व शिव हैं ।

एक अन्य प्रसंग में छाछठवें अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को समान मानते हुए कहा गया है कि निर्मल स्फटिक मणि में जिस प्रकार आश्रय, भेद एवं निर्मलता के कारण विविध प्रकार के रंग अनुरंजित होकर रक्त, पीतादि विविध रूपों में लक्षित होते हैं, उसी प्रकार भगवान स्वयम्भू सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण के कारण विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार कालस्वरूप एकमात्र स्वयम्भू अपने इन तीनों रूपों द्वारा तीनों कार्यों को सम्पन्न करता है अर्थात् प्रजाओं की सृष्टि करता है, उनका पालन करता है एवं विनाश भी करता है। इस परम ऐश्वर्य समन्वित ईश्वर को कोई भी भली प्रकार जानने में समर्थ नहीं है, जो एकात्मा होकर तीन रूपों में विभक्त होने पर प्रजाओं को सम्मोहित करता है।

वैदिक परम्परा में क्रमिक परिवर्तन

पौराणिक काल में शिव को अत्यधिक महत्त्व दिया गया जो वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं था। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की तुलना में बहुत कम महत्त्वपूर्ण है जबकि यजुर्वेद का एक सम्पूर्ण अध्याय रुद्र की स्तुति के प्रयुक्त किया गया है। इसमें रुद्र के धनुष का नाम 'पिनाक' बताया है और उन्हें चर्म वसनधारी (कृत्तिं वसानः) कहा गया है। अथर्ववेद में रुद्र विषयक कल्पना का कुछ और विकास हुआ और उन्हें सहस्रनेत्रों वाला कहा गया। इसके साथ ही भव, शर्व, पशुपति और भूतपति नामों का उल्लेख रुद्र के लिये किया गया है। ब्राह्मण काल में रुद्र की महत्ता अपेक्षाकृत बढ़ी और रुद्र, शर्व, उग्र व अशनि चार नाम प्रकृति के विध्वंसक शक्ति के तथा भव, पशुपति, महादेव व ईशान ये चार नाम प्रकृति के मंगलमय रूप के निर्धारित करके आठ नाम कर दिये गये। गृह्यसूत्रों के काल में रुद्र उग्रदेव थे जिन्हें प्रसन्न करना पड़ता था। उपनिषदों के युग में रुद्र-शिव सम्बन्धी विचार का और अधिक विकास हुआ और ईश, ईशान व शिव का प्रयोग इस ईश्वर के लिये किया गया। इसके पश्चात् पौराणिक काल में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को अभिन्न मानते हुए उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई।

वैदिक भावना से प्रभावित स्थल - शिव का भयोत्पादक स्वरूप

शिव को मृत्यु के देवता के साथ साथ स्वयं मृत्यु का संहारक भी कहा जाता है।[13] इसी कारण उन्हें श्मशान में रमण करना और वहाँ की भस्म प्रिय है। वे हाथों में कपाल लिये हुए नग्न ही भ्रमण करते हैं। उनकी तुलना काल से की जाती है जिससे समस्त देवगण और ऋषिगण भयाक्रान्त हैं। इसी कारण शिव के लिये अघोर, क्रूर, कुटिल, वीभत्स, कपालहस्त, विकृतवेश, भीम भयकांग आदि उपाधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं।[14] विष्णु के द्वारा शिव को क्रोधागार तथा उग्र रूपों के धारक जैसे विशेषण दिये गये हैं।[15] इसी प्रसंग के पूर्वांश में ब्रह्मा द्वारा देखे गये शिव को 'अतिभैरव' कहा गया है।[16] एक अन्य स्थल पर शिव की स्तुति करते हुए शुक्राचार्य उनके स्वरूप को क्रूर और वीभत्स बताते हैं।[17]

आलोचित पुराण में प्राप्त होने वाली यह प्रवृत्ति वैदिक विचारधारा के समान है क्योंकि वैदिक साहित्य में भी रुद्र को उग्र और भयावह बताया गया है।[18] ऋग्वेद में रुद्र को स्वर्ग तथा पृथ्वी पर जाने वाले तेजयुक्त बाणों को फेंकने वाला एवं गायों व मनुष्यों को मारने वाले आयुधों वाला बताया गया है।[19] रुद्र विषयक एक अन्य सूक्त में रुद्र को बच्चों, वंशजों, मनुष्यों, पशुओं और गृहों को हानि न पहुँचाने का आग्रह किया गया है।[20] शतरुद्रिय में रुद्र को प्रकृति की आसुरी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा गया है। अथर्ववेद में भी यातुधान पर अपने वज्र का प्रहार करने के लिये उनका आह्वान किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में रुद्र से विनाश, विष और दिव्य अग्नि न लाने की प्रार्थना की गई है।[21] शतपथ ब्राह्मण में देवताओं को रुद्र द्वारा भयत्रस्त बताया गया है।[22] भण्डारकर की धारणा है कि रुद्र के उग्र पक्ष को कभी भुलाया नहीं गया।[23] गृह्यसूत्रों के काल में भी रुद्र निवास-स्थानों से पृथक क्षेत्रों, मैदानों, श्मशानों, पर्वतों, शून्य वनों, नदियों पर आधिपत्य रखने वाले उग्र देव ही थे। इस प्रकार भय को जन्म देने वाले अवसरों पर शिव का रक्षा के लिये चिन्तन और स्तुति की जाती थी। इसी कारण रुद्र शिव की उपासना के मूल में भय की भावना सदैव विद्यमान रही।

पशुओं के साथ सम्बन्ध

आलोचित पुराण में शिव के आठ नामों में से चौथा नाम 'पशुपति' बताया गया है। एक अन्य स्थल पर शुक्राचार्य ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें 'पशूनां पतिः' कहकर सम्बोधित किया है।[24] यहाँ पर भी वैदिक भावना से साम्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि ऋग्वेद में स्तुतिकर्ता ऋषियों ने द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा की प्रार्थना की है और जब पशु क्षतिग्रस्त होने से बच गये तब रुद्र को पशुप अथवा पशुधन रक्षक बतलाया गया।[25] वाजसनेय संहिता में पशुपति रुद्र को कहा गया है।[26] अथर्ववेदमें रुद्र को 'पशुपति' कहते हुए पशुओं में मनुष्य को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वकाल में शिव को पशुहन्ता भी माना गया उसी प्रकार के स्थल प्रस्तुत पुराण में भी उपलब्ध हैं। शिव स्तुति में शुक्र के द्वारा उन्हें 'पशुघ्न' कहा गया है।[27]

शिव के विभिन्न नामोल्लेख

आलोचित पुराण में शिव को अनेक नामों से वन्दनीय माना गया है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण नाम इस प्रकार हैं - महेश्वर, महादेव, शंकर, भव, शर्व, ईशान, त्र्यम्बक, शम्भु, शूलपाणि, स्थाणु, वामदेव, पिनाकी, नीलकण्ठ, वृषभध्वज, कपर्दिन, त्रिनेत्र आदि। इनमें से कुछ ऐसे भी नाम हैं जो वैदिक परम्परा की निरन्तरता बनाये हुये हैं। नैऋत नामक राक्षसों के स्वामी शंकर के लिये 'त्र्यम्बक' का प्रयोग इस पुराण में किया गया है जो ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी रुद्र के लिये प्रयुक्त हुआ है।[28] इसके अतिरिक्त त्रिपुर का विनाश करने वाले शिव को भी वायु पुराण में त्र्यम्बक कहा गया है। शर्व और भव नामों का तादात्म्य अनेक स्थलों पर आलोचित पुराण में शिव के साथ स्थापित किया गया है और वाजसनेय संहिता में भी रुद्र के लिये इन्हीं अभिधानों का प्रयोग किया गया है।[29] आलोचित पुराण में शिव की स्तुति करते हुए उन्हें पिनाक धारण करने वाला कहा गया है जबकि ऋग्वेद में भी रुद्र को धनुष बाण धारण करने वाला बताया गया है। अथर्ववेद में शिव को समस्त धनुर्धरों में द्रुततम कहा गया है। सभी भूतों और पिशाचों के स्वामी शंकर के लिये प्रस्तुत पुराण में 'शूलपाणि'

का सम्बोधन किया गया है ।[30] ऋग्वेद में रुद्र को वज्रबाहु के नाम से संयुक्त किया गया है ।[31] एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा के ललाट से उत्पन्न रुद्र को 'शूलहस्त' भी इसी पुराण में कहा गया है ।

नीललोहित, नीलग्रीव, नीलकण्ठ आदि नामों का उल्लेख भी प्रस्तुत पुराण में शिव के सन्दर्भ में ही किया गया है । जो वेदानुकूल ही है । ब्रह्मा से उद्भुत रुद्र को 'नीललोहित' कहा गया है । ऋग्वेद के किसी प्रसंग में शिव को नील अथवा लोहित से संयुक्त नहीं किया गया है परन्तु वैदिक काल में ही उनके इस वर्ण के सम्बन्ध में कल्पना का विकास हो गया था । यजुर्वेद में रुद्र के लिये 'नीलग्रीव' तथा 'शितिकण्ठ' जैसे अभिधानों का प्रयोग हुआ है । अथर्ववेद में रुद्र के उदर को नीला और पीठ को लोहित बताया गया है ।[32] आलोचित पुराण के एक स्थल पर विष्णु ने शिव की महिमा का गान करते हुए इन्हें 'वृषभेन्द्रध्वज' भी कहा है । इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में रुद्रों के अधिपति शिव की वृषभध्वज नाम से चर्चा की गई है ।[33] वैदिक भावना का निर्वाह यहाँ इस दृष्टिकोण से मान सकते हैं कि ऋग्वेद में भी रुद्र का समीकरण वृषभ से किया गया है ।[34]

आलोचित पुराण के अन्तर्गत शिव के आठ नामों के सन्दर्भ में कथा भी वर्णित है जिसके अनुसार ब्रह्मा ने शिव के विविध रूपों को आठ नाम दिये । पहला रुद्र, दूसरा भव शरीर जो जलात्मक है, तीसरा शर्व जो भूमि है, चौथा ईशान जो वायु है, पाँचवाँ पशुपति जो अग्नि है, छठा भीम जो आकाश है, सातवाँ उग्र और आठवाँ महादेव जो अमृतात्मक चन्द्रमा है । शिव के ये समस्त रूप नमस्करणीय कहे गये हैं । शिव के ये नाम वेदों से ही ग्रहण किये गये हैं परन्तु उनका भिन्न भिन्न रूपों में निर्धारण वायु पुराण में किया गया है । इसके अतिरिक्त इसी पुराण में शिव को 'बहुरूप' नाम से भी सम्बोधित किया गया है ।[35] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर शिव से उत्पन्न रुद्रों को बहुरूप की संज्ञा दी गई है ।[36] ऋग्वेद में भी रुद्र को पुरुरूप कहा गया है जिसका अर्थ सायण के अनुसार बहुरूप होता है ।

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में विष्णु द्वारा शिव की स्तुति करते हुए भी उन्हें अनेक रूपों में समस्त जगत के उत्पादक रूप में शोभायमान बताया गया है ।[37]

शिव के अन्य विरुद

वायु पुराण के विभिन्न स्थलों पर शिव के लिये चर्मधारी, गिरीश, सहस्त्राक्ष आदि विरुद प्रयुक्त किये गये हैं । ब्रह्मा के आदेश पर शिव ने जिन रुद्रों को उत्पन्न किया वे चर्म धारण किये हुए थे ।[38] एक अन्य प्रसंग में शिव के स्वरूप वर्णन में उन्हें कृष्णमृग का चर्म धारण किये हुए बताया गया है ।[39] वाजसनेय संहिता में भी रुद्र को चर्मधारी कहा गया है ।[40] एक स्थल पर भूतों के अधिपति शिव को गिरीश के नाम से अभिहित किया गया है ।[41] सायण के अनुसार गिरिश का अर्थ है जो गिरि पर शयन करे । वाजसनेय संहिता में रुद्र का आवास पर्वत कहा गया है ।[42] सामान्यतः शिव के लिये त्रिलोचन तथा विरूपाक्ष का प्रयोग मिलता है । वायु पुराण के एक प्रसंग में दक्ष शिव की स्तुति करते हुए उन्हें सहस्त्राक्ष की संज्ञा देते हैं ।[43] इसके अतिरिक्त शिव द्वारा सृष्ट रुद्रों को सहस्त्राक्ष की उपाधि भी दी गई है । एक अन्य वर्णन में ब्रह्मा और विष्णु द्वारा शिव को प्रसन्न करने के लिये की गई स्तुति में उन्हें सहस्त्र नेत्रों के कारण विचित्र आकृति वाला भी कहा गया है ।[44] शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेद में भी रुद्र के लिये सहस्त्राक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है ।[45]

अग्नि से शिव की अभिन्नता

आलोचित पुराण के एक स्थल पर शिव की स्तुति करते हुए विष्णु उन्हें अग्नि कहकर सम्बोधित करते हैं ।[46] ऋग्वेद में भी अग्नि को रुद्र कहकर बुलाया गया है ।[47] इसी प्रकार अथर्ववेद में भी रुद्र का निवास अग्नि में बताया गया है ।[48] वैदिक भावना का अनुमोदन प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध होता है और जिस रुद्र को ऋग्वेद और अनेक प्राचीन संहितायें 'उग्र' के नाम से पुकारती हैं उसका प्राकृतिक आधार सम्भवतः अग्नि ही था । इस विषय पर आचार्य बलदेव उपाध्याय की धारणा है कि रुद्र शिव अग्नि के ही प्रतीक हैं ।[49] अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना की

गई । अग्नि की शिखा ऊपर उठती है अतः ऊर्ध्व लिंग की कल्पना की गई । अग्नि वेदी पर जलती है अतः शिव जलधारी के मध्य रखे जाते हैं । अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है इसी कारण शिव के ऊपर से जल का अभिषेक किया जाता है । शिव भक्तों द्वारा भस्म धारण करने की परम्परा का समर्थन भी इसी सिद्धान्त को मानने से भलीभाँति हो जाता है । ऋग्वेद और अथर्ववेद के संकेत के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में भी "अग्निवै रुद्रः" अत्यन्त स्पष्ट रूप से दोनों में एकता का प्रतिपादन करता है । शुक्लयजुर्वेद (39/8) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र – ये सभी एक ही देवता के पृथक पृथक नाम कहे गये हैं ।

इसके अतिरिक्त अग्नि के दो रूप हैं – घोरातनु और अघोरातनु । अपने भयंकर घोर रूप से वह संसार का संहार करने में समर्थ है और अघोर रूप में संसार पालन में भी सक्षम है । शिव के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के विचारों की कल्पना की गई है अतः पौराणिक स्थलों पर वैदिक परम्परा का औचित्यपूर्ण निर्वाह किया गया है ।

शिव के आभूषण

ऋग्वेद में रुद्र शिव के सन्दर्भ में उल्लिखित है कि उनके स्थिर अंग चमकने वाले सोने के गहनों से विभूषित हैं ।[50] इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि रुद्र अनेक रूपों वाले निष्क को धारण करते हैं । आलोचित पुराण के एक स्थल पर शिव को सुवर्ण धारण करने वाला बताया गया है ।[51] एक अन्य प्रसंग में ब्रह्मा और विष्णु द्वारा शिव की आराधना करते हुए उन्हें स्वर्णिम वस्त्र धारण करने वाला और हिरण्य की माला पहनने वाला कहा गया है ।[52] इसी क्रम में पुनः शिव को विभिन्न आभूषणों और रत्नों से सुशोभित कहा गया है ।

शिव के भयंकर और मंगलकारी रूप का संयोजन

वैदिक साहित्य में शिव को भयानक पशु की भाँति उग्र और क्रूर अवश्य कहा गया है परन्तु इसके साथ ही उन्हें भक्तों को विपत्तियों से बचाने वाला और उनका

मंगल साधन करने वाला भी माना गया है । उग्र रूप में वे 'रुद्र' और आराधित होने पर कल्याणकर्ता रूप में वे 'शिव' हैं । वाजसनेय संहिता में एक स्थल पर उन्हें सुमंगल और शिव कहा गया है ।[53] आलोचित पुराण के भी विभिन्न प्रसंगों में शिव के रौद्र रूप के साथ साथ उनका सौम्य रूप भी वर्णित है । शुक्राचार्य के द्वारा शिव की स्तुति करते हुए उन्हें क्रूर, विकृत, वीभत्स, सौम्य, पुण्य और शुभ जैसे विशेषण दिये गये हैं ।[54] एक अन्य स्थल पर विष्णु के द्वारा शिव को प्राण पालक, प्रिय, वन्दनीय, वरद और शुभदर्शन वाला कहा गया है ।[55] इसके अतिरिक्त शम्भु, शंकर, शिव जैसे शब्दों का प्रयोग भी इस पुराण में अनेक स्थलों पर किया गया है जो उनके मंगलकारी रूप के परिचायक हैं । वस्तुतः ऋग्वेद में रुद्र को प्रलयकारी और संहारक रूप में मानकर स्तुतिकर्ता ऋषियों द्वारा विविध प्रकार से उनकी आराधना की गई और जब स्तुतियों के फलस्वरूप अथवा सहज ही पशु आक्रान्त होने से बच गये तो उन्हें पशुधन रक्षक कहा जाता था ।[56] इस प्रकार क्रमिक रूप से उनके मंगलमय रूप की कल्पना विकसित हुई । अथर्ववेद में रुद्र विषयक विचार और विकसित हुए तथा कतिपय अन्य नाम उनके साथ जोड़ दिये गये जो बाद में प्रसिद्ध हुए । इन नामों को परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न माना गया । भण्डारकर की धारणा है कि जिस प्रकार सूर्य देव को अनेक दृष्टियों से देखे जाने के कारण सवितृ, सूर्य, मित्र, पूषन् आदि सौर देवों की उत्पत्ति हुई उसी प्रकार कल्याणकारक एवं दयालु स्वरूपों से समन्वित प्रकृति के उग्र एवं विनाशकारी रूपों को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के परिणामस्वरूप अथर्ववेद में वर्णित सात विभिन्न देवों के विश्वास की उत्पत्ति हुई ।[57] शतपथ और कौषीतकि ब्राह्मण में उन्हें एक ही देवता मानते हुए आठवाँ नाम और संयुक्त कर दिया । इस प्रकार रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि चार नाम प्रकृति की विध्वंसक शक्ति के तथा भव, पशुपति, महादेव एवं ईशान ये चार नाम प्रकृति के मंगलमय रूप के निर्धारित हुए ।

आलोचित पुराण में शिव के सौम्य रूप अथवा उसके प्रतिपादक शब्दों का अधिक प्रयोग वैदिक परम्परा में परिवर्तन का संकेत करता है । वैदिक काल में और उसके

पश्चात् भी शिव का बलशाली और उग्र पक्ष ही अधिक प्रकाशित किया गया जबकि पौराणिक स्थलों पर शिव के दोनों स्वरूपों की चर्चा की गई है ।

शिव के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कल्पित कथायें

प्रस्तुत पुराण में शिव के सम्बन्ध में विभिन्न कथायें वर्णित हैं जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय इस प्रकार हैं -

1. दक्ष यज्ञ की कथा

स्वायम्भुव मन्वन्तर में दक्ष के आठ पुत्रियाँ थीं जिनमें शिव की पत्नी सती सबसे बड़ी थीं । महादेव की अपने श्वसुर के प्रति श्रद्धा नहीं थी । एक बार सती को छोड़कर दक्ष ने अपनी सभी पुत्रियों को निमन्त्रित किया । जब सती को ज्ञात हुआ तब वे बिना बुलाये ही पिता के यहाँ चली गईं । सती के पिता द्वारा उनका अन्य बहनों के समान सत्कार नहीं किया गया जिससे क्रोधित होकर उन्होंने पिता से निरादर का कारण पूछा । तब दक्ष ने उत्तर दिया कि महादेव मेरे विरुद्ध हैं और तुम उन्हीं की आत्मा हो अतः मैं तुम्हारा सत्कार नहीं कर सकता । यह सुनते ही सती ने क्रुद्ध होकर पिता से कहा कि मन, वचन और कर्म से पवित्र होते हुए भी आप मेरा तिरस्कार कर रहे हैं । इस कारण आपसे उत्पन्न शरीर को मैं छोड़ देती हूँ। इसके पश्चात् सती ने मन में अग्नि की धारणा करके सम्पूर्ण शरीर को जला दिया । महादेव को जब समाचार मिला तब उन्होंने दक्ष को पुनर्जन्म लेने का शाप दिया ।

इस प्रकार शापग्रस्त दक्ष प्राचेतस दक्ष के रूप में उत्पन्न हुए । एक बार गंगा द्वार पर प्राचेतस दक्ष ने यज्ञ आरम्भ किया । अपने अपने विमानों पर सभी देवगण यज्ञ-स्थान पहुँचे । इस प्रकार सभी प्राणी आमन्त्रित होकर यज्ञ में सम्मिलित होने आये । इसी समय दधीचि ने दक्ष से कहा कि अपूज्यों को पूजने तथा पूज्यों का तिरस्कार करने वाला पाप का भागी होता है । आपने पूज्यनीय महादेव को किस कारणवश नहीं बुलाया । दक्ष ने उत्तर दिया कि ग्यारह प्रकार के शूलधारी कपर्दी रुद्र मेरे यज्ञ में

उपस्थित हैं और महेश्वर को मैं नहीं जानता । दधीचि के परामर्श को तिरस्कृत करके दक्ष ने विष्णु को मन्त्रपूत हवि समर्पित कर दी । इसी समय शिव की पत्नी उमा ने सभी देवताओं को यज्ञ में जाते हुए देखकर शिव से पूछा कि उन्हें किस कारण निमन्त्रित नहीं किया गया । शिव ने उत्तर देते हुए बताया कि सुरों के द्वारा यज्ञ में हमारे लिये कोई भाग न रखने की व्यवस्था की गई है । उमा को यह सुनकर दुःख हुआ और अपने पति का निरादर प्रतीत हुआ । शिव ने उन्हें समझाने का प्रयास किया किन्तु उमा ने प्रताड़ित करते हुए कहा कि शिव केवल स्त्रियों के बीच आत्मप्रशंसा करना जानते हैं । इससे क्रुद्ध होकर शिव ने वीरभद्र नामक एक भूत उत्पन्न करके दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने का आदेश दिया । वीरभद्र ने रुद्र गणों के साथ यज्ञ का विनाश किया । सभी देवगणों और दक्ष ने वीरभद्र से दया की विनती की परन्तु वीरभद्र ने सबको उमापति की शरण में जाने के लिये कहा । इसी समय दक्ष की स्तुति द्वारा शूलपाणि महेश्वर को प्रसन्न किया गया और अग्निकुण्ड से स्वयं देवाधिदेव शंकर प्रकट हुए । इस स्थल पर दक्ष के द्वारा की गई अत्यन्त विस्तृत महेश्वर की स्तुति आलोचित पुराण में प्राप्त होती है ।[58]

2. शिव के नीलकण्ठ नामकरण की कथा

प्राचीन काल में देवों और असुरों ने अमृत के लिये समुद्रमन्थन किया । इसमें सर्वप्रथम मारक विष निकल आया जिसे लेकर देव-दानव ब्रह्मा के निकट पहुँचे । ब्रह्मा ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उनसे कहा कि इस कालाग्नि के समान विष को केवल शंकर भगवान ही सहन कर सकते हैं । इसके पश्चात् ब्रह्मा ने शिव की स्तुति प्रारम्भ की और उनसे विष पान का निवेदन किया । शिव के द्वारा उनका निवेदन स्वीकार किया गया और तभी से वे 'नीलकण्ठ' के नाम से जाने जाते हैं ।[59]

3. शिव लिंगोद्भव की कथा

महाबली विष्णु ने जब बलि को बाँध दिया तब इन्द्रादि समस्त देवगण एवं सिद्ध ब्रह्मर्षि अत्यन्त प्रसन्न होकर त्रैलोक्याधिपति को बधाई देने गये । लेकिन विष्णु

ने अपनी सफलता का श्रेय देवाधिदेव शिव को दिया जिनकी कृपा से प्राचीन काल में उन्हें सिद्धत्व प्राप्त हुआ । तब इस सम्बन्ध में विष्णु ने एक वृत्तान्त सुनाया । पूर्वकाल में जब तीनों लोकों में अन्धकार व्याप्त था और जीवगण हमारे उदर में निवास कर रहे थे, उस समय हम भी सो गये । कुछ समय पश्चात् दूर पर अत्यन्त दीप्तिमान एक योगी पुरुष को देखा जो स्वयं ब्रह्मा थे । हमारे निकट आकर ब्रह्मा ने हमसे कहा कि आप कौन हैं और स्वयं को चतुरानन, लोकों के कर्त्ता एवं स्वयम्भू बताया । ब्रह्मा द्वारा पूछे जाने पर हमने भी जगत के सृजनकर्ता और संहारक के रूप में अपना परिचय दिया । जिस समय हम दोनों सृष्टि रचना में अपने योगदान की चर्चा कर रहे थे उसी समय दूरी पर अद्भुत तेज युक्त ज्वालामण्डल देखा जो समस्त लोकों को आवृत्त कर रहा था । अत्यधिक आश्चर्यचकित होकर हम दोनों उसे देखने के लिये उत्सुक हो उठे और ज्वालामण्डल के मध्य भयंकर रूप वाले लिंग को देखा । उसके आकार और विस्तार से प्रभावित होकर ब्रह्मा ने हमसे कहा कि इसकी सीमायें किसी प्रकार ज्ञात करनी चाहिये । आप इसके निम्न भाग में जाइये और मैं ऊपर की ऊपर की ओर इसका अन्त देखने जा रहा हूँ । परन्तु हम लोगों का यह अभियान व्यर्थ ही रहा । हम दोनों शिव की माया से मोहित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और अपना मार्ग तक नहीं पा सके । इससे भयभीत होकर हमने शिव की आराधना प्रारम्भ की जो हमारी चिन्ता निवारण कर प्रकट हुए ।[60]

48 वाराणसी नगर के विनाश की कथा

प्राचीन काल में काशीराज सुनहोत्र के वंश में उत्पन्न होने वाले दीर्घतमा ने पुत्र प्राप्ति के लिये तपस्या करके धन्वन्तरि को प्रसन्न किया और उनके ही पुत्र रूप में उत्पन्न होने की इच्छा व्यक्त की । तत्पश्चात् वरदान स्वरूप दीर्घतमा के पुत्र रूप में धन्वन्तरि हुए और उनके पौत्र परम प्रतापशाली राजा भीमरथ ही वाराणसी के सुप्रसिद्ध राजा दिवोदास नाम से विख्यात हुए । इन्हीं के राज्यकाल में क्षेमक राक्षस के घुस आने से वाराणसी नगरी जनहीन हो गई थी । प्राचीन काल में वाराणसी को एक सहस्त्र वर्ष तक जनहीन होने का शाप निकुम्भ ने दिया था । इस विषय

में कथा है कि महादेव विवाहोपरान्त पत्नी को प्रसन्न करने के लिये श्वसुर हिमवान के घर में निवास करने लगे। पार्वती की माता मैना उनके इस व्यवहार की भर्त्सना किया करती थीं और एक दिन उन्होंने महेश्वर के प्रति पार्वती से अपशब्द कहे। इस पर खिन्न होकर पार्वती महादेव से बोली कि वे अब पितृगृह में नहीं रहेंगी। देवी के ऐसा कहने पर महादेव ने तीनों लोकों में अपने योग्य स्थान सिद्ध क्षेत्र वाराणसी को ही पसन्द किया। यहाँ पर दिवोदास का शासन था। अतः महादेव ने अपने गणेश्वर क्षेमक को आदेश दिया कि मृदुल उपायों से इस नगरी को खाली कराओ क्योंकि वहाँ महान पराक्रमी दिवोदास का अनर्थ न हो। इस प्रकार शिव की आज्ञा से क्षेमक वाराणसी पहुँचा और मंकन नामक नाई को स्वप्न दिया कि मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। तुम इस नगरी के अन्तिम छोर पर निकुम्भ की प्रतिमा स्थापित कर दो। इस प्रकार नाई ने आदेशानुसार विधिपूर्वक प्रतिमा स्थापित की और उस स्थान पर गणेश्वर की नित्यप्रति पूजा होने लगी। इससे सन्तुष्ट होकर उसने भी नगरवासियों को सहस्त्रों वरदान दिये। इसी से प्रेरित होकर राजा दिवोदास की पत्नी ने भी पुत्र प्राप्ति की कामना से अनेक बार पूजा याचना की किन्तु निकुम्भ ने अपने लक्ष्यपूर्ति के कारण रानी को वरदान नहीं दिया। इसी से क्रुद्ध होकर राजा दिवोदास ने निकुम्भ का स्थान नष्ट करा दिया। अपने निवास स्थल को विनष्ट देखकर गणेश्वर निकुम्भ राजा के पास जाकर बोले कि निरपराध ही तुमने इस स्थान को नष्ट करवा दिया। अतः तुम्हारी यह नगरी भी बिना किसी कारण जनहीन हो जायेगी। इस प्रकार शाप देकर निकुम्भ ने वहाँ महादेव जी को बुलाया गया जहाँ उनके द्वारा दैविक विभूतियों से पुनर्निर्माण किया गया और वहीं देवाधिदेव महेश्वर स्थाई रूप से निवास करने लगे।[61]

शिव और यज्ञ

वैदिक भावना के अनुसार रुद्र को यज्ञ के अवसर पर अन्य देवताओं के साथ आहूत नहीं करते थे। गोभिल गृह्यसूत्र में यज्ञ में निमन्त्रित देवताओं की सूची में रुद्र का नामोल्लेख नहीं है।[62] इसके अतिरिक्त अधिकांश गृह्यसूत्रों में शूलगव नामक यज्ञ की चर्चा है जो रुद्र को प्रसन्न करने के लिये ग्रामसीमाओं के बाहर किया जाता था।

इस नियम से यज्ञ के अमांगलिक स्वरूप का स्पष्ट संकेत मिलता है । अतः इस समय तक रुद्र उग्र देव ही माने जाते थे और यज्ञ के अन्त में उन्हें शान्त करने के लिये प्रार्थना की जाती थी ।[63] आलोचित पुराण में भी इस परम्परा का पालन मिलता है । एक स्थल पर कहा गया है कि शिव यज्ञ में निमन्त्रण के योग्य नहीं है ।[64] शिव को यज्ञ के लिये घातक भी माना गया है ।[65]

वायु पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मा के आदेश पर शिव द्वारा सौ रुद्र उत्पन्न किये गये और अन्य देवताओं के साथ यज्ञीय भाग पर उनका अधिकार भी निर्धारित किया गया । इसके अतिरिक्त स्वयं महादेव द्वारा महाबली शतरुद्रों के लिये भूलोक एवं अन्तरिक्ष में महाप्रलयपर्यन्त यज्ञीय देवता होने का आश्वासन दिया गया । शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि जब सोम यज्ञ के अग्निचयन का पाँचों प्रस्तार समाप्त हो जाता था, उस समय शतरुद्रों की अर्चना की जाती थी ।[66] इस प्रकार यज्ञ के अवसर पर शतरुद्रों की उपासना वैदिक काल में की जाती थी जिसका समर्थन आलोचित पुराण में भी प्राप्त होता है ।

शिव के अनुचर

आलोचित पुराण में वर्णित है कि कश्यप की पत्नी भूति से भूत उत्पन्न हुए जो रुद्र के अनुचर हुए ।[67] एक अन्य प्रसंग में उन्हें भूतों का प्रभु कहा गया है । शिव और उमा ने उमावन में भूतों के साथ रहते हुए सुखपूर्वक दिन व्यतीत किये, ऐसा एक स्थल पर कहा गया है । इसके अतिरिक्त अन्यत्र उल्लिखित है कि अनेक प्रकार के भयंकर मुँह वाले, विकट, स्थूल, लम्बे केशों वाले, नाना वर्ण और आकृति धारण करने वाले देदीप्यमान भूतप्रेतादि नृत्य और विभिन्न वाद्य यन्त्रों के संगीत द्वारा महादेव का मनोरंजन करते हैं ।[68] भूतवट नामक वृक्ष के ऊपर नीचे निवास करने वाले भूतों के मुख अनेक पशुओं के हैं और भयंकर कोलाहल के साथ वहाँ महादेव की पूजा करके वे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं । हाथों में कपाल लिये हुए वे राक्षसों के समान विकराल दृष्टिगोचर होते हैं । उनके न पत्नी और न ही बच्चे हैं तथा सभी ब्रह्मचारी हैं ।

आत्मयोगी भूतगण एकमात्र महादेव में चित्त लगाने वाले हैं। ब्रह्मा ने शूलपाणि महेश्वर को भूतों एवं पिशाचों का स्वामी नियत किया।[69]

रुद्रों के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि जब ब्रह्मा ने महेश्वर को प्रजाओं की सृष्टि करने के लिये कहा, तब उन्होंने भार्या सती का ध्यान करके समान गुण व स्वभाव वाले आत्मसम अनेकानेक मानस सन्तानों को उत्पन्न किया हजार हजार का दल बाँधकर वे सभी रुदन और द्रवण कर रहे थे। अतः वे रुद्र कहलाये और रुद्रत्व को प्राप्त किया। दक्ष यज्ञ की कथा में रुद्रों के द्वारा यज्ञ भंग करने में वीरभद्र की सहायता की गई और इस स्थल पर अपेक्षाकृत अन्य स्थलों के उनकी महत्ता अधिक प्रतिपादित की गई है। रुद्रों को गण या गणपति अर्थात् कर्मकारों, कुम्भकारों, तक्षक, निषादों का पति भी कहा गया है।

असुर, राक्षस, दैत्य आदि सभी के स्वामी शिव कहे जाते हैं। प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर उन्हें देवों और दानवों द्वारा समान रूप से पूजित कहा गया है।[70] तथा इसके साथ ही दोनों में सर्वश्रेष्ठ भी बताया गया है। नर्मत नामक पराक्रमी शौर्यसम्पन्न देवराक्षसों के सैकड़ों गण जगत पति शंकर के अनुचर हैं और त्र्यम्बक पर श्रद्धा रखते हैं।[71] वाराणसी के विनाश की कथा में शिव के अनुचर क्षेमक का उल्लेख राक्षस के रूप में हुआ है।

भूत, पिशाच, रुद्र, असुर आदि के अतिरिक्त यक्ष, विनायक, नाग, गन्धर्व आदि भी शिव से सम्बद्ध माने जाते हैं। यक्षों के स्वामी कुबेर को महादेव का सखा कहा गया है।[72] इसके अतिरिक्त एक स्थल पर वर्णित है कि जिस घर में महादेव की उपासना की जाती है वहाँ यक्ष, नाग, पिशाच, विनायक आदि कोई विघ्न बाधा नहीं डालते हैं। नाग, सिद्ध, देव आदि भी लोककल्याण कारक शिव की पूजा करते हैं।

इस प्रकार शिव को रुद्रों से सम्बद्ध करने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है।[73] इसी कारण मरुत् तथा

रुद्र की स्तुति एक साथ की गई प्राप्त होती है । मरुतों को 'रुद्रिय' संज्ञा देने का भी यही कारण है । परन्तु भूत पिशाच एवं राक्षसों से सम्बद्ध करने की भावना वेदोत्तरकालीन प्रतीत होती है । अथर्ववेद में रुद्र शिव को भूतों का स्वामी अवश्य कहा गया है किन्तु यहाँ भूतपति से अभिप्राय प्राणिमात्र से है ।

शिव, तप और योग

शिव ब्रह्मा से कहते हैं कि जो तप के माध्यम से मुझे सर्वगामी ईश्वर शिव के रूप में देखेंगे, उनका शरीर छोड़ने के बाद पुनर्जन्म कभी नहीं होगा । आलोचित पुराण के इसी प्रसंग में अन्यत्र शिव कहते हैं कि गुह्य पद में अवस्थित हमको तुमने अपनी तपस्या के प्रभाव से सनातन पुरुष के रूप में जाना अतः जो इसी प्रकार हमें जानेगा उसे शिव से एकत्व प्राप्त होगा और पुनर्जन्म का भय नहीं रहेगा ।[74] दुःख से पीड़ित योगी भी शिव को 'वह कहाँ है' कहकर ढूढते हैं । इसके अतिरिक्त इसी सन्दर्भ में शिव को तपोनिधि और महायोगी जैसे विशेषण भी दिये गये हैं तथा योगबल से योगिगण आपको जानकर भोगों का परित्याग करते हैं और आपकी प्रकृति से श्रेष्ठ ज्ञान का लाभ कर मृत्यु मुख से बचकर अमर हो जाते हैं ।[75] आलोचित पुराण में उल्लिखित है कि उमातुंग पर एक पैर से खड़े होकर, महादेव ने पूर्ण एक देवयुग तक बिना अन्न ग्रहण किये कठोर तपस्या की थी । कौशिकी नदी के तट पर परम बुद्धिमान महादेव ने मुण्डपृष्ठ पर पदन्यास करके अनेक देवयुगों तक दुर्गम तपस्या की थी ।[76] शिव के प्रति उच्चारित अनेक स्त्रोतों में उन्हें ऊर्ध्वरेता, तपोनित्य आदि कहकर भी सम्बोधित किया गया है । देवों और दानवों की अत्यन्त कठिन तपस्या के फलस्वरूप महादेव ने पशुपाश विमोचक पाशुपत व्रत को उत्पन्न किया ।[77] शिव के अनेक अवतारों में, जो भविष्य में उनके पुत्र होंगे उनके द्वारा भी तप किया गया है । चौदहवें अवतार में एक पुत्र का नाम ही उग्रतपस होगा ।[78] गंगा के निमित्त राजा भगीरथ ने भी कठोर तप के द्वारा महादेव को प्रसन्न करके वरदान प्राप्त किया था ।[79] इस प्रकार प्रस्तुत पुराण में महेश्वर को तपस्या द्वारा आनन्दित होने वाला बताया गया है ।

शिव का उदर सिद्ध योगियों का निवास स्थान

आलोचित पुराण के माहेश्वरावतार योग नामक 23वें अध्याय में विस्तार से महादेव के भविष्य में होने वाले अवतारों का वर्णन किया गया है । प्रत्येक अवतार में रुद्र शिव के चार पुत्र अथवा अनुयायी होंगे जो 'योगात्मना:' अथवा योग से सम्बद्ध रूप में उल्लिखित हैं । योग पालन के द्वारा सद्‌मूर्ति होने के पश्चात् वे सभी उच्चतम लोक 'रुद्र लोक' में गमन करेंगे । उनके विषय में वर्णित है कि 'रुद्रलोक' में प्रवेश से पहले उन्होंने 'महेश्वर योग' को प्राप्त किया है । इसके अतिरिक्त इसी स्थल पर कहा गया है कि विभिन्न कल्पों में कुमार (महेश्वर) से अनेक कुमार उत्पन्न होंगे । वे भी धर्म अथवा योग की शिक्षा देकर शिव में विलीन हो जायेंगे । स्वयं महादेव ने भी पृथ्वी पर हैमक वन में योगसाधना की है । जब भी कल्प का अन्तिम चरण प्रारम्भ होगा रुद्र शिव योग माया द्वारा समस्त जगत का विनाश कर देंगे । ब्रह्मा से शिव कहते हैं कि तुम और विष्णु दोनों ही माहेश्वर योग की शक्ति से चमत्कृत हो जाओगे । स्वयं महादेव के योग के कारण ही कमल की उत्पत्ति हुई जहाँ से ब्रह्मा ने प्रादुर्भूत होकर सृष्टि की रचना की ।[80] इस प्रसंग में तत्त्व योग की भी चर्चा की गई है । योग का आश्रय लेकर ही महेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की है ।[81] शिव ने एक स्थल पर दक्ष से कहा है कि उन्होंने योग, सांख्य और वेदों को बल प्रदान करने के लिये ही पाशुपत व्रत का विधान किया है ।[82] प्रस्तुत पुराण में विभिन्न स्थलों पर रुद्र शिव को 'योगेश्वर' की संज्ञा भी दी गई है ।

इसके अतिरिक्त इस पुराण में प्रत्येक योगी को महेश्वर के छ: 'अंगों' और सात 'सूक्ष्मों' को जानने का परामर्श दिया गया है । इसी के द्वारा उन्हें परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है ।[83] प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण ये पाँच धर्म स्वयं महादेव द्वारा 'पाशुपत योग' के लिये निर्धारित है ।[84] इस स्थल में देवाधिदेव शिव को ज्ञान, वैराग्य, तपस्या, ऐश्वर्य, सत्य, क्षमा, धैर्य, सृष्टि

योग्यता, शासन गुण एवं आत्मसंबोध इन दस गुणों से युक्त बताया गया है ।

<u>शिव के अवतार</u>

इस सम्बन्ध में आलोचित पुराण में अवतारों की संख्या 28 दी गई है । इस प्रसंग में ब्रह्मा महादेव से प्रश्न करते हैं कि कब, किस काल में और किस युग में द्विजातिगण आपके दर्शन प्राप्त कर सकेंगे तथा किस प्रकार, तत्त्वयोग द्वारा अथवा ध्यान धारणा से ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महादेव ने सविस्तार अपने अवतारों एवं उनके चार पुत्रों अथवा अनुयायियों के नाम बताये । इसके अतिरिक्त स्वयं प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र व्यास किस नाम से अवतरित होंगे, इस पर भी रुद्र शिव के द्वारा प्रकाश डाला गया । प्रथम अवतार श्वेत नामक, द्वितीय सुतार नामक, तीसरा दमन नामक, चतुर्थ सुहोत्री, पंचम कंक, छठा लोकाक्षि, सातवां जैगिषव्य होगा । इन सभी नामों के साथ प्रस्तुत पुराण में व्यास के नाम भी उपलब्ध हैं परन्तु आठवां केवल व्यास का वसिष्ठ नाम ही दिया गया है और शिव के अवतार का नामोल्लेख नहीं है ।[85] श्री पाटिल महोदय ने अवतारों की तालिका में वसिष्ठ ही संयुक्त किया है ।[86] नवां अवतार ऋषभ नाम से होगा और दसवें अवतार का नाम भी अनुपलब्ध है । 11वां कलिकाल में गंगा द्वार पर होगा जबकि उग्र नामक महानाद करने वाले अत्यन्त बलशाली लम्बोदर, लम्ब, लम्बाक्ष और लम्बकेश नामक चार पुत्र होंगे ।[87] यहां पुनः नामाभाव है । 12वां अत्रि, 13वां बालि, 14वां गौतम, 15वां वेदशिरा, 16वां गोकर्ण, 17वां दारुक, 22वां लांगली, 23वां श्वेत नामक सुधार्मिक मुनिपुत्र रूप में, 24वां शूली नामक महायोगी का, 25वां दण्डी मुण्डीश्वर, 26वां सहिष्णु, 27वां द्विजोत्तम सोमशर्मा और 28वां नकुलिन होगा । अन्तिम अवतार के सम्बन्ध में वर्णित है कि योगात्मा होकर योगमाया द्वारा श्मशान में अनाथ मृत शरीर में प्रविष्ट होकर ब्रह्मचारी रूप में प्रादुर्भूत होंगे । यह अवतार कायारोहण नामक सिद्ध क्षेत्र में होगा ।[88] महादेव के सभी अवतारों से सम्बन्धित पुत्रों की चर्चा वेद पारंगत ब्राह्मणों के रूप में की गई है ।

स्कन्द कार्त्तिकेय

आलोकित पुराण के एक स्थल पर कार्तिकेय को देवसेनापति कहा गया है।[89] श्राद्ध कल्प में इनके जन्म से सम्बन्धित कथा वर्णित है जिसके अनुसार उमा और शंकर के दाम्पत्य प्रेम के फलस्वरूप उनसे होने वाली सन्तति के भय से इन्द्र ने अग्नि को उनके रतिकर्म में बाधा डालने के लिये नियुक्त किया। अग्नि ने इन्द्र की आज्ञा का पालन किया जिससे उन्हे शिव का तेज वहन करना पड़ा और उमा ने भी क्रुद्ध होकर शाप दिया। इस प्रकार वर्षों तक अग्नि को गर्भधारण करना पड़ा तत्पश्चात् उन्होंने गंगा से गर्भधारण का निवेदन किया। महानदी गंगा ने अग्नि की [illegible] बाते सुनकर स्वीकार कर लिया और दीर्घकाल तक गर्भधारण करने के पश्चात् शरवण नामक वन में उस गर्भ का विमोचन किया। इस प्रकार रुद्र, अग्नि और गंगा का वह शिशु अरुण के समान कान्तिवान, सैकड़ों सूर्य के समान तेजस्वी एवं [illegible] था। सप्तर्षियों की पत्नियाँ, केवल अरुन्धती को छोड़कर, उसे देखने आईं तथा एक साथ ही मातृरूप होने के कारण सभी को देखने की इच्छा से कुमार ने छः मुखों की रचना कर ली।[90] दानवों को व्यथित (स्कन्दित) करने के कारण कुमार स्कन्द के नाम से विख्यात हुए। चूँकि कृत्तिकाओं ने उनकी सेवा की थी अतः कार्तिकेय कहलाये। इसके [illegible] स्कन्द को जाह्नवीसुत और शंकरात्मज भी कहा गया है।[91] विभिन्न देवतागण उनके लिये उपहारस्वरूप अनेक पशु लेकर आये। स्वयं महान् विष्णु ने गरुड़ से भी बलशाली दो पुष्टक नामक मयूर और कुक्कुट पक्षियों की स्कन्द की क्रीड़ा के लिये सृष्टि की। क्रौञ्चगिरि पर असुरश्रेष्ठ तारकासुर की माया का उन्मूलन कर अग्नि कुमार ने जब सम्पूर्ण सेना के साथ उसका संहार किया उस समय इन्द्र विष्णु जैसे देवताओं ने उन्हें सेनापति के पद पर अभिषिक्त किया। इसके पश्चात् विविध देवताओं, भूतों, शिव के गणों, मातृकाओं तथा विनायकों के समूहों ने उनका स्तवन किया।[92] शिव की नगरी के प्रसंग में उनके पुत्र पराक्रमशाली स्कन्द का उल्लेख 'शिखि वाहन' (मयूर वाहन) के रूप में किया गया है।[93]

इस प्रकार वायु पुराण में स्कन्द उत्पत्ति के सम्बन्ध अग्नि, गंगा, रुद्र शिव एवं पार्वती की चर्चा भिन्न भिन्न रूपों में की गई है । रामायण में भी स्कन्द को अग्नि और गंगा के संयोग से उत्पन्न कहा गया है और यह भी वर्णित है कि इसके पूर्व अग्नि ने शिव के तेज से गंगा का अभिषेक किया था ।[94] अतः स्कन्द पूजा प्रथम शताब्दी ईस्वी में निर्विवाद रूप से प्रचलित मानी जा सकती है ।

पार्वती

शिव के साथ पार्वती का वर्णन आलोचित पुराण में अनेक प्रसंगों में प्राप्त होता है । कैलास पर्वत के सम्बन्ध में एक स्थल पर वर्णित है कि इस पर्वत पर तपः शीला पार्वती के साथ महादेव का विवाह हुआ था ।[95] इसके अतिरिक्त दक्ष यज्ञ की कथा, वाराणसी के विनाश की कथा आदि स्थलों में भी पार्वती की महत्ता प्रतिपादित की गई है । शिव और पार्वती की संयुक्त रूप से उपासना का उल्लेख भी प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होता है । भद्राश्व के विषय में कहा गया है कि वहाँ के निवासी प्रतिदिन शिव और पार्वती की पूजा करते हैं ।[96] पार्वती और महादेव की एक साथ पूजा अर्चना का समर्थन अन्य साक्ष्यों से भी किया जा सकता है । महाभारत में विष्णु और लक्ष्मी के समान शिव और पार्वती का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य कहा गया है ।[97]

गणेश

आलोचित पुराण के किसी भी प्रसंग में गणेश का उल्लेख अनुपलब्ध है । एक स्थल पर वर्णित है कि देवी पार्वती ने महादेव से निवेदन किया कि मेरे इस आश्रम में जो भी पुरुष प्रवेश करेगा वह सुन्दर स्त्री रूप में परिवर्तित हो जायेगा । यह वचन सुनकर उस आश्रम में सभी भूत, पिशाच, पशु आदि जितने जीवगण थे, सभी ने स्त्री रूप धारण कर लिया । मृगया खेलते हुए मनु पुत्र सुद्युम्न भी जब उस उमा वन में प्रविष्ट हुए और परिणामस्वरूप सुद्युम्न भी स्त्री रूप को प्राप्त हुए तथा उन्होंने महादेव की कृपा से गणों का आधिपत्य अर्थात् गणपतित्व प्राप्त किया ।[98] एक अन्य वर्णन में

भव में भक्ति रखने वाले और कभी मदिरापान न करने वाले शूद्र को शिव की कृपा से सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले गणपति का पद प्राप्त होता है, कहा गया है।[99] ब्रह्माण्ड पुराण में गणेश के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। उन्हें शिव के गणों का स्वामी होने के कारण गणेश कहा जाता है। वाराणसी में गणेश की नित्य प्रति पूजा होती है।[100] इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण में भी वर्णित है कि शिव की बाईं ओर निर्मित पार्वती के निकट गणेश की प्रतिमा भी निर्मित होनी चाहिये।[101] पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा भी इन पुराणों में वर्णित स्थलों का समर्थन प्राप्त होता है। अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित शिव पार्वती की पाषाण निर्मित प्रतिमा में निचले भाग में गणेश की मूर्ति बनाई गई है।

आलोचित पुराण में उल्लिखित प्रसंगों की विवेचना के उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिव को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उन्हें अनेकत्व से विरहित और सांसारिक रूपों से भिन्न माना गया है। उन्हें ही पूर्ण आनन्द, परम पद और सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शिव की आठ मूर्तियों का तथा उनके अभिधानों का वर्णन उनकी व्यापकता प्रभावित करता है। शिव ही जब सत्व, रज और तम आदि गुणों से युक्त होकर सृष्टि रचना करते हैं तभी वे ब्रह्मादिक नामों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। शिव के वाम अंग से हरि और दक्षिण अंग से ब्रह्मा की तथा हृदय से रुद्र की उत्पत्ति होती है अतः मूल आधार शिव ही हैं। प्रस्तुत पुराण में वर्णित शिव का यह रूप वैदिक परम्परा में परिवर्तन का परिचायक है। वैदिक साहित्य, विशेषकर ऋग्वेद में इनका उल्लेख अधिक नहीं प्राप्त होता है परन्तु इसके साथ ही शिव के पौराणिक नामों एवं उनके स्वरूप पर वैदिक प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आलोचित पुराण में शिव के परिवार से सम्बन्धित पार्वती, स्कन्द, भूत, पिशाच आदि के विषय में भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सन्दर्भ

1. वायु पुराण, 10/66-67.

2. अत्येति देवानैश्वर्याद् बलेन च महासुरान् ।
   ज्ञानेन च मुनीन सर्वान् योगाद्भूतानि सर्वशः । तत्रैव, 10/62.

3. देवेषु महान देवो महादेवस्ततः स्मृतः । तत्रैव, 5/41.

4. तत्रैव, 30/307.

5. तत्रैव, 32/35.

6. तत्रैव, 32/7-26.

7. व्यक्ताऽव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत् । तत्रैव, 7/72.

8. ब्रह्मा कृतयुगे पूज्यस्त्रेतायां यज्ञ उच्यते ।
   द्वापरे पूज्यते विष्णुरहम्पूज्यश्चतुर्ष्वपि ।तत्रैव, 32/21.

9. तत्रैव, 55/51-65.

10. तत्रैव, 1/105.

11. दीक्षितार, सम एस्पेक्ट्स आफ दि वायु पुराण, पृष्ठ 26.

12. अत ऊर्ध्वं ----- । एकत्वञ्च ----- कीर्त्यति । वायु पुराण, 1/120.

13. तत्रैव, 24/128.

14. तत्रैव, 30/263.

15. भीमाय चोग्ररूपधाराय च ।
    क्रोधागारः प्रसन्नात्मा --- । तत्रैव, 24/259, 240.

16. ----- नदमानोऽतिभैरवम् । तत्रैव, 24/259.

17. क्रूराय विकृतायैव वीभत्साय शिवाय च । तत्रैव, 97/178.

18. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर, भाग 4, पृष्ठ 145-146.

19. ऋग्वेद, 7/40/3 एवं 1/114/10.

20. तत्रैव, 1/114/8.

21. श्वेताश्वतर उपनिषद, 11/2/26.

22. एषोऽत्र रुद्रो देवता ----- तस्मोद्देवा अबिभयुः ।
शतपथ ब्राह्मण, 9/1/1/1.

23. आर०जी० भण्डारकर, वैष्णव शैव एवं अन्य धर्म, पृष्ठ 160.

24. पशूनां पतये चैव ----- । वायु पुराण, 97/193.

25. ऋग्वेद, 1/114/9.

26. पशूनां पतये नमः । वाजसनेय संहिता, 16.1

27. पशुघ्नाय ----- दुर्गमाय च । वायु पुराण, 97/82.

28. तथैव नैऋतो नाम त्र्यंबकानुचरेण तु । तत्रैव, 69/167.
त्र्यंबकं यजामहे ------- । ऋग्वेद, 7/59/12.

29. नमः शर्वाय च पशुपतये च नीलग्रीवाय च शितिकंठाय चेति ।
वाजसनेय संहिता, 17.1

30. सर्वभूतपिशाचानां ----- शूलपाणिनम् । वायु पुराण, 69/289.

31. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि ----- वज्रबाहो । ऋग्वेद, 2/33/3/

32. नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ----- । अथर्ववेद, 15/1/7.

33. रुद्राणां वृषभध्वजम् । वायु पुराण, 70/6.

34. क्वस्य ते रुद्र ----- यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो ----- नु मा वृषभ चक्षमीथाः। ऋग्वेद, 2/33/7.

35. सन्ध्याभ्रवर्णाय बहुरूपिणे । वायु पुराण, 24/226.

36. बहुरूपांश्च ----- विरूपांश्च ----- । तत्रैव, 10/46.

37. तत्रैव, 55/38-39.

38. सहस्रं हि सहस्राणामसृजत्कृत्तिवाससाम् । तत्रैव, 10/43.

39. तत्रैव, 55/53-4.

40. वैदिक माइथालोजी, मैक्डोनल, पृष्ठ 74.

41. सर्वभूतपिशाचानां गिरिशं शूलपाणिनम् । वायु पुराण, 69/283.

42. याते ----- गिरिशन्ताभिचाकशीहीति । वाजसनेय संहिता, 16/1.

43. सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष ----- । वायु पुराण, 10/50.

44. तत्रैव, 55/55-56.

45. अस्ता नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि । अथर्ववेद, 11/2/7.
रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा । शतपथ ब्राह्मण, 9/1/1/6.

46. अग्निस्त्वं ----- कामदः प्रियः । वायु पुराण, 24/259.

47. त्वमग्ने रुद्रो ----- । ऋग्वेद, 2/1/6.

48. तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नेय । अथर्ववेद, 7/83.

49. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 473.

50. स्थिरभिरंगैः पुरूरूप ----- शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
ईशानदस्यभुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यं । ऋग्वेद, 2/33/9.

51. हैमवीराम्बराय च । वायु पुराण, 24/92.

52. तत्रैव, 55/42-44.

53. या ते रुद्र शिवातनूरघोरा पापनाशिनी ।
असौ ----- सुमंगलः । वाजसनेय संहिता, 16/1.

54. सौम्याय चैव पुण्याय धार्मिकाय शुभाय च । वायु पुराण, 97/179.

55. नमः प्रियाय वरदाय मुद्रामणिधराय च । तत्रैव, 24/246.

56. ऋग्वेद, 1/114/9.

57. वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, आर०जी० भण्डारकर, पृष्ठ 159.

58. वायु पुराण, अध्याय 30.

59. तत्रैव, अध्याय 54.

60. तत्रैव, अध्याय 55.

61. तत्रैव, अध्याय 92.

62. गोभिल गृह्यसूत्र, 1/8/28;
कीथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ द वेद, वाल्यूम 31-32, पृष्ठ 145.

63. कीथ, वही, पृष्ठ 145.

64. तस्मात्तार्द्धं सुरैर्यज्ञैन त्वां पश्यन्ति वैद्विजा: । वायु पुराण, 30/63.

65. समाघाताय दण्डाय ----- । तत्रैव, 30/194.

66. अथातः शतरुद्रियं जुहोति । शतपथ ब्राह्मण, 9/1/1/1.

67. मूर्तिर्विजज्ञे भूतांश्च रुद्रस्यानुचरान् प्रभोः । वायु पुराण, 69/236.

68. तत्रैव, 40/24-26.

69. तत्रैव, 69/288.

70. तत्रैव, 30/317.

71. तत्रैव, 69/173-175.

72. तत्रैव, 41/1-8.

73. ऋग्वेद, 1/114/6.

74. वायु पुराण, 23/95-97, 66-67.

75. तत्रैव, 24/163-164.

76. तत्रैव, 77/81, 102.

77. तत्रैव, 30/293-295

78. तत्रैव, 23/163-164.

79. तत्रैव, 47/36.

80. तत्रैव, 34/41-44.

81. तत्रैव, 1/7.

82. तत्रैव, 30/293-295.

83. तत्रैव, 12/32.

84. तत्रैव, 10/70-76.

85. वायु महापुराण, अनुवादक श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ 69.

86. कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम दि वायु पुराण, डी०आर० पाटिल, पृष्ठ 61.

87. वायु पुराण, 23/152-153.

88. तत्रैव, 23/220-222.

89. तत्रैव, 53/31.

90. तत्रैव, 72/30-45.

91. तस्मिन् जाते महाभागे कुमारे जाह्नवीसुते ।
उपतस्थुर्महाभागमाग्नेयं शंकरात्मजम् । तत्रैव, 72/34-37.

92. तत्रैव, 72/48-50.

93. तत्रैव, 101/279-281.

94. समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिंचत् पावकः । रामायण, 1/37/14.

95. विवाहोऽत्र रुद्रस्य ------- तपस्तप्तवती चैव यत्र देवी वरांगना ।
वायु पुराण, 41/31.

96. ते भक्त्या शंकरं देवं गौरीं ----- । तत्रैव, 43/38.

97. महेश्वरं पर्वतराजपुत्री । आदिपर्वणि स्वयंवर पर्व, 183/30.

98. वायु पुराण, 85/28.

99. तत्रैव, 101/351-55.

100. ब्रह्माण्ड पुराण, एवं संपूज्यते तत्र नित्यमेव गणेश्वर: । 3/67/46.

101. मत्स्य पुराण, 260/18.

सौर धर्म एवं सूर्य उपासना

आलोचित पुराण में विष्णु और शिव की तुलना में सूर्य को गौण स्थान अवश्य दिया गया है परन्तु सूर्य एक ऐसे देवता थे जिनकी उपासना प्राचीन काल से ही की जाती रही । आकाश में दृष्ट प्रभामण्डल के रूप में सूर्य की उपासना एक काल्पनिक देवता के रूप में न की जाकर प्रतिदिन उनके दर्शन के आधार पर ही की गई । इसके साथ ही सूर्य को विष्णु का अंश माना गया । विष्णु पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि ऋग, यजु: और साम तीनों विष्णु की त्रयी शक्ति है । यह वैष्णवी शक्ति सूर्य में सदा वर्तमान रहती है ।[1] अन्यत्र ब्रह्मा विष्णु की आराधना करते हुए कहते हैं कि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य विष्णु के ही रूप है ।[2] इस प्रकार हिन्दुओं के पंचदेवों में सूर्य को स्थान दिया गया ।[3] भण्डारकर की धारणा है कि उदीयमान सूर्य अपनी चमकीली प्रभा द्वारा उन सभी तथ्यों को प्रकाशित कर देता है जो पूर्व-वर्तिनी रात्रि के अन्धकार में किये गये । अतः इसी आधार पर इस विश्वास का विकास हुआ कि सूर्य समस्त पापों को नष्ट कर देते हैं ।[4]

वैदिक साहित्य में सूर्य का विशद वर्णन प्राप्त होता है । ऋग्वेद में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है ।[5] इसी प्रकार सूर्य से अभिन्न बतलाया जाने वाला ब्रह्म समस्त जगत का कारण है और इसी से ये सम्पूर्ण वस्तुएँ उद्भुत होती हैं ।[6] इसके अतिरिक्त सूर्य को इन्द्र और विष्णु से उत्पन्न माना गया है ।[7] खादिर गृह्यसूत्र में सम्पत्ति के भोग और यश प्राप्ति के लिये सूर्य की आराधना का विधान किया गया है । इस प्रकार वैदिक काल से ही धन, अन्न, यश, स्वास्थ्य तथा अन्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिये सूर्य पूजा होती रही । आचार्य उपाध्याय का कथन है कि वैदिक कथाओं के आधार पर ही पौराणिक सूर्य सम्बन्धी परम्पराओं का विकास हुआ ।[8] उत्तरवैदिक साहित्य और रामायण महाभारत में भी सूर्य उपासना का प्रचुर रूप से उल्लेख मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में द्वादशादित्य की गणना मिलती है जो पौरा-णिक काल तक अपेक्षाकृत और अधिक सुनिश्चित हो गई ।[9]

<u>सूर्य को अग्नि की अपेक्षा प्रमुख स्थान</u>

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि मनीषियों ने सूर्य को अग्नि बताया है।[10] इसी स्थल पर अग्नि सूर्य का सार भाग है, ऐसा कहा गया है।[11] ब्रह्माण्ड पुराण में भी सूर्य और अग्नि में एकत्व स्थापित किया गया है।[12] यहाँ पर वैदिक भावना में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि ऋग्वेद की ऋचाओं में अग्नि को सूर्य की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है। एक स्थल पर सूर्य अग्नि का रूप माने गये हैं।[13]

<u>आदित्य और सूर्य का एकात्म्य</u>

आलोचित पुराण में आदित्य को सूर्य का नामान्तर बताया गया है।[14] एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि कल्पान्त के अवसर पर रुद्र सप्तरश्मि दिवाकर की मूर्ति धारण कर आदित्य नाम से तीनों लोकों को भस्म करते हैं।[15] इसके अतिरिक्त वापुर के वृत्तान्त में वायु द्वारा देवताओं में ऐश्वर्यशाली वाडादित्य की प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि वे परम प्रतापशाली भगवान् सूर्य सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले, सर्वदायी, ऐश्वर्ययुक्त एवं परम प्रभु हैं। सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों से विभूषित, सहस्त्र किरण वाले, रत्नादेवी से संयुक्त वे श्रीमान् भगवान सूर्य त्रयीमय (सत्व, रज और तमोगुण) तथा समस्त त्रिलोकों के आधारभूत हैं।[16] इस प्रकार आदित्य और सूर्य को अभिन्न माना गया है। विष्णु पुराण में भी सूर्य की स्तुति करते हुए याज्ञवल्क्य उन्हें आदित्य के नाम से सम्बोधित करते हैं।[17] प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर बताया गया है कि दिव्य, पार्थिव और निशा सम्बन्धी अन्धकार का सब प्रकार से विनाश करने के कारण महान् तेजोराशि का नाम आदित्य हुआ है।[18] आदित्य और सूर्य की अभिन्नता वैदिक काल में ही स्थापित हो चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद के एक छन्द में उदयकालीन सूर्य के लिये आदित्य नाम का प्रयोग किया गया है।[19]

आदित्य और सूर्य का पृथकत्व

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में जब वैवस्वत मन्वन्तर में होने वाले देवताओं की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है, उसमें दक्ष की 14 कन्याओं को मरीचिपुत्र कश्यप द्वारा अंगीकार करने का उल्लेख किया गया है। इन्हीं चौदह कन्याओं में से एक अदिति थी जिसने अपनी आराधना द्वारा देवगणों को प्रसन्न किया और उसी के फलस्वरूप वैवस्वत मन्वन्तर में उन्होंने अदिति के गर्भ से उत्पन्न होने का निश्चय किया। अदिति से उत्पन्न होने के कारण देवगण आदित्य नाम से प्रख्यात हुए। धाता, अर्यमन्, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और सबसे छोटे विष्णु ये बारह आदित्य गण कश्यप के पुत्र कहे गये हैं और इनमें विष्णु सबसे छोटे होते हुए भी सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।[20] इन बारह आदित्यों और सूर्य के सम्बन्ध में सूचना अन्य पुराणों से भी प्राप्त होती है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि ये आदित्यगण विष्णु की शक्ति से वृद्धि पाकर सूर्यमण्डल में निवास करते हैं।[21]

ऋग्वेद से भी अदिति द्वारा उत्पन्न आदित्यों की सूचना का समर्थन प्राप्त होता है।[22] ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि आदित्य सूर्य का मार्ग बनाते हैं।[23] आदित्यों की संख्या के दृष्टिकोण से वैदिक परम्परा में परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष अंश तथा मार्तण्ड ये सात आदित्यों के नाम वर्णित हैं।[24] इनमें से मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण और अंश नाम पौराणिक साहित्य के ही समरूप हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर आठ आदित्यों की चर्चा की गई है परन्तु अन्यत्र बारह आदित्यों का उल्लेख किया गया है जिनके नाम नहीं वर्णित किये गये हैं।[25] पुराणों के रचनाकाल तक ही ये आदित्यों के नाम सुव्यवस्थित हुए जिनका मूल हमें वैदिक साहित्य में ही मिलता है।

सविता और सूर्य

आलोचित पुराण में ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं जहाँ पर सविता शब्द सूर्य के लिये

प्रयुक्त हुआ है । एक स्थल पर इसी महापुराण का गुणगान करते हुए बताया गया है कि समस्त पापों को दूर करने वाले, पुण्यप्रद, पवित्र, यशोदायक इस पुराण को भगवान् ब्रह्मा ने मातरिश्वा वायु के लिये प्रदान किया था, वायु से इसे शुक्राचार्य ने प्राप्त किया और उनसे बृहस्पति को इसकी प्राप्ति हुई । इसके उपरान्त बृहस्पति ने सविता को इसकी शिक्षा दी और सविता ने मृत्यु से कहा, मृत्यु ने पुनः इन्द्र को इसकी शिक्षा दी[26] और सविता ने मृत्यु को एक अन्य स्थल पर वर्णित किया है कि काल को उत्पन्न करने वाले सूर्य हैं और इन्हीं से कालों विभाग अर्थात् मास, ऋतु, अयन, ग्रह, नक्षत्र, शीत, ग्रीष्म, वर्षा, आयु, कर्म और दिवसों का विभाग होता है । ये ही आदित्य, सविता, भानु, जीवन और ब्रह्म सत्कृत कहे जाते हैं । भूतों के उत्पादक और अविनाशी होने के कारण ये भास्कर हैं ।[27] इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी सूर्य की स्तुति करते हुए याज्ञवल्क्य उन्हें विष्णु के नाम से सम्बोधित करते हैं ।[28] अन्यत्र जल उत्पन्न करने वाले सूर्य को सविता की संज्ञा दी गई है ।[29] इन पौराणिक स्थलों पर वैदिक परम्परा का प्रभाव दिखाई पड़ता है । ऋग्वेद में भी सूर्य के लिये प्रसविता और सविता जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है ।[30] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सविता को 'अपां नपात्' कहा गया है जिसको स्पष्ट करते हुए निरुक्त में यास्क ने सविता को जल का कारण कहा है ।[31]

पूषा और सूर्य की एकता तथा भिन्नता

प्रस्तुत पुराण में द्वादश आदित्यों में पूषा की गणना की गई है । गया महात्म्य प्रकरण में गयासुर के कम्पायमान शरीर को अधिकाधिक निश्चल करने के लिये आये हुए देवताओं में भगवान् जनार्दन पुण्डरीकाक्ष और ब्रह्मा के अतिरिक्त जिन देव-ताओं की चर्चा की गई है उनमें सूर्य के साथ साथ इन्द्र, बृहस्पति, पूषा, विश्वेदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, आदि उल्लिखित हैं ।[32] यहाँ पर वैदिक भावना का निर्वाह प्राप्त होता है जो कि ऋग्वेद में भी पूषा का वर्णन सूर्य से पृथक एक स्वतन्त्र देवता के रूप में हुआ है ।[33] परन्तु साथ ही ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं जहाँ पूषा को सूर्य से

सम्बन्धित दिखाया गया है ।[34] प्रस्तुत पुराण में पूषा का वर्णन उन आदित्यों के अन्तर्गत हुआ है जो सूर्य के रथ में अधिष्ठित रहते हैं । ऋग्वेद के छन्दों में भी एक स्थल पर पूषा का सूर्य के रथ का वहन करने वाले के रूप में उल्लेख मिलता है ।[35]

मार्तण्ड और सूर्य

ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में द्वादशआदित्यों के अन्तर्गत मार्तण्ड का उल्लेख हुआ है परन्तु आलोचित पुराण में मार्तण्ड और सूर्य को अभिन्न दिखाने की चेष्टा की गई है । एक प्रसंग में सूर्य को मार्तण्ड किस कारणवश कहा जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि प्राचीन काल में सूर्यदेव एक अण्डे के रूप में उत्पन्न हुए थे । दीर्घ काल तक अण्डा न फूटने पर विश्वकर्मा ने उसे फोड़ दिया परन्तु गर्भ हत्या के भय से कश्यपजी ने अण्डस्थ जीव से कहा कि इस मरे हुए अण्डे से तुम पुनः उत्पन्न हो । इसी आधार पर सूर्य को मार्तण्ड कहा जाता है ।[36] इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित है कि जिस समय याज्ञवल्क्य मुनि ने ध्यानावस्थित होकर सूर्य की आराधना की, उस समय आकाशमण्डल में जितने अपर सूर्य रूप ब्रह्म प्रतिष्ठित था उतने ही अपर उठकर सम्पूर्ण यजुर्वेद सूर्यमण्डल में आश्रय लेने लगा जिससे सन्तुष्ट होकर मार्तण्ड सूर्य देव ने सम्पूर्ण यजुर्वेद को अयस्थ धारण करने वाले, ब्रह्मज्ञानी, परम बुद्धिमान याज्ञवल्क्य को प्रदान किया ।[37] मत्स्य पुराण में भी उत्तरी दिशा में पूज्यनीय सूर्य को मार्तण्ड नाम दिया गया है ।[38]

विवस्वान एवं सूर्य

आलोचित पुराण में विवस्वान् को बारह आदित्यों में स्थान दिया गया है । इसके साथ ही ऐसे भी स्थल उपलब्ध हैं जहाँ पर विवस्वान् का प्रयोग सूर्य के लिये प्राप्त होता है । एक प्रसंग में वर्णित है कि विवस्वान् के परम तेजोमय रूप एवं चमकने वाले वर्ण को उनकी पत्नी विश्वकर्मा की पुत्री महादेवी संज्ञा सहन करने में असमर्थ हुई ।[39] अन्यत्र उल्लिखित वर्णन में वैवस्वत मन्वन्तर में अदिति के पुत्र विवस्वान् सूर्य बताये गये हैं और कहा गया है कि सहस्त्रीकरण विवस्वान् का स्थान अग्निमय शुक्लवर्ण है ।[40]

इसी प्रकार विष्णु पुराण में सूर्य की गति के सम्बन्ध में दक्षिणायन स्थित सूर्य के लिये विवस्वान् का उल्लेख मिलता है ।[41] ब्रह्माण्ड पुराण में भी सूर्य की उपासना करने वाले नृप शक्रजित के समक्ष स्थित सूर्य के लिये विवस्वान् शब्द का उल्लेख मिलता है ।[42]

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग हुआ है । एक छन्द में विवस्वान् का उल्लेख प्रातःकालीन सूर्य के लिये किया गया है ।[43] इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण के काल में विवस्वान् और आदित्य का तादात्म्य निश्चित रूप से स्थापित हो गया था । एक स्थल पर उल्लिखित है कि प्राणिमात्र की सृष्टि विवस्वान् आदित्य से हुई है ।[44] पौराणिक स्थलों से भी स्पष्ट हो जाता है कि विवस्वान् का प्रयोग आदित्य और सूर्य दोनों के सन्दर्भ में हुआ है अतः पौराणिक उद्धरण वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन विकास का परिणाम माने जा सकते हैं ।

भग, अर्यमन तथा सूर्य

आलोचित पुराण में भग और अर्यमन् दोनों ही आदित्यों के साथ वर्णित हुए हैं । ऋग्वेद में भी इसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त पौराणिक प्रसंगों में सूर्य के साथ अर्यमन् एवं भग में तादात्म्य स्थापित करने की भावना दृष्टिगोचर होती है । विष्णु पुराण में सविता के समान अर्यमन् का प्रयोग सूर्य के लिये किया गया है ।[45] यहाँ पर वैदिक परम्परा का निर्वाह नहीं प्राप्त होता है क्योंकि ऋग्वेद में अर्यमन् का वर्णन अधिकांश रूप से मित्र वरुण आदि देवताओं के साथ मिलता है ।[46] शतपथ ब्राह्मण में भी अर्यमन् की स्तुति पूषन्, बृहस्पति और वायु के साथ पृथक देवता के रूप में की गई है ।[47] इसी प्रकार भग का उल्लेख सूर्य के लिये मत्स्य पुराण में किया गया है जो वैदिक भावना में परिवर्तन का सूचक है । परन्तु भग की उपासना के सूत्र वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं । ऋग्वेद के एक छन्द में भग से धन, अश्व, रथ आदि के लिये प्रार्थना की गई है ।[48]

जीवन के स्त्रोत-सूर्य

आलोचित पुराण में वैदिक काल के समान ही सूर्य को प्राणिमात्र के जीवन का आधार माना गया है। ऋग्वेद में भी वर्णित है कि समस्त जगत सूर्य पर आधारित है।[49] इसी प्रकार प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि तीनों लोकों का मूल कारण निस्सन्देहात्मक रूप से सूर्य ही है। देवता, असुर एवं मनुष्यों से परिपूर्ण यह समस्त जगत सूर्य का ही है। रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र और चन्द्रादि देवों का जो तेज है, वह सूर्य का ही तेज है। सूर्य ही सर्वात्मा, सर्वलोकेश और मूलभूत परम देवता है। सूर्य से ही सब उत्पन्न हुए हैं और सूर्य में ही सब लीन होते हैं। पूर्वकाल में लोकों की उत्पत्ति और विनाश सूर्य से ही हुआ है। यह सम्पूर्ण जगत गृहमय है और सूर्य दीप्तिमान सुन्दर गृह है। जहाँ से बारम्बार क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, संवत्सर, ऋतु, वर्ष और युग आदि उत्पन्न होकर लय प्राप्त करते हैं, वह सूर्य ही है। सूर्य को छोड़कर दूसरे से काल की संख्या नहीं की जाती है। बिना काल के न ऋतुओं का विभाग होगा, न पुष्प खिलेंगे, न फल-मूल की उत्पत्ति होगी, न दैनिक कृत्य होंगे, न औषधियाँ बढ़ेंगी। संसार को प्रतप्त करने वाले और जल का अपहरण करने वाले सूर्य के अभाव में इस भौतिक जगत के अतिरिक्त स्वर्ग में देवों का व्यावहारिक कार्य अवरुद्ध हो जायेगा। अतः सूर्य ही काल है, अग्नि है और द्वादशात्मा प्रजापति है। उत्तम वायुमार्ग का अवलम्बन करके किरणों के द्वारा ऊपर नीचे, पार्श्वभाग तथा सभी स्थानों में ताप प्रदान करते हैं। सूर्य के प्रभाव से ही गृह-नक्षत्र-तारागण आदि वृद्धि प्राप्त करते हैं।[50]

सूर्य के इसी गुणगान वर्णन में उनके विविध नामों के आधारों की भी चर्चा की गई है। सूर्य चूँकि क्षीण नहीं होते हैं अतः इनका नाम नक्षत्र हुआ। पहले किरणों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में पतित होते हैं और उनके क्षेत्रों को ग्रहण करते हैं; इस कारण भी नक्षत्र कहलाते हैं। 'सु' धातु का अर्थ है स्फुरण अथवा क्षरण। तेज और जल का क्षरण करने के कारण सूर्य 'सविता' भी कहलाते हैं।[51] अन्यत्र कहा गया है कि चूँकि

हुए सूर्य जिस कारण तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं; इस कारण प्रकाशार्थक 'अव' धातु से प्रकाश करने के कारण 'रवि' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।[52]

आलोच्य पुराण के एक स्थल पर कहा गया है कि देव दिवाकर ही विश्वेश लोककर्ता, सहस्त्रांशु, प्रजापति, सम्पूर्ण लोकों के धारणकर्ता, प्रभु और विष्णु हैं । अन्यत्र वर्णित है कि सभी जीव जन्तुओं के शरीर में व्याप्त जल सूर्य देव के द्वारा दग्ध किये जाने पर भाप बनकर निकल जाता है । सूर्य का तेज किरण जाल से जीव जन्तुओं का जल ग्रहण कर लेता है, समुद्र के जल को भी किरणों के द्वारा वायुवेग से खींच लेता है । फिर सूर्यदेव ऋतु परिवर्तन होने पर स्वयं नवीनता धारण करते हैं और मेघों को निर्मल जल किरणों द्वारा प्रदान करते हैं । तब वायु द्वारा प्रेरित होने पर मेघों में रुका हुआ जल चारों ओर बरसने लगता है । इस प्रकार सभी जीवों का कल्याण सूर्य देव द्वारा किया जाता है ।[53] वास्तव में वृष्टि करने वाले सूर्य ही प्रस्तुत पुराण में बताये गये हैं और जिस जल को वे बरसाते हैं, वह जीवन के लिये अमृत तुल्य होता है । सूर्य के सम्बन्ध में इस पौराणिक भावना का निर्वाह वर्तमान समय तक सत्य माना जा सकता है जिसका सूत्रपात वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है । इसी प्रकार का विवरण विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी उपलब्ध होता है ।

ऋग्वेद में सूर्य के विभिन्न उपयोगी पक्षों पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है । एक स्थल पर सूर्य को जीवन के दिनों की दीर्घता का विधायक बताया गया है ।[54] अन्यत्र सूर्य को जगत और जीवों का चक्षु माना गया है ।[55] पौराणिक प्रसंगों में वैदिक भावना को मान्यता दी गई है और विविध स्थलों पर सूर्य के क्रिया कलापों का उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत पुराण में वर्णित है कि सूर्य के प्रकाश से युक्त दिन है और अन्धकारमयी रात्रि है । सूर्य के उदय और अस्त से ही दिन-रात की व्यवस्था होती है ।[56] इसी प्रकार का वर्णन ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है जहाँ पर सूर्य को दिन और रात्रि का मापन करने वाला कहा गया है ।[57]

<u>सौर रथ</u>

आलोचित पुराण में उपलब्ध सौर रथ का विवरण पूर्णत: वैदिक परम्परा से प्रभावित है । ऋग्वेद में सूर्य के रथ और सात अश्वों का वर्णन किया गया है ।[58] इसी प्रकार प्रस्तुत पुराण में भी सूर्य के महारथ में हरित वर्ण के दिव्य घोड़े जुते हुए होने का उल्लेख है जिनके शरीर की कान्ति पद्मराग मणि के समान है ।[59] अन्यत्र सूर्यरथ के सन्निवेश पर विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है । इस रथ में 'एक चक्का, पाँच अरायें और तीन नाभियाँ हैं । इस हिरण्यमय अत्यन्त भास्वर, महावेगशाली, षड्विध नाभि वाले और तेजोमय रथ के चक्र से अन्धकार को नष्ट करते हुए भगवान् सूर्य गमन करते हैं । इस रथ का विस्तार दस हजार योजन है और ब्रह्मा ने इसे सूर्य के लिये निर्मित किया है । यह रथ असंग, सुवर्णमय, दिव्य तथा परम वेगगामी अश्वों से युक्त है । इसके जितने अवयव हैं, वे संवत्सर के अंगों द्वारा यथाक्रम कल्पित हुए हैं। सूर्यरथ का नाभिस्थान दिन है । यही एक चक्र भी कहलाता है । पाँचों ऋतुएं उसकी अरायें हैं और छ: ऋतुयें नेमि कही गई हैं । रथ का मध्य स्थान वर्ष, दोनों जुए अयन, बन्धुर मुहूर्त, युगकील कला तथा सातों छन्द सप्ताश्व हैं । रथ के अक्ष में चक्र मिला हुआ है और चक्र ध्रुव से मिला हुआ है । इस प्रकार अक्ष के साथ चक्र और चक्र के साथ ध्रुव भी घूमा करता है । इस रथ की संरचना इस रूप में की गई है कि वह अतिशय प्रभा से युक्त हो गया है । रथ के युग और अक्षकोटि में इस प्रकार की दो किरणें संयुक्त हैं जो ध्रुव द्वारा परिचालित होने पर आकाश तल में रथ को मण्डलाकार बना देती हैं । यह भी कहा गया है कि प्रयोजन वश इसका संगठन किया गया है ।[60] प्रस्तुत पुराण में एक अन्य प्रसंग में वर्णित है कि ब्रह्मा द्वारा निर्मित इस रथ में देव, आदित्य, ऋषि, गन्धर्व, अप्सरायें, सर्प एवं राक्षस रहते हैं ।[61] मत्स्य, विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में भी सूर्य से सम्बन्धित रथ का इसी प्रकार का विवरण प्राप्त होता है ।

<u>सूर्य उपासना</u>

सूर्य पूजा का विधान अतिप्राचीन है । सरल रूप में यह वैदिक काल में भी प्रचलित थी और सामान्य रूप से कल्याणकारक देव को श्रद्धार्पण के लिये जटिल अनुष्ठानों

का विकास नहीं हुआ था। ऋग्वेद के एक छन्द में सूर्य की उपासना का लक्ष्य पाप का निवारण माना गया है।[62] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में सूर्य की स्तुति करते हुए उनकी किरणों को पवित्रता का कारण बताया गया है।[63] सूर्य पूजा की महत्ता के प्रतिपादक स्थल आलोचित पुराण में भी प्राप्त होते हैं जिनसे वैदिक भावना की निरन्तरता की पुष्टि होती है। यथः उदित सूर्य के प्रभामण्डल को ब्रह्मदेव के रूप में, मध्याह्न सूर्य को संहारक ईश्वर के रूप में तथा अस्त होते हुए सूर्य को पालक विष्णु के रूप में पूजने की परम्परा प्राप्त होती है। इस प्रकार सर्जन और विनाश का कारण तथा परम सत्ता मानते हुए सूर्य उपासना के प्रमाण मिलते हैं। इसी सम्बन्ध में प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि एक बार सन्ध्या काल में दुरात्मा राक्षसों ने सूर्य को खा जाना चाहा; किन्तु प्रजापति ने उन्हें शाप दे दिया जिससे उनकी तत्क्षण मृत्यु तो हो गई लेकिन उनकी देह सदा के लिये अक्षय हो गई। ये मन्देह नामक राक्षस संख्या में तीन करोड़ हैं। प्रतिदिन उदयकाल में ये सूर्य को खा जाना चाहते हैं तथा उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं। इसी समय ब्राह्मणों के साथ श्रेष्ठ देवता गण और ब्रह्मा उपासना करने लग जाते हैं एवं गायत्री तथा ओंकार से अभिमन्त्रित कर महा जल प्रदान करते हैं। उस वज्रभूत जल से वे दैत्यगण जल जाते हैं। इतना ही नहीं ब्राह्मण जन भी सर्वत्र अग्निहोत्र में यथाविधि आहुतियाँ देने लगते हैं जिसके फलस्वरूप सहस्त्र किरण वाले प्रभासम्पन्न सूर्य जगमगा उठते हैं। तब फिर महातेजस्वी, अत्यन्त द्युतिमान और महापराक्रमी भगवान् सूर्य सौ हजार योजन ऊपर उठ जाते हैं।[64] वायु पुराण से समानता रखने वाले स्थल विष्णु पुराण में भी प्राप्त होते हैं। गृहस्थ के कर्तव्यों के अन्तर्गत सूर्य को जलांजलि देना भी निश्चित किया गया है। अन्यत्र वर्णित है कि वित्तहीन प्राणी को सूर्य से अपनी हीनता निवेदित करते हुए पितरों को तृप्त करना चाहिये।[65] प्रस्तुत पुराण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि बालखिल्य ऋषिगण उदय होते ही सूर्य की अभिमत वचनों द्वारा स्तुति करते हैं और गन्धर्व अप्सरायें नृत्य गीतों से उनकी उपासना करती हैं।[66] इसी प्रसंग के पूर्ववर्ती स्थल पर कहा गया है कि सूर्यदेव प्रलयकाल पर्यन्त सभी जीवों की रक्षा करते हैं तथा प्रजाजन को वृष्टि और ताप द्वारा प्रसन्न करते हैं।[67]

सौर प्रतिमा, देवालय एवं व्रतादि नियम

पौराणिक स्थलों पर प्राप्त होने वाली सूचना से सूर्य प्रतिमा के सम्बन्ध में दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो उनकी मूर्ति निर्माण में चरणों का न होना और दूसरा कमल के साथ सूर्य का सम्बन्ध। मत्स्य पुराण के एक प्रसंग में कहा गया है कि पूजा कार्य में सूर्य के पद नहीं बनाने चाहिये। यदि कोई व्यक्ति पैरों के साथ सूर्य की आकृति निर्मित कर पूजा करता है, तो वह पाप का भागी होता है।[68] इसी प्रवृत्ति का समर्थन शतपथ ब्राह्मण से होता है जिसमें सूर्य को चरणविहीन बताया गया है।[69] उत्तरकालीन साक्ष्यों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। बृहत्-संहिता में सूर्य की प्रतिमा के शिरोभाग और वक्ष को प्रदर्शित करने का नियम प्राप्त होता है तथा मूर्ति के वक्षःस्थल के निचले भाग को गूढ़ रखना चाहिये।[70]

प्रस्तुत पुराण के अनुसार गया तीर्थ में चारों युगों का स्वरूप धारण कर सूर्य की चार मूर्तियाँ वहाँ प्रतिष्ठित हैं जिनके दर्शन, स्पर्श और पूजन करने से पितरों को मुक्ति प्राप्त होती है।[71] प्रस्तुत प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि सूर्योपासना में मूर्ति निर्माण की परम्परा पारसीक प्रभाव से मुक्त नहीं है। वराहमिहिर ने अपने एक श्लोक में बतलाया है कि सूर्य मन्दिरों तथा सूर्य मूर्तियों की प्रतिष्ठा एवं अभिषेक मगों द्वारा करवाया जाना चाहिये।[72] इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर के अनुसार मग ब्राह्मण सूर्य देव के विशेष पुरोहित थे। भविष्य पुराण में भी इस संबंध में चर्चा की गई है कि जाम्बवती से उत्पन्न कृष्ण के पुत्र साम्ब ने चन्द्रभागा के तट पर सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया जिसमें कोई स्थानीय पुजारी कार्य वहन करने के लिये तैयार नहीं हुआ। तब उग्रसेन के पुजारी गौरमुख ने शाक द्वीप से सूर्यपूजक मगों को बुलाने का परामर्श दिया। इस प्रकार सौर मन्दिर और प्रतिमा के संरक्षक शाकद्वीपीय मग पुरोहित हुए।[73] अल्बरूनी के अनुसार भी इसके समय में मग नामक पारसीक पुरोहित भारत में विद्यमान थे।[74] परन्तु आलोचित पुराण के प्रसंगों में इन तथ्यों के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता है।

सूर्य सम्बन्धी इस विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत पुराण में विष्णु और शिव के समान वैदिक भावना का प्रभाव है । अनेक देवताओं से सूर्य की एकता प्रतिपादित करना, उनके रथ का वर्णन, सूर्य उपासना सम्बन्धी विधान आदि ऐसे प्रमाण हैं जो वैदिक प्रवृत्ति के निर्वाह की पुष्टि करते हैं ।

सन्दर्भ

1. अंगमेषा त्रयी विष्णोॠग्यजु: सामसंहिता ।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा । विष्णु पुराण, 2/11/11.

2. तत्रैव, 4/1/87.

3. भारतीय प्रतीक विद्या, पृष्ठ 162,
द्रष्टव्य पुराण विमर्श, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 499.

4. वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, भण्डारकर, पृष्ठ 233.

5. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋक्, 1/115/1.

6. तैत्तिरीय उपनिषद, 3/1/1.

7. उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् । ऋग्वेद, 7/99/4.

8. पुराण विमर्श, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 499.

9. डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकेनाग्राफी, पृष्ठ 428-429.

10. प्रोक्त: ------- सूर्यो योऽग्निर्मनीषिभि: । वायु पुराण, 31/34.

11. आदित्येयस्त्वसौ सार: कालाग्नि: ----- । तत्रैव, 31/29.

12. ब्रह्माण्ड पुराण, 2/13/117.

13. ऋग्वेद, 10/88/11; मैक्डानल वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 30-31.

14. आदित्य: सविता भानु: जीवनो ब्रह्मसत्कृत । वायु पुराण, 31/37.

15. तत्रैव, 66वाँ अध्याय ।

16. तत्रैव, 59वाँ अध्याय ।

17. आदित्यादिभूताय ----- नमो नमः । विष्णु पुराण, 3/5/24.

18. वायु पुराण, 53वाँ अध्याय ।

19. उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह । ऋग्वेद, 1/50/13.

20. वायु पुराण, 66वाँ अध्याय ।

21. विष्णु पुराण, 2/10/19.

22. उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वानि जूर्वन ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टोअदृष्टहा ।
ऋग्वेद, 1/191/9;
द्रष्टव्य, मैकडानल वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 30.

23. यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति ----- । ऋग्वेद, 7/60/4.

24. तत्रैव, 9/114/3, 10/72/8-9, मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 43.

25. द्वादशादित्या सृज्यन्त ----- । शतपथ ब्राह्मण, 6/1/2/8.

26. वायु पुराण, 104/58-60.

27. आदित्यः सविता भानुः जीवनः ब्रह्मसत्कृतः । तत्रैव, 31/37.

28. जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे । विष्णु पुराण, 3/11/40.

29. तत्रैव, 2/9/11.

30. उदेति प्रसविता +-- । एष मे देवः सविता ----- । ऋग्वेद, 7/63/2-3.

31. निरुक्त 7/9.

32. वायु पुराण, 106/

33. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 37.

34. तत्रैव, पृष्ठ 37.

35. ऋग्वेद, 6/56/3,

36. वायु पुराण, 84/26-30.

37. तत्रैव, 61/23-24.

38. मत्स्य पुराण, 98/6.

39. वायु पुराण, 84वाँ अध्याय ।

40. तत्रैव, 53वाँ अध्याय ।

41. विष्णु पुराण, 2/8/47.

42. विवस्वानग्रतः स्थितः ----- । ब्रह्माण्ड पुराण 3/71/23.

43. त्वमग्ने प्रथमो मतिरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते ।
ऋग्वेद, 1/32/3; द्रष्टव्य ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, पृष्ठ 40.

44. विवस्वानादित्यः तस्येमाः प्रजाः । शतपथ ब्राह्मण, 3/1/3/4.

45. विष्णु पुराण, 2/8/92-94.

46. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 45.

47. यच्छत्वर्यमा पूपूषा पूवृहस्पतिः ।
प्रवाग्देवी ददातु नः स्वाहा । शतपथ ब्राह्मण, 5/2/2/11.

48. अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा ----- । ऋग्वेद, 7/42/6.

49. सूर्यस्य ----- तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा । तत्रैव, 1/164/14.

50. वायु पुराण, 53वाँ अध्याय ।

51. तत्रैव, 53वाँ अध्याय ।

52. तत्रैव, 50वाँ अध्याय ।

53. तत्रैव, 51वाँ अध्याय ।

54. ----- आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि । ऋग्वेद, 8/48/7.

55. दृशे विश्वाय सूर्य । ऋग्वेद, 1/50/1.
सूराय विश्वचक्षसे । तत्रैव, 1/50/2.

56. वायु पुराण, 50वाँ अध्याय ।

57. वियामेषि रजस्पृथु बहा मिमानो अक्तु भिः । ऋग्वेद, 1/50/7.

58. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । तत्रैव, 1/50/8.

59. वायु पुराण, 50/194-195.

60. तत्रैव, 51वाँ अध्याय ।

61. ब्रह्मणा निर्मितः सौरः स्यन्दनोऽर्थवशात् स्वयम् ।
स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः । तत्रैव, 1/89-90.

62. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा +---- । ऋग्वेद, 7/60/1.

63. ----- उत्पवितारो सूर्यस्य रश्मयः । शतपथ ब्राह्मण, 1/1/3/6.

74. वायु पुराण, 50/162-165.

65. विष्णु पुराण, 3/14/29-30.

66. वायु पुराण, 52/45-46.

67. तत्रैव, 52/33.

68. मत्स्य पुराण, 11/31-33.

69. यदि ह वाङअप्यवाद् भवत्यत्रैव पुतिक्रमणाय । शतपथ ब्राह्मण, 4/4/55.

70. बृहत्संहिता, 57/46.

71. चतुर्युगस्वरूपेण चतस्त्रो रविमूर्त्तयः ।
दृष्टाः स्पृष्टाः पूजितास्ताः पितृणां मुक्तिदायिकाः । वायु पुराण, 108/36.

72. बृहत्संहिता, 60/19.

73. आर०जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, पृष्ठ 236.

74. साचो, अल्बरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृष्ठ 21.

शाक्त धर्म स्वं शक्ति की उपासना

आलोचित पुराण में शक्ति की महत्ता प्रतिपादित करने वाले स्थल भी उपलब्ध हैं । मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों की अपेक्षा इसमें शक्ति विषयक विचारों को अधिक प्रकाशित नहीं किया गया है परन्तु जो भी प्रसंग प्राप्त होते हैं वे शक्ति के पौराणिक स्वरूप एवं कल्पना के परिचायक हैं । प्रस्तुत पुराण के ब्रह्मा द्वारा देवादि सृष्टिकथन नामक अध्याय में वर्णित है कि काली की स्तुति करने से प्राणियों का विनाश नहीं होता है ।[1] इसके अतिरिक्त इसी प्रसंग में उल्लिखित है कि ब्रह्मा के क्रोध से उत्पन्न मूर्ति के आदेश से ब्रह्मा ने स्वयं को दो भागों में विभक्त किया एक स्त्री और एक पुरुष । इस महाभागा देवी से ब्रह्मा ने देह विभाग करने के लिये कहा और परिणामस्वरूप स्वाहा, स्वधा महाविद्या, मेधा, लक्ष्मी, सरस्वती, अपर्णा, एकपर्णा, पाटला, उमा, हैमवती, षष्ठी, कल्याणी, ख्याति, प्रज्ञा, महाभागा और गौरी आदि ने पृथक् पृथक् देह धारण करके सृष्टि को व्याप्त किया ।[2] इसके अतिरिक्त अनिष्ट की आशंका और मानस दुःख के अवसर पर इन देवियों के नाम रक्षार्थ प्रयुक्त करने के लिये कहा गया है । इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी वर्णित है कि उनका नाम स्मरण करने से ही मनुष्य सभी पापों से सर्वथा मुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ।[3]

वैदिक स्वरूप से पृथकत्व

पुराणों में प्राप्त होने वाली 'शक्ति' की महिमामयी स्थिति वैदिक भावना में परिवर्तन की द्योतक है । वैदिक साहित्य में कहीं भी अभिभावक शक्ति से सम्पन्न किसी देवी का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । हमें रुद्राणी, भवानी आदि नाम प्राप्त अवश्य होते हैं किन्तु इनसे किसी स्वतन्त्र शक्ति सम्पन्न देवी की विद्यमानता नहीं सिद्ध होती है । उमा भी एक देवता की पत्नी मात्र हैं और अपने पति के प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकती है ।[4] वस्तुतः शक्ति की स्वतन्त्र महत्ता वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में ही स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है । महाभारत में कृष्ण के परामर्श से अर्जुन द्वारा की गई एक स्तुति में वर्णित है कि जो व्यक्ति प्रातःकाल शक्ति का

स्तोत्र पढ़ता है, वह संग्राम में विजयी होता है और उसे लक्ष्मी की ऐकान्तिक रूप से प्राप्ति होती है ।[5] अतः प्रमाणित होता है कि इस स्तुति की रचना के पहले ही दुर्गा को इतना महत्व प्राप्त हो चुका था कि जनसमुदाय उनकी आराधना अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने में सक्षम एक शक्तिशालिनी देवी के रूप में करने लगा था । स्तुति में देवी को म कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, उमा एवं कान्तारवासिनी नामों से संबोधित किया गया है । मार्कण्डेय पुराण (अध्याय 82) में भी महिषासुर का वध करने वाली देवी को शिव, विष्णु और ब्रह्मदेव के प्रचण्ड तेज निर्मित बताया गया है और उन्हें चण्डी तथा अम्बिका भी कहा गया है ।

[illegible]मिक विकास

शक्ति से सम्बन्धित जितने भी नाम उपलब्ध हैं उनके विषय में भण्डारकर की धारणा है कि ये एक ही देवी के अनेक नाम नहीं हैं अपितु विभिन्न देवियों के सूचक हैं । इन से सम्बन्धित धारणाओं का उदय विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ परन्तु जन साधारण की सहज मानसिक प्रवृत्ति द्वारा एक देवी से अभिन्न मान लिया गया ।[6] आलोचित पुराण में सर्वप्रथम उमा का उल्लेख मिलता है जो रक्षा करने वाली देवी हैं और शिव की भार्या हैं । इसके पश्चात् पार्वती और हिमावती नाम मिलते हैं जो उमा के ही विशेषण हैं क्योंकि इनके पति 'गिरीश' ही थे और उमा भी पर्वत पर उत्पन्न हुई थी । सामान्य रूप से देवी के इसी सौम्य रूप की उपासना की जाती है ।

इसी देवी भगवती के क्रुद्ध होने पर काली, कराली, चण्डी, चामुण्डा आदि नाम हुए । आलोचित पुराण में रुद्र को उस अग्नि से अभिन्न माना गया है जिसकी ज्वालायें ही रुद्र की जिह्वायें थीं ।[7] इन्हीं ज्वालामय उग्र रूपों को इस प्रकार के सम्बोधन दिये गये । अग्नि के साथ अभेद होने के कारण काली और कराली देवियों का उग्र रूप स्वीकार किया गया । इसके अतिरिक्त देवियों की धारणा के उदय में

एक अन्य प्रमुख तत्त्व शक्ति का तत्त्व भी रहा । इच्छा, क्रिया, तुष्टि, मोह आदि शक्तियों की कल्पना देवियों के रूप में की गई क्योंकि 'शक्ति' शब्द स्त्रीलिंग है ।[8] इस प्रकार शक्ति की भावना के प्रभाव से पौराणिक देवी का क्रमिक रूप से स्वरूप निर्धारित हुआ ।

शक्ति की असुरों के प्रति विनाशकारी प्रवृत्ति

शक्ति के विभिन्न रूपों में उनके असुर मर्दन का उल्लेख किया जा सकता है । सम्भवतः इसी रूप को लक्ष्य करके आलोचित पुराण में उनके महिषमर्दिनी, दैत्यघ्नी, कालरात्रि, विक्रान्ता आदि नामों की चर्चा की गई है ।[9] इसी से साम्य रखने वाले प्रसंग अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं । विष्णु पुराण में वर्णित है कि शुम्भ निशुम्भ आदि सहस्त्र असुरों का दमन करके उन्होंने भूमण्डल के अनेक स्थानों को सुशोभित किया ।[10] मार्कण्डेय पुराण में शुम्भ निशुम्भ का वध करने वाली को चण्डी और अम्बिका भी कहा गया है । शक्ति के इस रूप का वर्णन महाभारत में भी मिलता है, जिसमें विजय प्राप्त करने के लिये दुर्गा की स्तुति करते हुए उन्हें कैटभनाशिनी कहा गया है ।[11] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वर्णित है कि विष्णु के शरीर से उत्पन्न शुष्करेवती नामक देवी ने असुरों का विनाश किया था ।[12]

शक्ति का निवास स्थान और वाहन

आलोचित पुराण में देवी को 'विन्ध्यनिलया' कहकर सम्बोधित किया गया है क्योंकि उनका निवास स्थान विन्ध्याचल से सम्बन्धित है ।[13] अन्य पौराणिक साक्ष्यों से भी स्पष्ट हो जाता है कि इस युग तक निश्चय ही देवी के निवास स्थान के रूप में विन्ध्याचल पर्वतश्रृंखला को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी । मत्स्य पुराण में वर्णित है कि तारकासुर के वध के समय ब्रह्मा के आदेशानुसार देवी ने अपना आवास विन्ध्याचल को बना लिया था ।[14] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण में देवी के अनेक नामों में उनके 'सिंहवाहिनी' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है ।[15] देवी के

द्वारा सिंह को वाहन बनाने का वर्णन ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध होता है ।

शक्ति के उद्भव स्थल सम्बन्धी धारणायें

आलोचित पुराण में एक स्थल पर उल्लिखित है कि नन्द गोप के गृह से लौट कर वसुदेवजी ने कंस के हाथों में यशोदा की शुभलक्षण सम्पन्न कन्या दे दी जिसे कंस ने महत्व न देते हुए छोड़ दिया और कहा कि यदि कन्या उत्पन्न हुई है तो उसे मृत ही समझना चाहिये । कन्या की उत्पत्ति की चर्चा देवगण भी करने लगे और उन्होंने प्रजापति ब्रह्मा से कहा कि कृष्ण की रक्षा के लिये यह भगवती एकादशा स्वयं प्रादुर्भूत हुई हैं और दिव्य देहधारी भगवान् कृष्ण इसी भगवती एकादशा द्वारा सुरक्षित हैं ।[16] विष्णु पुराण में वर्णित है कि जब विष्णु ने देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने का निश्चय किया, उन्होंने योगनिद्रा को यशोदा के गर्भ में स्थित होने का आदेश दिया । कंस ने भ्रान्तिवश देवी के रूप में अवतरित निशा को शिलातल पर प्रक्षिप्त किया था । उसी क्षण वे आकाश में स्थित हुई । उनके अवतार का प्रयोजन दैत्यों का विनाश बताया गया है ।[17] ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी से समानता रखने वाला विवरण दिया गया है ।

पुराणों के अतिरिक्त महाभारत के विराट पर्व में भी देवी का सूक्ष्म वर्णन किया गया है । इसके अनुसार नन्दगोप के कुल में वे यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी । जब कंस ने कन्या के रूप में उन्हें शिला पर प्रक्षिप्त किया तत्क्षण वे आकाशमार्ग से चली गई ।[18]

विशिष्ट स्थलों से शक्ति का प्रादुर्भाव

प्रस्तुत पुराण में वर्णित है कि दक्ष के यज्ञ किये जाने के अवसर पर यज्ञभाग के सम्बन्ध में विरोध होने पर महादेवी उमा के अमर्ष के फलस्वरूप उनके शरीर से महेश्वरी महाकाली अपने कर्मों की साक्षिणी होकर अपने अनुचर भूतगणों के साथ प्रादुर्भूत हुई

थीं ।[19] इसी के साथ अन्यत्र कहा गया है कि जिस समय दक्ष के यज्ञ विनाश के लिये शिव के गण यज्ञ भूमि में गये, उनके साथ उमा के क्रोध से उत्पन्न भद्रकाली भी थी ।[20] ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि शक्ति की उत्पत्ति ब्रह्मा के ध्यान योग से हुई थी और वे देवताओं का अभीष्ट सिद्ध करने वाली थी ।[21] मार्कण्डेय पुराण में उल्लिखित है कि पार्वती के शरीर के कोश से उद्भूत होने के कारण वे कौशिकी कहलाई और अम्बिका जब पार्वती के शरीर से निकली तो उनके शरीर का वर्ण काला हो गया अतः उनका नाम कालिका पड़ा ।[22]

शक्ति की वेशभूषा एवं अस्त्र

आलोचित पुराण में परम महेश्वर के रम्य आवास स्थान के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि अपने अंग पर तलवार लटकाये हुए, पीले रंग का वस्त्र धारण किये, वक्षःस्थल पर एक विशाल मुक्ता माला धारण किये चार भुजाओं से सुशोभित लोक सम्माननीया महाभाग्यशालिनी देवी (विजया) भी वहाँ स्थित हैं ।[23] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित प्रसंग में देवी को 'शूलधरा' नाम दिया गया है ।[24] ब्रह्माण्ड पुराण में देवी को मुण्डमाला से विभूषित बताया गया है ।[25] इसी पुराण में कहा गया है कि भण्डासुर से युद्ध करने के लिये जिस समय दुर्गा प्रकट हुई, उन्हें शंकर ने अपना शूल समर्पित किया तथा विष्णु, वरुण, अग्नि, मरुत, इन्द्र, कुबेर, यम, ब्रह्मा, ऐरावत, मृत्यु, समुद्र तथा विश्वकर्मा ने उन्हें क्रमशः चक्र, शंख, शक्ति, चाप तथा तूणीर, वज्र, गदा, दण्ड तथा पाश, कुण्डिका, घण्टा, खड्ग और ढाल तथा आभूषण प्रदान किये ।[26] इसी प्रकार का वर्णन मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध होता है कि शिव के विवाहोत्सव पर चामुण्डा ने उनके सिर में कपालों की माला बाँधी थी ।[27] मार्कण्डेय पुराण में भी शुम्भ निशुम्भ युद्ध के अवसर पर नरमुण्डमाला, व्याघ्र चर्म एवं हाथ में खट्वाङ्ग लिये हुए करालमुखी काली का वर्णन किया गया है ।[28] इन पौराणिक रूपों का समर्थन महाभारत से भी होता है । भीष्मपर्व में देवी के लिये 'कापालि' शब्द का प्रयोग मिलता है ।[29] विराट पर्व में वर्णित है कि देवी घण्टा, पाश, धनुष, चक्र तथा अनेक

प्रकार के शस्त्रों को धारण करती है । इसी में अन्यत्र उन्हें खड्ग और ढाल धारण करने वाली भी बताया गया है ।[30]

<u>शक्ति तथा अन्य देवगण</u>

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि जिस समय शुक्राचार्य शिव की स्तुति कर रहे थे, उनके अभीष्ट को पूर्ण करने के लिये देवी प्रकट हुई । इन्हें महेन्द्री अर्थात् इन्द्र की पुत्री बताया गया है ।[31] इसके अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती अध्याय में जयन्ती के लिये 'इन्द्रदुहिता' विशेषण बोधक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । देवी के साथ इन्द्र का सम्बन्ध उनके अनेक नामों में उल्लिखित 'माहेन्द्री' शब्द से स्पष्ट हो जाता है ।[32] ब्रह्माण्ड पुराण में भी देवी के नामों में 'माहेन्द्री' शब्द का उल्लेख मिलता है ।[33] आलोचित पुराण के एक स्थल पर देवी को इन्द्र की भगिनी भी कहा गया है ।[34] विष्णु पुराण में भी देवी को इन्द्र की भगिनी ही माना गया है ।[35]

आलोचित पुराण में शक्ति के विविध नामोल्लेख में उन्हें 'रौद्री' भी कहा गया है जो उनके रुद्र शिव से सम्बन्ध को प्रकाशित करता है ।[36] 'रौद्री' शब्द से देवी के भयावह स्वरूप का बोध होता है । ब्रह्माण्ड पुराण में देवी को 'माहेश्वरी' कहा गया है जो वायु पुराण में भी उनके लिये प्रयुक्त हुआ है ।[37] इसके अतिरिक्त उमा, पार्वती आदि द्वारा उद्भूत देवी भी अप्रत्यक्ष रूप से रुद्र शिव से ही सम्बन्धित है ।

ब्रह्मा के साथ देवी का सम्बन्ध भी आलोचित पुराण में उपलब्ध है । सृष्टि रचना के अवसर पर ब्रह्मा ने स्वयं को दो भागों में विभक्त किया, एक स्त्री और एक पुरुष । पुरुष मूर्ति को ग्यारह भागों में विभक्त करके सृष्टि विस्तार एवं सृष्ट प्रजाओं की संरक्षण व्यवस्था करने का आदेश दिया जिनका नाम रोदन और द्रवण के कारण रुद्र हुआ । स्त्री भाग से शंकरार्द्ध शरीरिणी एक महाभागा देवी का प्रादुर्भाव हुआ । जो अनेक नामों से सम्बोधित की गई है ।[38] ब्रह्माण्ड पुराण में भी देवी का ब्रह्मा से सम्बन्ध बताया गया है ।

देवी को विष्णु से भी सम्बन्धित माना गया है । विष्णु पुराण में कहा गया है कि जिस देवी ने यशोदा के गर्भ से अवतार लिया था, वह वस्तुतः विष्णु के द्वारा प्रयुक्त वैष्णवी महामाया थी ।[39] ब्रह्माण्ड पुराण में 'वैष्णवी' और मार्कण्डेय पुराण में '[illegible]' में उनके लिये 'नारायणी' शब्द का प्रयोग किया गया है । महाभारत में भी एक स्थल पर उन्हें नारायण परिग्रह तथा दूसरे प्रसंग में स्कन्द की माता कहा गया है ।[40] इस प्रकार शक्ति में किसी एक देव विशेष का स्वरूप सन्निहित नहीं है । इनमें इन्द्र, विष्णु, शिव, ब्रह्मा एवं अन्य विभिन्न देवताओं की प्रतिच्छाया भी विद्यमान है । आलोचित पुराण में प्राप्त होने वाले विविध नाम देवी की व्यापनशीलता के परिचायक है । कात्यायनी, कल्याणी, कृष्णा, कुमारी, गोमती, गौरी, दुर्गा, आर्या, चण्डी, एकानंशा आदि अनेक नाम देवी के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किये गये हैं । इनमें से अनेक नाम विष्णु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं । इसके अतिरिक्त काली, पिंगला, महादेवी, श्रुति आदि नामों की चर्चा महाभारत में भी देवी के लिये ही की गई है ।[41] सम्भवतः देवी के सौम्य और रौद्र रूपों के अनुरूप उनको विविध अभिधान दिये गये ।

इस प्रकार शक्ति से सम्बन्धित पौराणिक स्थलों की सामूहिक विवेचना के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि शक्ति की पौराणिक प्रतिष्ठा वेदोत्तरकालीन परिवर्तनों का परिणाम है । पौराणिक शक्ति को पूर्वकाल की अपेक्षा स्वतंन्त्र और समर्थ रूप में अंकित किया गया है जिसमें इन्द्र, शिव, ब्रह्मा आदि जगत के कर्ता देवताओं की शक्ति भी समाविष्ट है । परन्तु इससे देवताओं की महत्ता को आघात नहीं पहुचता । असुरों के विनाश के लिये ही देवी का अवतरण हुआ है । एक ही देवी के व्यक्तित्व में अनेक देवियों के समायोजन द्वारा इस समय देवी का स्वरूप अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा की गई ।

सन्दर्भ

1. भद्रकाल्यास्त्वयोक्तानि देव्या नामानि तत्वतः ।
ये पठन्ति नरास्तेषां विद्यते न पराभवः । वायु पुराण, 9/86-87

2. तत्रैव, 9/95-100.

3. सर्वपापविनिर्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत् । मत्स्य पुराण, 13/56.

4. आर0जी0 भण्डारकर, वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, पृष्ठ 219.

5. य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् । भीष्मपर्व, 23/21-24.

6. भण्डारकर, तत्रैव, पृष्ठ 220.

7. वायु पुराण, 24/158.

8. भण्डारकर, तत्रैव, पृष्ठ 221.

9. वायु पुराण, 9वां अध्याय ।

10. त्वं च शुम्भनिशुम्भादीन्हत्वा दैत्यान्सहस्त्रशः स्थानैरनेकैः पृथ्वीमशेषां मण्डयिष्यति । विष्णु पुराण, 5/1/81.

11. उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनी । महाभारत, भीष्मपर्व, 23/9.

12. ततस्तु भगवान्विष्णु सृष्ट्वा शुष्करेवतीम् ।
या पपौ सकलं तेषामन्धकानामसृक्क्षणात् । मत्स्य पुराण, 179/36.

13. अमोघा विन्ध्यनिलयाविक्रान्ता गणनायिका । वायु पुराण, 9/85.

14. मत्स्य पुराण, 157/16-17.

15. अपराजिता बहुभुजा प्रगल्भा सिंहवाहिनी । वायु पुराण, 9/84.

16. एकादशा तु जज्ञे वै रक्षार्थं केशवस्य ह ।
तां वै सर्वे सुमनसः पूजयिष्यन्ति यादवाः ।
देवदेवो दिव्यवपुः कृष्णः संरक्षितोऽनया । वायु पुराण, 96/205.

17. विष्णु पुराण, 5/1/70-81.

18. यशोदागर्भसंभूतां --- नन्दगोपकुले जातां --- ।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम् । विराटपर्व, 6/2-3.

19. निःसृता च महादेव्या महाकाली महेश्वरी । वायु पुराण, 101/298.

20. भद्रकाली च विज्ञेया देव्याः क्रोधाद्विनिर्गता ।
प्रेषिता देवदेवन यज्ञान्तिकमिहागता । तत्रैव, 30/164.

21. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/6/6.

22. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय 82.

23. वायु पुराण, 101 अध्याय ।

24. बर्हिध्वजा शूलधरा परब्रह्मधारिणी, तत्रैव, 9/83.

25. वहन्तीं मुण्डमालां विकटास्यां भयंकरीम् । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/39/34.

26. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/29/81-84.

27. कपालमालां विपुलां चामुण्डा मूर्ध्न्यबन्धयत् । मत्स्य पुराण, 154/436.

28. मार्कण्डेय पुराण, 82वां अध्याय ।

29. महाभारत, भीष्मपर्व, 23/4.

30. पात्री च पंकजी घण्टी --- पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च । ↓
खड्गखेटकधारिणीम् । विराटपर्व, 6/4,. महाभारत, विराट पर्व, 6/10-11.

31. माहेन्द्री त्वं वरारोहे मद्धितार्थमिहागता । वायु पुराण, 98/8.

32. तत्रैव, 9/84.

33. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/36/58.

34. माहेन्द्री चेन्द्रभगिनी वृषकन्यैकवाससी । वायु पुराण, 9/84.

35. विष्णु पुराण, 5/1/80.

36. प्रकृतिर्नियता रौद्री दुर्गा भद्रा प्रमाथिनी । वायु पुराण, 9/81.

37. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा । ब्रह्माण्ड पुराण, 4/36/58; वायु पुराण, 101/298.

38. वायु पुराण, 9वाँ अध्याय ।

39. विष्णु पुराण, 5/1/70.

40. महाभारत, विराट पर्व, 23/11.

41. महाभारत, भीष्मपर्व, 23/4-16.

अन्य देवगण

ब्रह्मा प्रजापति

आलोचित पुराण में विष्णु और शिव के उपरान्त ब्रह्मा को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। वास्तव में ब्रह्मा विष्णु और महेश जो त्रय देवों की कल्पना है, उसका पूर्ण निर्वाह किया गया है। सृष्टि रचना के प्रसंग में वर्णित है कि ब्रह्मा ही नारायण और महेश्वर कहलाते हैं। ब्रह्मा में रजोगुण की, काल में म तमोगुण की और विष्णु में सत्व गुण की प्रधानता है। यह तीनों एक दूसरे के आश्रित तथा परस्पर मिले हुए एक दूसरे को धारण करते हैं। ब्रह्मा होकर लोकों की सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप में पालन करते हैं तथा काल रूप में संहार करते हैं। जगत में तीन प्रकार से रहने के कारण ही ये 'त्रिगुण' कहलाते हैं। इन्हें बृहत होने से ब्रह्मा और सब प्रजाओं के पालयिता होने से प्रजापति कहा जाता है। इन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया है अतः ये स्वयम्भू कहलाते हैं।[1]

प्रस्तुत पुराण में ब्रह्मा विष्णु को अपना परिचय देते हुए बताते हैं जिस तरह आप हैं उसी प्रकार हम भी आदिकर्ता प्रजापति हैं। हमारा नाम नारायण है और हम में ही सब प्रतिष्ठित है।[2] इसी प्रसंग में ब्रह्मा का नाम पद्मयोनि भी कहा गया है क्योंकि प्रभुविष्णु की लीला से नाभिदेश से उत्पन्न कमल पर वे आसीन रहते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा को चतुर्मुख के नाम से भी अनेक स्थलों पर सम्बोधित किया गया है।[3] मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराण में भी ब्रह्मा के लिये इसी सम्बोधन का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मा लोककर्ता के रूप में भी वर्णित हुए हैं। एक स्थल पर उन्हें ही प्रथम शरीर धारी एवं सृष्टि कर्ता कहा गया है।[4] इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि नित्य, सत्, असत् उभयात्मक, अव्यक्त, कारण स्वरूप प्रकृति पुरुष के संयोग से महान् दे वर्धमाना ब्रह्मा उत्पन्न होता है जो सभी मुक्तात्माओं का एकमात्र स्वामी, ब्रह्ममय और महान् है। वही समस्त उत्पन्न पदार्थों का पिता है। अभिमान गुणात्मक समस्त लोकों की सृष्टि करता है। उसकी आत्मा से भूतों की उत्पत्ति होती है, वे समस्त भूत क्य एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे ही इन्द्रियों

के नाम से विख्यात है । उन भूत समूहों से अन्यान्य भूत भेदों की उत्पत्ति है और इस प्रकार सृष्टि का प्रवर्तन होता है ।[5]

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वराह अवतार का तादात्म्य ब्रह्मा से किया गया है । इस वृत्तान्त में कहा गया है कि जब पृथ्वी जल में विलीन हो गई उस समय सहस्त्र नेत्र, सहस्त्र पाद और सहस्त्र शीर्ष, रूक्म वर्ण तथा अतीन्द्रिय पुरुष भगवान् ब्रह्मा समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी के उद्धार के लिये सचेष्ट हो गये । जल-मग्न पृथ्वी को देखकर विचार करने लगे कि किस महान शरीर को धारण कर इसका उद्धार करूँ । इसी समय जलक्रीड़ा के लिये उपयुक्त वराह का उन्हें स्मरण हुआ और सब प्राणियों से अजेय, वाङ्मय और धर्ममूर्ति भगवान् ने वराह का रूप धारण किया और पृथ्वी के उद्धार के लिये रसातल में घुस गये ।[6] तत्पश्चात् वर्णित है कि प्रजापति ने जल से आवृत्त पृथ्वी के समीप जाकर उसको दाँतों से पकड़कर जल के ऊपर स्थापित किया । ब्रह्माण्ड पुराण में भी ब्रह्मा को वराह अवतार से सम्बन्धित माना गया है परन्तु उनके चरण निक्षेप की उपमा विष्णु की गतिशीलता से दी गई है । सम्भवतः इस पुराण के रचना काल तक वराह और विष्णु के तादात्म्य की भावना का विकास हो गया था ।

प्रस्तुत पुराण में वराह शरीरधारी ब्रह्मा के स्कन्ध प्रदेश का तादात्म्य वेद से किया गया है ।[7] अन्यत्र कहा गया है कि एकमात्र अक्षर ब्रह्म ही अपनी अन्तरात्मा में व्यवस्थित रूप से विद्यमान है । समस्त चराचर जगत का पालन करने के कारण और अति बृहत् होने के कारण 'ब्रह्मा' कहलाता है । वह ब्रह्म सर्वप्रथम प्रणव 'ॐकार' में अवस्थित रहता है, पश्चात् "भूर्भुवः स्वः" भी वही स्मरण किया जाता है । ऋक्, यजु, साम और अथर्व भी उसके विकसित स्वरूप हैं ।[8] एक प्रसंग में कहा गया है कि योगाभ्यासी ब्रह्मा ने अपनी योग दृष्टि से सभी अतीत एवं अनागत काल में होने वाली ज्ञान राशि तथा समस्त वेदों की रचना योग का अवलम्बन लेकर की है । (अध्याय 72)

इस प्रकार पुराण में जिस देव को ब्रह्मा कहा गया है उसे वेदों में प्रजापति के

नाम से ही अभिहित किया गया है । ऋग्वेद के एक सूक्त में प्रजापति की प्रख्याति आकाश और पृथ्वी, जल तथा समस्त जीवित प्राणियों के स्रष्टा के रूप में की गई है यह सब गतिशील और श्वास लेने वाले प्राणियों के अधिपति हैं ; देवों में श्रेष्ठ हैं । इनके विधानों का पालन समग्र प्राणी ही नहीं प्रत्युत देवगण भी करते हैं । इन्होंने ही आकाश और पृथ्वी को स्थापित किया ; ये ही अन्तरिक्ष के सब स्थानों में व्याप्त हैं ।[9] इस वर्णन से प्रजापति की देवों में प्रमुखता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाती है। इसके पश्चात् अथर्ववेद और वाजसनेय संहिता में सामान्यतः और ब्राह्मणों में नियमतः ये ही प्रमुख देव के रूप में स्वीकृत किये गये हैं । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में अकेले इन्हीं का अस्तित्व था ।[10] प्रजापति के वराह रूप के धारण करने की कथा का संकेत तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध है ।

गृह्यसूत्रों के काल तक ब्रह्मा और प्रजापति का तादात्म्य स्थापित हो चुका था जिसका निर्वाह पौराणिक स्थलों में किया गया है । वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों से भी इसी भावना की पुष्टि होती है । उदाहरणार्थ विष्णुस्मृति में ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है ।[11] इस प्रकार आलोचित पुराण के अन्तर्गत वैदिक प्रवृत्ति का समर्थन प्राप्त होता है ।

<u>इन्द्र वृत्रहा</u>

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि शंकर और उमा के पारस्परिक प्रेम और अटूट साहचर्य को देखकर वृत्रहा को सन्देह हुआ । अतएव उन्होंने विघ्न डालने के उद्देश्य से अग्नि को उनके पास भेजा ।[12] यहाँ पर इन्द्र के लिये वृत्रहा शब्द प्रयुक्त किया गया है । मत्स्य पुराण में भी जम्भ के साथ युद्ध करने वाले इन्द्र को वृत्रहा कहा गया है । इस प्रकार वृत्र के वध का सम्बन्ध इन्द्र से ऋग्वेद में भी उल्लिखित है । अनेक स्थलों पर उन्हें वृत्र का विनाशक माना गया है ।[13] एक प्रसंग में वृत्रहा का स्पष्ट रूप से इन्द्र के लिये प्रयोग हुआ है ।[14] आलोचित पुराण में भी इसी वैदिक भावना की [illegible] दृष्टिगोचर होती है ।

ऋग्वेद में इन्द्र के लिये वज्री शब्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि इन्द्र की कल्पना वज्र धारण करने वाले के रूप में की गई ।[15] इसके अतिरिक्त उनके वज्र को भी सौ पर्वों वाला बताया गया है ।[16] इसी वैदिक परम्परा का अनुकरण प्रस्तुत पुराण में भी उपलब्ध है । एक स्थल पर वर्णित है कि भविष्य में होने वाले युद्ध में इन्द्र का संहार करने वाले दिति के गर्भस्थ शिशु को इन्द्र ने सौ पर्वों वाले वज्र से अनेक टुकड़ों में विभक्त कर दिया ।[17] ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी से समानता रखने वाला वर्णन प्राप्त होता है ।[18]

आलोचित पुराण में इन्द्र के लिये पुरन्दर शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । एक स्थल पर कहा गया है कि शोभासम्पन्न श्रीमान् सहस्त्राक्ष पुरन्दर मेरु पर निवास करते हैं ।[19] इसके अतिरिक्त अन्यत्र इन्द्र दिति संवाद में वर्णित है कि सहस्त्रनेत्र पुरन्दर ने दिति के समक्ष हाथ जोड़कर निवेदन किया, हे मातः आपकी जैसी आज्ञा है वैसा ही होगा ।[20] विष्णु पुराण में भी इन्द्र के लिये पुरन्दर अभिधान मिलता है । वैदिक काल में भी इन्द्र का यह रूप मान्य था । पुरन्दर का अर्थ है, जो पुर का विनाश करे । ऋग्वेद के एक छन्द में पिप्रु नामक असुर के पुर विनाशार्थ इन्द्र से प्रार्थना की गई है ।[21] अन्यत्र स्पष्टतः उन्हें पुरन्दर कहा गया है । प्रस्तुत पुराण में भी एक प्रसंग में इन्द्र को भूत, भविष्य और वर्तमान काल के स्वामी बताते हुए वज्र धारण करने वाले, सहस्त्र आँख वाले और पुरन्दर कहा गया है ।[22]

प्रस्तुत पुराण में वर्णित इन्द्र के अनेक नामों में शतक्रतु का भी उल्लेख हुआ है । एक स्थल पर कहा गया है कि महाराज रजि के द्वारा देवताओं की विनष्ट राज्यश्री का समस्त दानवों का संहार करके उद्धार किया गया तब शतक्रतु इन्द्र ने उनसे कहा कि निस्सन्देह आप समस्त देवताओं के इन्द्र हैं ।[23] इसी प्रसंग में वर्णित है कि जो व्यक्ति शतक्रतु इन्द्र की पुनः इन्द्र पद प्राप्ति का वृत्तान्त सुनता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती ।[24] तीनों लोकों में जितने भी शक्तिशाली, गतिमान अथवा निर्बल प्राणी हैं, इन्द्र उन सबों से - धर्मादि कार्यों में - बढ़े चढ़े रहते हैं । उन्होंने विभिन्न मन्वन्तरों में सौ क्रतुओं (यज्ञों) को सम्पन्न किया था ।[25] ऋग्वेद में भी इन्द्र को शतक्रतु के नाम

से सम्बोधित किया गया है परन्तु सायण की टीका से स्पष्ट है कि क्रतु का अर्थ इन स्थलों पर कर्म है ।[26]

इन्द्र को महिमान्वित करते हुए उन्हें तेज से, तप से, बुद्धि से, बल, शास्त्रीय ज्ञान एवं पराक्रम से उन्हें सभी प्राणियों में श्रेष्ठ कहा गया है । इन्द्र को पर्वत पक्षों को काटने और उनके मेघ रूप में परिणत कर देने का भी श्रेय दिया गया है । एक प्रसंग में उल्लिखित है कि पूर्वकाल में चराचरों का कल्याण चाहने वाले इन्द्र ने महाबली, विशालकाय और इच्छानुरूप गमन करने वाले पर्वतों का पक्ष काट दिया था । वे ही विशाल पक्ष जलपूर्ण होकर मेघाकार हो गये और कुछकर मेघों के रूप में जाने जाते हैं ।[27] मत्स्य पुराण में भी इस प्रकार का उल्लेख हुआ है । वैदिक काल में इन्द्र के इस स्वरूप का भी अभ्युदय हो चुका था और इन्द्र के द्वारा पर्वत भेदन का वर्णन ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों पर प्राप्त होता है । एक छन्द में कहा गया है कि इन्द्र ने 'अद्रि' का भेदन करके ब्राह्मण अर्थात् बृहस्पति को गाय प्रदान की ।[28] सायण ने प्रस्तुत प्रसंग में 'अद्रि' का अर्थ मेघ निर्धारित किया है ।[29]

इन्द्र के लिये 'शचीपति' का प्रयोग भी विष्णु और मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है । यहाँ पर शची का तात्पर्य इन्द्र की पत्नी से है । ऋग्वेद में शचीपति शब्द इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ है परन्तु इसका अर्थ पौराणिक तात्पर्य से पृथक है । सायण के अनुसार शची का अर्थ कर्म और पति का अर्थ पालन करने वाला है ।[30] इन्द्र की पत्नी का वैदिक नाम इन्द्राणी है जिसका उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

आलोचित पुराण में इन्द्र के स्वरूप सम्बन्धी वैदिक विचारों का निर्वाह किया गया है । इन्द्र के विषय में जिन कल्पनाओं को विकास हमें वैदिक काल में उपलब्ध होता है उन्हीं के आधार पर उनका पौराणिक रूप निर्धारित किया गया है । ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इन्द्र के लिये 'मघवा' कहा गया है ।[31] और प्रस्तुत पुराण में भी 'मघवान्' इन्द्र को कहा गया है ।[32]

इसी प्रकार इन्द्र के सन्दर्भ में 'वासव' का प्रयोग पौराणिक स्थलों पर मिलता है। मत्स्य पुराण में जल ग्रहण करने वाले इन्द्र को वासव शब्द से अभिहित किया गया है।[33] विष्णु पुराण में भी दुर्वासा इन्द्र को वासव कहते हुए उनकी ऐश्वर्य मदान्धता को धिक्कारते हैं।[34] इसी प्रकार प्रस्तुत पुराण में भी सृष्टि सम्पन्न हो जाने पर सर्वप्रमुख प्रजापति ब्रह्मा ने उन सबों के आधिपत्य पर क्रमशः भिन्न भिन्न को नियुक्त करने का उपक्रम किया और इसी क्रम में उन्होंने आदित्यों का राज्य पद विष्णु को तथा मरुतों का वासव (इन्द्र) को दिया।[35] इन्द्र को धन से सम्बन्धित करने की भावना वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद में भी इन्द्र को वसुपति कहा गया है।[36]

इस प्रकार पौराणिक स्थलों पर अधिकांशतः वैदिक परम्परा का समर्थन मिलता है किन्तु वैदिक कालीन देवमण्डल में इन्द्र को सर्वोत्कृष्ट देवता का स्थान प्राप्त था जबकि पौराणिक इन्द्र की स्थिति परिवर्तन की परिचायक है। इन्द्र महत्वपूर्ण अवश्य हैं परन्तु उनका स्थान अपेक्षाकृत निम्न ही दृष्टिगोचर होता है।

<u>अग्नि</u>

आलोचित पुराण में अग्नि को प्रतिष्ठित देवता के रूप में सम्मान दिया गया है। विविध अनुष्ठानों के अधिष्ठाता होने के कारण इनके अनेक नाम और रूप उपलब्ध होते हैं। एक स्थल पर वर्णित है कि हजारों शिखा वाले अग्नि, देवों और ऋषियों द्वारा वन्दनीय हैं और हवन द्वारा पूजित हैं। ब्राह्मण उन्हें विशिष्ट अधिदेव कहा करते हैं। अग्नि ही सम्पूर्ण तेजों की समष्टि हैं। अनेक भागों को प्राप्त कर वे अद्वितीय तेजोनिधि विभु रूप में वर्तमान हैं। ये ही अग्निदेव देवों के मुख हैं। ये अग्निदेव तेजोवती नामक महासभा में विराजमान रहते हैं।[37] अन्यत्र उल्लिखित है कि अग्नि पृथ्वी पर समस्त पदार्थों के अधिपति हैं अतः उन्हें भूतपति के नाम से जाना जाता है।[38] ब्रह्माण्ड पुराण में भी अग्नि के लिये 'भूतपति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[39]

प्रस्तुत पुराण में अग्नि को तमोगुण प्रकाशक मानते हुए क्रमशः रजोगुण और सत्वगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मा और विष्णु की कोटि में रखा गया है । यहाँ अग्नि रुद्र के प्रकारान्तर-अभिधान के रूप में वर्णित है ।[40] इसी पुराण में अन्यत्र कहा गया है कि अग्नि तीन प्रकार की है - दिव्य, भौतिक और पार्थिव । जब केवल नैश अन्धकार से सब आछन्न था, कोई सृष्टि नहीं हुई थी, केवल चार भूत ही अवशिष्ट थे, उस समय जो सर्वप्रथम अग्नि हुए वे पार्थिव कहलाये । ताप वितरण करने वाले सूर्य की किरणों से जो जल पीते हैं, वे ही दिव्य शुचि अग्नि हैं ।[41] इसी प्रसंग में सूर्य और अग्नि के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है । सूर्योदय होने पर पार्थिव अग्नि की उष्णता एक चरण से सूर्य में प्रवेश कर जाती है, इस कारण सूर्य तृप्त होते हैं । प्रकाश और उष्णता के गुण से सम्पन्न सूर्य और अग्नि का तेज परस्पर प्रवेश करके एक दूसरे को दिन रात तृप्त करता हैं ।[42] अन्यत्र वर्णित है कि सूर्य के अस्त हो जाने पर उनकी किरणों का एक भाग अग्नि में प्रवेश कर जाता है । इसी कारण रात्रि में अग्नि बहुत दूर से भी दृष्टिगोचर होती है । फिर जब सूर्य का उदय होता है तब उनके अस्तकालीन तेज के साथ अग्नि का तेज भी सूर्य में समाविष्ट हो जाता है। इसी के परिणामस्वरूप सूर्य दिन में अधिक प्रखर हो जाते हैं । सूर्य का प्रकाशमान तेज और अग्नि का उष्ण तेज संयुक्त होकर सम्पूर्ण मनुष्यों को दिन रात सन्तुष्ट करते हैं।[43] विष्णु पुराण में भी वायु पुराण से समानता रखने वाले प्रसंग मिलते हैं जहाँ वर्णित है कि रात्रि के समय जब सूर्य अस्त रहते हैं तब उनका तेज अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है और इसी प्रकार दिन में अग्नि का तेज सूर्य में प्रवेश करता है अतएव अग्नि के संयोग से सूर्य प्रकाशित होता है ।[44] यह पौराणिक भावना वैदिक प्रवृत्ति का समर्थन करती है क्योंकि ऋग्वेद में वर्णित है कि अग्नि के उत्पन्न होने पर सूर्य का आविर्भाव हुआ ।[45] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि अस्त होते समय सूर्य अग्नि में प्रवेश करते हैं ।[46]

प्रस्तुत पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि अग्नि के तीन रूप हैं, पावक, पवमान और शुचि । मन्थन से निकली अग्नि पवमान है । सूर्य किरणस्थ अग्नि शुचि और

वैद्युत अग्नि का नाम पावक है । इसके अतिरिक्त देवताओं के अग्नि हव्यवाहन हैं, पितरों के कव्यवाहन और असुरों के सहरक्ष अग्नि हैं ।[47] इसी प्रकार का वर्णन विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराण में भी उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त हव्यवाहन अग्नि के निवास स्थान के विषय में भी आलोचित पुराण में कहा गया है कि सुवक्ष और शिशिर पर्वतों के मध्य तीस योजन के घेरे में हजारों लपटें फेंकने वाले अग्निदेव का भयंकर स्थान है । देवता के निमित्त जिस अग्नि को भाग दिया जाता है वे ही शिखाशाली विभावसु अग्निदेव वहाँ सदैव जलते रहते हैं ।[48] आलोचित पुराण में अग्नि का मुख रक्ताभ बताते हुए उसकी तीन जिह्वाएँ भी बताई गई हैं । इस रूप में उन्हें यज्ञ सम्पादन का आधार माना गया है ।[49]

अग्नि के भेदत्रय

आलोचित पुराण के अग्नि के विषय में कहा गया है कि प्रारम्भ में अग्नि एक ही था, परन्तु आगे चलकर इसके तीन भेद हुए । इन भेदों के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में स्पष्टतः उल्लिखित है कि दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य अग्नि और आहवनीय अग्नि; ये अग्नि के भेदत्रय हैं ।[50]

इस प्रकार प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होने वाले अग्नि देव से सम्बन्धित स्वरूपों पर वैदिक परम्परा का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । ऋग्वेद में वर्णित है कि देवताओं ने अग्नि को अपना मुख और जिह्वा बनाया था ।[51] अग्नि तम के प्रकाशक भी हैं ।[52] वे सात रश्मियों से सम्पन्न हैं ।[53] देवता यज्ञ का उपभोग अग्नि के द्वारा ही करते हैं ।[54] किसी किसी स्थल पर उन्हें हव्यवाहक भी कहा गया है ।[55] यद्यपि इन पौराणिक प्रसंगों में वैदिक कालीन विचारधारा का निर्वाह मिलता है परन्तु पौराणिक साहित्य में अग्नि की पूर्ववर्ती प्रधानता में ह्रास भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है । इन्द्र के उपरान्त अग्नि को वैदिक काल में सर्वोच्चता दी गई जो पौराणिक भावना में अप्राप्य है ।

वरुण

आलोचित पुराण में वरुण की भी वैदिक महत्ता में क्षीणता दिखाई पड़ती है । इसके साथ ही वरुण के सम्बन्ध में पौराणिक स्थलों पर जो कल्पना मिलती है, वह पूर्णतः वैदिक परम्परा के अनुकूल है । एक प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मा के द्वारा जिस समय विभिन्न देवताओं में आधिपत्य का वितरण किया जाने लगा, तब जल का स्वामित्व वरुण को प्राप्त हुआ ।[56] इसी पुराण में अन्यत्र कहा गया है कि भद्र और सुप्रतीक नामक हरित् वर्ण के, अत्यन्त शीघ्र गमन करने वाले दिग्गज अपां पति (जल के स्वामी) वरुण के वाहन हैं ।[57] एक अन्य प्रसंग में उल्लिखित है कि मेरु पर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर अनेक उत्तम भवन बने हुए हैं और वहीं पर जलाधिपति महात्मा वरुण की सती नामक महासभा है ।[58] इसी प्रकार संगीतशास्त्र की इक्कीस मूर्छनाओं के विषय में दिये गये विवरण में कहा गया है कि दृष्टि से ही विष विकीरित करने वाले नागगण जिस मूर्छना को सुनकर बल फिर नहीं सकते और ब्रह्मा द्वारा मृतक के समान हो जाते हैं, वह अहिमूर्छना कही जाती है, उसके अधिदेवता वरुण हैं । जलराशि में अवस्थित इस मूर्छना को सर्वप्रथम जलाधिप वरुण ने देखा था ।[59] अधिकांश रूप से प्रस्तुत पुराण में वरुण को जल का स्वामी ही निर्धारित किया गया है जो वैदिक प्रवृत्ति की निरन्तरता बनाये हुए है । ऋग्वेद में भी वरुण को सिन्धुपति शब्द से सम्बोधित किया गया है ।[60] मत्स्य पुराण में भी वरुण के लिये 'जलेश' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[61]

ऋग्वेद में वरुण के पाश का भी उल्लेख किया गया है । एक छन्द में वरुण पाश से रक्षा के लिये सोम और रुद्र से स्तुति की गई है ।[62] पौराणिक स्थलों पर भी इसी से साम्य रखने वाले प्रसंग उपलब्ध हैं । विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि जब इन्द्र से कृष्ण का युद्ध हो रहा था, उस समय गरुड़ ने वरुण का पाश खींचा था ।[63]

आलोचित पुराण में वरुण का उल्लेख आदित्यों के अन्तर्गत भी किया गया है । ऋग्वेद में भी आदित्यों में वरुण की गणना की गई है । इस प्रकार वरुण विषयक स्थलों पर वैदिक भावना का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

सोम

आलोचित पुराण में सोम के विषय में वर्णित है कि ब्रह्मा के द्वारा आधिपत्य वितरण के अवसर पर द्विजाति और लता-लताओं का स्वामित्व सोम को प्राप्त हुआ[64]। इसके साथ ही उन्होंने नक्षत्रों, ग्रहों, यज्ञों एवं तपस्याओं के राजा का उत्तरदायित्व भी सोम को प्रदान किया। सोम के विषय में अन्यत्र उल्लिखित है कि ये निखिल औषधियों के पति हैं। सभी जीवों के जीवन और योग क्षेम करने वाले हैं। सदैव सजग रहकर किरणों द्वारा जगत का पोषण करते हैं। तिथि, पर्वसन्धि, पूर्णिमा तथा अमावस्या के ये ही उत्पादक, निशाचर एवं प्रजापति हैं।[65] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि औषधियाँ चन्द्रमा के तेज से जाज्वल्यमान रहती हैं और ये उन्हीं औषधियों द्वारा समस्त लोकों एवं चार प्रकार की प्रजाओं का पालन करते हैं। इस समस्त चराचर जगत को पुष्टि देने वाले परम ऐश्वर्यशाली भगवान चन्द्रमा ही हैं।[66] प्रस्तुत पुराण से साम्य रखने वाले स्थल ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होते हैं। मत्स्य पुराण में चन्द्रमा को औषधीश और द्विजेश कहा गया है तथा ब्रह्माण्ड पुराण में सोम को औषधिपति की संज्ञा दी गई है।[67] पौराणिक स्थलों पर उपलब्ध सोम का विवरण वैदिक विचारधारा से प्रभावित है क्योंकि ऋग्वेद में भी सोम को वनस्पति की संज्ञा दी गई है।[68] इसी प्रकार वाजसनेय संहिता में इनके विषय में कहा गया है कि वे ब्राह्मणों के राजा है।[69]

सोम और जल के सम्बन्ध में भी आलोचित पुराण में अनेक प्रसंगों में प्रकाश डाला गया है। 'चदि' धातु के आह्लादन, शुक्लत्व, अमृतत्व और शीतत्व आदि अनेक अर्थ हैं। इसी धातु से चन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। चन्द्रमा का दिव्य-मण्डल जलप्रधान है।[70] इसी स्थल पर कहा गया है कि अग्नि आदित्य हैं और जल चन्द्रमा है। अन्यत्र वर्णित है कि सोम ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि, स्मृति और जल के यथाकाल पोषणकर्ता और इनकी क्रियाओं के सम्पादक हैं।[71] यहीं पर सोम को आकाश में चलने वाला, जलों का सारभूत और संतत शुक्ल कृष्ण गतिवाला भी बताया गया है। मत्स्य पुराण में सोम की उत्पत्ति ही समुद्र से मानी गई है।[72] चन्द्रमा

के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार वैदिक काल में ही विकसित हो चुके थे । ऋग्वेद में भी सोम को सिन्धु-सम्भूत माना गया है ।[73]

प्रस्तुत पुराण में सोम को पितृमान् भी कहा गया है ।[74] श्राद्धों द्वारा सन्तुष्ट किये गये पितरगण अक्षय सोम को सन्तुष्ट करते हैं और तब सोम समस्त पर्वत, वन व चराचर जगत सब को सन्तुष्ट करेंगे । प्रसंगान्तर में यहीं पर वर्णित है कि श्राद्ध के अवसर पर प्रसन्न हुए पितरगण अपने योगबल से चन्द्रमा को तृप्त करते हैं जिससे त्रैलोक्य को जीवन प्राप्त होता है ।[75] प्रस्तुत पुराण में अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि प्रसन्न हुए चन्द्रमा से पितरों के लिये अमृत का परिस्रवण होता था ।[76] इसी प्रसंग में वर्णित है कि पितरों की एक मास की तृप्ति के लिये चन्द्रमा से सुधामृत का प्रस्रवण होता है । चन्द्रमा और पितरों के सम्बन्ध में यह भावना वैदिक काल में भी प्राप्त होती है । ऋग्वेद के अनुसार पितरों के संयोग से सोम द्यावापृथिवी का विस्तार करते हैं ।[77] शतपथ ब्राह्मण में भी सोम को पितृमान कहा गया है ।[78]

आलोचित पुराण में सूर्य के समान चन्द्रमा के रथ के विषय में भी वर्णित है। चन्द्रमा के रथ में तीन चक्के और दोनों तरफ उज्ज्वल वर्ण के घोड़े जुते हुए बताये गये हैं । रथ,अश्व और सारथि के साथ जल से ही उत्पन्न हुआ है । इस रथ में सौ अरायें और दस दिव्य अश्व हैं जो मन की तरह वेगवान, कृश, असंग और कल्पादि में एक बार जोते गये हैं तथा युगान्त पर्यन्त रथ का वहन करते हैं । देवों और पितरों द्वारा सेव्यमान होकर चन्द्रमा इसी प्रकार गमन करते हैं ।[79]

सोम के निवास स्थल के सम्बन्ध में भी आलोचित पुराण में विस्तार से वर्णन मिलता है । उत्तर कुरु के दक्षिण पार्श्व में स्थित चन्द्रद्वीप के विषय में उल्लिखित है कि यहाँ चन्द्रमा का मण्डल स्थित हैं जहाँ समुद्र की तरंगमालायें सदा लहराती रहती हैं । यह नक्षत्रों के अधिपति चन्द्रमा का श्रेष्ठ स्थान है और यहाँ ग्रह नायक चन्द्रमा सदैव उतरा करते हैं ।[80] यहाँ चन्द्रमा के नाम का विख्यात पर्वत है । अन्यत्र

चन्द्रमा की पुरी को विभावरी बताया गया है जो मेरु से उत्तर और मानस के शिखर पर है ।[81] ऋग्वेद में भी सोम को गिरिष्ठ अर्थात् पर्वत पर रहने वाला माना गया है ।[82]

प्रस्तुत पुराण में प्राप्त होने वाले स्थल वैदिक कालीन सोम विषयक प्रवृत्ति की प्रतिच्छाया प्रदर्शित करते हैं । यद्यपि वैदिक साहित्य में सोम शब्द इसी नाम के वृक्ष का अधिकांश रूप से सूचक है परन्तु इसके रचनाकाल में सोम और चन्द्रमा के समन्वय की भावना आरम्भ हो चुकी थी ।[83] पुराणों में निश्चय ही सोम और चन्द्रमा एकीकृत रूप में मिलते हैं ।

मरुत्

आलोचित पुराण में मरुत् का उल्लेख गण के रूप में हुआ है । इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथा इस प्रकार है कि इन्द्र के द्वारा दिति के गर्भ को विदारित करने पर दिति ने इन्द्र से गर्भ का कल्याण करने का अनुरोध किया । दिति ने कहा कि मेरे इन पुत्रों को स्वर्ग में सात स्थान प्राप्त हों, ये पुत्र वायु के सात स्कन्धों में मरुत् नाम से विचरण करें, उनके एक एक गण में सात मरुत् हों । इस प्रकार उनचास मरुत् गण विख्यात हुए । इन्द्र के 'मत रोओ' (मा रोदी) इस कथन से उनका नाम मरुत् हुआ । इनकी गणना और नामकरण के पश्चात् दिति ने इन्द्र से कहा कि तुम ऐसा करो कि ये मेरे पुत्रगण देवताओं के साथ सुखपूर्वक विचरण करें । तब इन्द्र ने दिति के गर्भ से उत्पन्न मरुत् गणों को देवतुल्य बताते हुए देवताओं द्वारा भी सम्मानीय बताया और देवताओं के साथ यज्ञ में भाग प्राप्त करने के अधिकारी भी निर्धारित किये । इस प्रकार मरुत् गण देवताओं में परिगणित हुए, इन्द्र के अनुज के रूप में उन सब को अमरत्व की भी प्राप्ति हुई ।[84] अन्यत्र वर्णित है कि ब्रह्मा ने आधिपत्य वितरण करते समय मरुतों का राज्यपद इन्द्र को दिया ।[85] अतः इन्द्र और मरुत् गणों को परस्पर सम्बद्ध ही दिखाने की चेष्टा प्रस्तुत पुराण में की गई है जो वैदिक विचारधारा का समर्थन करती है । विष्णु पुराण में वर्णित है कि मरुद्गण वज्रपाणि इन्द्र के

सहायक है ।[86] इसी प्रकार ऋग्वेद में मरुतों का वर्णन गण देवों के रूप में प्राप्त होता है[87] और इस तथ्य पर बल दिया गया है कि मरुद्गण वृत्रासुर के विरुद्ध इन्द्र की सहायता करते हैं ।[88]

प्रस्तुत पुराण में मरुत् गणों को प्रसन्न करने के लिये मरुत्सोमात्मक नामक यज्ञ करने की भी चर्चा प्राप्त होती है । दुष्यन्त के पुत्र सम्राट भरत के द्वारा पुत्र प्राप्ति की कामना से यह यज्ञ किया गया था जिसके परिणामस्वरूप मरुत् गण परम प्रसन्न हुए और उन्होंने वृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को लाकर राजा भरत को दिया । इस प्रकार यज्ञाधिपति मरुतों के द्वारा परम सामर्थ्यशाली भरद्वाज सम्राट भरत के वंश में संक्रामित हुए ।[89] मरुद् गणों के निवास स्थान के विषय में कहा गया है कि यद्यपि ये किसी निकेतन में निवास करने वाले नहीं हैं ; इनका प्रमुख निवास स्थान भुवर्लोक (अन्तरिक्ष लोक) में है ।[90]

पर्जन्य

ऋग्वेद के अनुसार पर्जन्य ओषधि (औषधि) तथा जल के वर्धक हैं ।[91] पर्जन्य के इसी रूप का निर्वाह पौराणिक स्थलों पर प्राप्त होता है । आलोचित पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि समस्त सागरों, नदियों, मेघों, वर्षा तथा आदित्य के स्वामित्व पर ब्रह्मा ने अन्यतम पर्जन्य को अभिषिक्त किया ।[92] मत्स्य पुराण में एक स्थल पर वर्षा और इन्द्र का सम्बन्ध दिखाया गया है ।[93] विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि इन्द्र की प्रेरणा से मेघ जल बरसाते हैं ।[94]

आलोचित पुराण के एक अन्य प्रसंग में वर्णित है कि सहस्त्र युग के व्यतीत हो जाने पर युगक्षय के प्राप्त होने पर प्रजापति प्रजाओं का संहार करते हैं । इस समय कालाग्नि घोर स्वरूप धारण कर भू, भुव, स्व तथा मह - इन चारों लोकों को सर्वशः भस्मावशेष कर देती है । इसके फलस्वरूप मेघगण बड़े वेग से जल राशि बरसाते हुए उसपरम घोर अमंगलकारी अग्नि को सर्वत्र नष्ट कर देते हैं । अग्नि के नष्ट हो

जाने के उपरान्त समस्त ज्वलनात्मक कार्यों के परिणाम से उत्पन्न पर्जन्य गण सौ वर्ष तक अपनी अकूत जलराशि की वृष्टि द्वारा समस्त जगन्मण्डल को प्लावित करते हैं। स्वयम्भू की प्रेरणा से प्रेरित होकर वे अपनी धाराओं से जगत को पूर्ण कर देते हैं। पर्जन्यों से वृष्टि द्वारा बरसाया गया जल समूह जितना भी होता है, जाकर समुद्र में प्रवेश करता है।[95] पर्जन्य को मेघ मात्र मानने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही चली आ रही है। मैक्डानल[96] और वेदों के भाष्यकर्ता सायण ने भी पर्जन्य विषयक स्थलों की टीकाओं में स्पष्ट कर दिया है।[97] वैदिक कालीन पर्जन्य के स्वरूपों में मेघाधिपत्य का सन्निधान है।[98]

<u>अश्विन्</u>

अश्विन् की उत्पत्ति के विषय में आलोचित पुराण में वर्णित है कि सूर्य और उनकी पत्नी संज्ञा ने क्रमशः अश्व और अश्वा का रूप धारण करके दोनों अश्विनी-कुमारों को उत्पन्न किया जो दिव्य गुण सम्पन्न थे। ये दोनों अश्विनी कुमार नासत्य और दस्र नाम से विख्यात हैं और आठवें प्रजापति मार्तण्ड के पुत्र कहे जाते हैं।[99] इसी से समानता रखने वाले स्थल विष्णु और मत्स्य पुराण में भी उपलब्ध हैं।[100] ऋग्वेद में भी अश्विनों की उत्पत्ति विवस्वान् तथा सरण्यू के संयोग से बताई गई है।[101] सायण ने सरण्यू का अर्थ अश्वरूपिणी सरण्यू से किया है जबकि मैक्डानल के अनुसार विवस्वान सूर्य का तात्पर्य उदीयमान सूर्य तथा सरण्यू का उषस् से है।[102]

प्रस्तुत पुराण में एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा और विष्णु द्वारा शिव की आराधना करते समय कहा गया है कि बारह आदित्य, आठों वसु, ग्यारहों रुद्र, उनचास मरुत् और दोनों अश्विनी कुमार तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं।[103] अन्यत्र उल्लिखित है कि दक्ष के द्वारा हिमालय के पृष्ठ देश में यज्ञ किया गया जिसमें उष्म, सोम, आज्य और धूम पीने वाले अश्विनी कुमार भी पहुँचे।[104] इसी प्रसंग में वर्णित है कि मेरु के ज्योतिष नामक पवित्र शिखर पर बैठे हुए महादेव जी की दोनों भाई अश्विनी

कुमारों ने भी उपासना की । यहाँ पर उन्हें भिषक्-श्रेष्ठ की संज्ञा दी गई है ।[105] ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि अश्विनी वैद्य विशारद हैं ।[106] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी उन्हें 'भिषक्' विशेषण दिया गया है ।[107] ये समस्त पौराणिक स्थल वैदिक परम्परा का निर्वाह करते हैं क्योंकि ऋग्वेद में भी अश्विनों को भिषक् कहा गया है ।[108]

विश्वेदेव

आलोचित पुराण में विश्वेदेव गणों के सम्बन्ध में वर्णित है कि प्राचीन काल में दक्ष ने अपनी लोक विख्यात विश्वा नामक कन्या विधि एवं धर्मपूर्वक धर्म को समर्पित की थी । उससे उत्पन्न होने वाले महात्मा पुत्रगण विश्वेदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये सभी जनों के लिये नमस्करणीय तथा त्रैलोक्य विख्यात हैं ।[109] अन्यत्र उल्लिखित है कि ऋषियों और विद्या में पारंगत स्नातकों के मन को मन्द करने वाली मन्दनी नामक मूर्छना के अधिदेवता विश्वेदेवगण हैं ।[110] प्रस्तुत पुराण के एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान, प्रभवान् और रोचमान ये विश्वा के दस पुत्र मंगल कार्य साधक हैं और विश्वेदेव नाम से प्रसिद्ध हैं।[111] श्राद्ध में भाग दिये जाने के विषय में एक स्थल पर बताया गया है कि विश्वेदेव गणों ने हिमवान के मनोहर शिखर पर परम कठोर तप किया तब प्रजापति ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उनसे यह कहा कि आपके किस मनोरथ को पूर्ण करें । ऐसा सुनकर विश्वेदेवगण एक साथ ही लोकेश ब्रह्मा से बोले कि हमारी आकांक्षा है कि हमें श्राद्ध में अंश मिले। स्वर्गपूजित विश्वेदेवों को ब्रह्मा के द्वारा मनोकामना पूर्ति का वरदान दिया गया । इसके अतिरिक्त पितरों ने भी विश्वेदेवों को आश्वासन दिया कि इस लोक में जो कुछ भी हमारे लिये किया जाता है उन सब में हम लोगों के साथ आप भी रहेंगे ।[112] इन पौराणिक स्थलों पर वैदिक भावना का निर्वाह मिलता है क्योंकि ऋग्वेद में भी वर्णित है कि श्राद्ध के अवसर पर विश्वेदेवगणों को पधारने का नियन्त्रण दिया जाता है ।

बृहस्पति

प्रस्तुत पुराण में बृहस्पति के लिये देवाचार्य उपाधि का प्रयोग किया गया है ।[113] यहीं पर प्रसंगान्तर में कहा गया है कि ब्रह्मा ने स्वामी अंगिरा के वंश में उत्पन्न होने वाली प्रजाओं का राज्यपद बृहस्पति को प्रदान किया ।[114] अन्यत्र कहा गया है कि बृहस्पति अत्यन्त तेजस्वी हैं । वे स्वर्ग के निवासियों के पुरोहित हैं ।[115] देवासुर संग्राम के प्रसंग में एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि देवपक्ष में उनके गुरु बृहस्पति मन्त्रों द्वारा अग्नि को सन्तुष्ट कर रहे हैं अर्थात् हवन कर रहे हैं ।[116] प्रस्तुत पुराण में इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थल उपलब्ध हैं जहाँ पर बृहस्पति का उल्लेख स्पष्टतः देवगुरु के रूप में हुआ है । बृहस्पति के द्वारा शुक्राचार्य का रूप धारण कर लेने पर स्वयं शुक्राचार्य दानवों को सम्बोधित करके कहते हैं कि मैं ही तुम लोगों का आचार्य शुक्र हूँ और यह तो अंगिरा का पुत्र परम बुद्धिमान देवताओं का गुरु बृहस्पति है ।[117] विष्णु पुराण में भी इसी प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं । एक प्रसंग में कहा गया है कि पुरोहित बृहस्पति के द्वारा तेज सम्पन्न होकर इन्द्र ने स्वर्ग पर पुनः अधिकार प्राप्त किया ।[118] मत्स्य पुराण में बृहस्पति को वाचस्पति और अमरेश पुरोहित शब्दों से अभिहित किया गया है ।[119]

यहाँ पर भी वैदिक परम्परा का अनुमोदन मिलता है क्योंकि ऋग्वेद में वर्णित है कि प्राचीन ऋषियों और विप्रों का पुरोधान बृहस्पति ने किया था ।[120] दूसरे छन्द में स्पष्ट रूप से बृहस्पति को पुरोहित कहा गया है ।[121]

आलोचित पुराण में उक्त देवताओं के अतिरिक्त अन्य मानवेतर योनियों का भी उल्लेख हुआ है । इन्हें कुछ स्थलों पर देवताओं के समकक्ष रखा गया है अथवा कुछ अन्य प्रसंगों में देवताओं से सम्बन्धित कर इनके स्वरूप में मानवेतर तत्व दिखाये गये हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है -

गन्धर्व

आलोचित पुराण में अनेक स्थलों पर गन्धर्वों को देवताओं की श्रेणी में रखने

का प्रयास किया गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि धन से, रूप से, आयु से, बल से, धर्म से, ऐश्वर्य से, बुद्धि से, तपस्या से, शास्त्र बल से तथा पराक्रम से गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच - ये चार देवयोनियों में उत्पन्न वाले देवताओं और असुरों की अपेक्षा परस्पर हीन होते हैं ।[122] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि इन्द्रद्युम्न में देव, दानव, यक्ष, महाबली, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर और अप्सरायें प्रसन्नचित्त होकर सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ।[123] यहीं पर प्रसंगान्तर में उल्लिखित है कि हेमकूट पर्वतराज पर एक सुसमृद्ध गन्धर्वनगरी है जो अलसी देवपुरों के समान शोभाशालिनी, विशालाकार परिखा और तोरण से युक्त है । यहाँ पर सिद्ध गण और युद्ध प्रेमी गन्धर्वगण निवास करते हैं ।[124] इसके अतिरिक्त देवकूट नामक मर्यादा पर्वत के विस्तृत शिखर चालीस योजन लम्बे और तीस योजन चौड़े गन्धर्वों के सात नगरों का उल्लेख भी मिलता है ।[125] गन्धर्वों के आवास के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न स्थलों पर पर्वत, स्वर्ग एवं रसातल का उल्लेख मिलता है । एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि चम्पक वन भी देव, दानव गन्धर्व, यक्ष आदि द्वारा सदा सेवित रहता है ।[126] इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित है कि सूर्य के रथ पर देव, आदित्य, गन्धर्व, अप्सरा, ग्रामणी, सर्प और राक्षस क्रम से दो दो महीने रहते हैं । ये ही तपते हैं, बरसते हैं, चमकते हैं, वायु की तरह बहते हैं और जीवों के शुभाशुभ कर्म का उत्पादन करके उसका विनाश भी करते हैं । वायु के समान वेग वाले ये देवगण दिव्य विमान पर चढ़कर सूर्य के साथ प्रतिदिन गमन करते हैं । प्रलयकाल पर्यन्त ये सभी जीवों की रक्षा करते हैं और प्रजाजन को वृष्टि और ताप द्वारा प्रसन्न करते हैं ।[127]

आलोचित पुराण में ऐसे भी स्थल उपलब्ध हैं जिनमें गन्धर्वों की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है । ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना के प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मा के तेज के पान करने के कारण गन्धर्वों की उत्पत्ति हुई । 'धे' धातु पानार्थक है और 'गा' का अर्थ है तेज, अतः तेज के पान करने से उनका नाम गन्धर्व पड़ा ।[128] विष्णु पुराण में गन्धर्वों को दक्ष की कन्याओं के संयोग से चन्द्रमा से उत्पन्न माना गया है ।[129]

प्रस्तुत पुराण में उल्लिखित गन्धर्व विषयक उद्धरण वैदिक विचारधारा से तीन दृष्टिकोण से साम्य रखते हैं - गन्धर्वों और देवों का साहचर्य, गन्धर्वों का आवास तथा गन्धर्वों और अप्सराओं का सदैव साथ साथ विचरण एवं निवास । ऋग्वेद के एक छन्द में वर्णित है कि सूर्य का रथ गन्धर्वों द्वारा अधिष्ठित रहता है ।[130] गन्धर्वों के आवास के सम्बन्ध में अथर्ववेद में वर्णित है कि गन्धर्व पर्वत-कन्दरा, समुद्र और स्वर्ग में निवास करते हैं ।[131] अप्सराओं और गन्धर्वों के सान्निध्य पर प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि 'परम व्योम' में अप्सरा गन्धर्व का अभिसरण वैसे ही करती है, जिस प्रकार अभिसारिका अपने प्रणयी का ।[132]

आलोचित पुराण में गन्धर्वों के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण अवश्य प्राप्त होता है । इसमें गन्धर्वों को गायन के साथ संयुक्त करके उनके नवीन स्वरूप पर प्रकाश डाला है । सूर्य के रथ की श्री वृद्धि गन्धर्व गायन के द्वारा करते हैं, ऐसा प्रस्तुत पुराण में वर्णित है ।[133] विष्णु पुराण ने गन्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति का आधार ही गन्धर्वों का गायन माना है । इसमें उल्लिखित है कि जिस समय ब्रह्मा के शरीर से इनका उद्भव हुआ, ये गीतोच्चारण कर रहे थे ।[135] इस सन्दर्भ में मैक्डानल का मत संगत है कि गन्धर्वों का यह स्वरूप वेदोत्तरवर्ती काल का नवीन संयोजन है ।[136] अन्यत्र कहा गया है कि महाराज कार्तवीर्य की यशोगाथा का गन्धर्व गण गान करते थे ।[136]

<u>अप्सरा</u>

अप्सराओं के विषय में प्रस्तुत पुराण में दो तथ्य स्पष्टतः प्रकाशित किये गये हैं, एक तो गन्धर्वों का और उनका निरन्तर साहचर्य तथा उनकी नर्तनशीलता । अप्सरा सम्बन्धी विभिन्न स्थलों पर वर्णित है कि गन्धर्व गायन करते हैं तथा अप्सरायें नृत्य का प्रदर्शन करती हैं । एक प्रसंग में कहा गया है कि शैलाधिराज हिमालय पर महादेव रुद्र का उमा के साथ विवाह हुआ था और यहीं पर वरांगना उमा देवी ने कठोर तप किया था । इसी विख्यात उमावन में सुन्दर गन्धर्व और अनेक अप्सरायें सदा आनन्द मनाती रहती हैं ।[137] अन्यत्र उल्लिखित है कि नाना वर्ण के हजारों

पर्वतों पर गन्धर्व, सिद्ध, अप्सरा, किन्नर, दैत्य, राक्षस आदि निवास करते हैं ।[138] यहाँ अप्सराओं का आवास भी गन्धर्वों के समान पर्वत पर बताया गया है । एक अन्य प्रसंग में वर्णित है कि रक्ष, पिशाच व यक्ष गण हिमालय पर तथा गन्धर्व और अप्सरायें हेमकूट पर्वत पर स्थित हैं ।[139]

अप्सराओं की उत्पत्ति के विषय में आलोचित पुराण में कहा गया है कि दस दिव्यगुण युक्त स्वर्गीय अप्सरायें हैं तथा इनके अतिरिक्त भगवान नारायण के ऊरु-भाग से अनुपम सुन्दरी उर्वशी नामक अप्सरा उत्पन्न हुई जो स्वर्ग की ग्यारहवीं अप्सरा कही जाती है । ये सभी अप्सरायें ब्रह्मवादिनी और योगाभ्यास में सर्वदा निरत रहने वाली कही जाती हैं । इन अप्सराओं के चौदह पवित्र गण विख्यात हैं। दो गणों के नाम आहूत और शोभयन्त हैं । आहूत गण की अप्सरायें ब्रह्मा की मानस कन्यायें हैं और शोभयन्त मनु की कन्यायें हैं । इसके अतिरिक्त वेगवन्त, अग्निसम्भव, आयुष्मती, कुरु, शुभा, बह्नि, वारिजा, सुदा, भवा, रुचा, भैरवा और शोभयन्ती अन्य बारह गण हैं । इन्द्र, विष्णु प्रभृति प्रमुख देवगणों ने इन अप्स-राओं को स्वरूप की अतिशयता प्रदान कर निर्मित किया है । इन सभी में महाभाग्य-शालिनी तिलोत्तमा परम सुन्दरी कही जाती है । लोकविख्यात देवनारी प्रभावती ब्रह्मा के अग्निकुण्ड से उत्पन्न कही जाती है । परमकान्तियुक्त सुर नारी वेदवती बुद्धिमान ब्रह्मा के वेदी तल से उत्पन्न हुई । इस प्रकार अनेक सहस्त्र तेजस्विनी अप्स-राओं के समूह हुए और सभी अप्सरायें चम्पा के पुष्प की भाँति गौरवर्ण की एवं सुग-न्धित शरीर वाली थी ।[140] अन्यत्र वर्णित है कि सभी अप्सरावृन्दों का स्वामित्व ब्रह्मा ने कामदेव को प्रदान किया ।[141]

प्रस्तुत पुराण में अप्सराओं को केवल गन्धर्वों की प्रणयिनी ही नहीं माना गया है, अपितु उनका प्रणय मानव वर्ग तक भी व्याप्त है । दिव्य गुणयुक्त अप्सरा उर्वशी ने परम तेजस्वी, यज्ञकर्ता और दानपरायण बुध के पुत्र राजा पुरुरवा को पति-रूप में वरण किया और चौंसठ वर्षों तक उसके साथ रही, ऐसा एक स्थल पर कहा गया है ।[142]

आलोचित पुराण में प्राप्त होने वाले अप्सरा विषयक विचारों पर स्पष्ट रूप से वैदिक परम्परा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । वैदिक साहित्य में प्रारम्भ से ही अप्सराओं के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वही पौराणिक उद्धरणों में भी उपलब्ध है । ऋग्वेद में अप्सरा का आवास 'परम व्योम' में बताया गया है ।[143] अथर्ववेद में उन्हें गन्धर्वों की पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है ।[144] इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में उनकी नर्तनशीलता पर प्रकाश डाला गया है और गन्धर्वों के साथ साथ मनुष्य वर्ग से भी उनके प्रेम सम्बन्ध निरूपित किये गये हैं ।[145]

यक्ष

प्रस्तुत पुराण में उल्लिखित है कि ब्रह्मा के द्वारा रजस्तम शरीर को धारण करके जो प्रजा उत्पन्न की गई वह जल को ही खाने को तत्पर हो गई । हम जल की रक्षा करते हैं, यह कहते हुए जो उत्पन्न हुए वे क्रोधी निशाचर राक्षस कहलाये । जिन्होंने कहा कि हम जल को खा जायेंगे, नष्ट कर देंगे, वे यक्ष कहलायें ।[146] जल को क्षीण करने की चेष्टा करने के कारण क्षयार्थक 'क्षि' धातु के आधार पर उन्हें यक्ष शब्द से अभिहित किया गया । प्रसंगान्तर में भी यक्ष नामकरण पर प्रकाश डाला गया है । कश्यप की पत्नी खशा में उत्पन्न दो पुत्रों में से एक ने उत्पन्न होते ही माता को भक्षण के लिये खींचा । ज्येष्ठ भाई के इस दुर्व्यवहार का छोटे भाई ने निषेध किया । उसी के अनुरूप तत्वदर्शी कश्यप ने उनका नामकरण किया । 'यक्ष' धातु भक्षण करने और कर्षण (खींचने) के अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः ज्येष्ठ पुत्र ने 'यक्ष-यति' का उच्चारण किया था, वह यक्ष के नाम से विख्यात हुआ ।[147] विष्णु पुराण में भी यक्षों को प्रजापति से उत्पन्न माना गया है ।[148] यक्षों का निवास स्थान भी पर्वत ही बताया गया है । एक स्थल पर शतशृंग पर्वत पर अत्यन्त बली यक्षों के सौ पुरों का उल्लेख है ।[149] इसके अतिरिक्त यक्षों के अधिपति श्रीमान् वैश्रवण बताये गये हैं और ब्रह्मा के द्वारा यक्षों, राक्षसों, भूतियों एवं धन सम्पत्ति का स्वामित्व विश्रावा के पुत्र कुबेर को समर्पित करने का वर्णन प्राप्त होता है ।[150] ब्रह्माण्ड पुराण में भी वर्णित है कि यक्षों के राजा कुबेर हैं, जो अलका नामक नगरी के अधीश्वर हैं ।[151]

प्रस्तुत पुराण में कुबेर के लिये 'यक्षराज' और 'यक्षेन्द्र' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा उन्हें कैलाश पर स्थित विशाल भवन पंक्तियों से भूषित नगर का स्वामी बताया गया है। इस प्रसंग में उल्लिखित है कि नाना रत्नों से विभूषित पुष्पक नामक सुन्दर महाविमान यक्षराज महात्मा कु कुबेर की सवारी में काम आता है। यहीं पर सब भूतों के पूज्य यक्षेन्द्र एकपिंगल देव स्वयं निवास करते हैं। जो महादेव के सखा हैं। देवोत्तम यह महात्मा कुबेर यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, चारण और अप्सराओं के साथ निरन्तर वास करते हैं। यक्षेश्वर कुबेर की सभा में पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, कुमुद, शंख, नील और निधि श्रेष्ठ नन्दन नामक आठ अक्षय दिव्य कोषागार स्थित हैं।[152] कुबेर के सम्बन्ध में अन्य स्थल पर कहा गया है कि देवाचार्य बृहस्पति की परम यशस्विनी कन्या देववर्णिनी और ऋषि विश्रवा के ज्येष्ठ पुत्र कुबेर का उत्पन्न होने पर विधान देवताओं का था, श्रुतिज्ञान ऋषियों का था, रूप राक्षसों का था, बल असुरों का था, तीन चरण थे, विशाल शरीर था, सिर बहुत बड़ा था, आठ दाँत थे, एक बाहु छोटा और एक बहुत बड़ा था। देखने में पीले वर्ण और परम भयानक लगता था। उसे जगत की माया आदि का पूर्ण ज्ञान था, ज्ञान सम्पत्ति से पूर्ण समृद्ध था, इस प्रकार के विश्वरूप धारी पुत्र को देखकर पिता ने कहा, यह स्वयं कुबेर हैं, 'कु' शब्द कुत्सित अर्थ का वाची है और बेर शरीर को कहते हैं यतः बेर (शरीर) कुत्सित (भद्दा) है, अतः कुबेर नाम से अभिहित किया गया। विश्रवा का पुत्र होने के कारण लोक में वैश्रवण के नाम से इसकी ख्याति होगी।[153] कुबेर के ही विषय में प्रसंगान्तर में कहा गया है कि पिशाच नामक शिखर पर कुबेर का विशाल भवन है जहाँ यक्ष-गन्धर्व सदैव विचरण किया करते हैं।[154]

ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों तथा उपनिषद् ग्रन्थों में भी यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है।[155] इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं। हिलेब्रान्त ने इसका तात्पर्य संगीतज्ञ माना है।[156] कुमारस्वामी ने वैदिक साहित्य के आधार पर इस शब्द का तादात्म्य भयंकरता के साथ किया है।[157] पौराणिक स्थलों पर भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति मिलती है। आलोचित पुराण में

यक्ष शब्द का आधार 'क्षी' धातु बताई गई है जिसका अर्थ विनाश करना होता है।[158] इसी पुराण में अन्यत्र यक्षों की भयंकरता का भी स्पष्ट विवरण दिया गया है । उनके विषय में वर्णित है कि वे केवल आँखों से देखकर मनुष्य के रक्त, मांस और चर्बी का भक्षण कर जाते हैं ।[159] इसी से साम्य रखने वाले वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण में भी प्राप्त होते हैं ।[160] वेदोत्तरवर्ती अन्य ग्रन्थों में भी यक्षों के स्वरूप का पर्याप्त विवरण मिलता है । महाभारत में यक्षों का आवास मन्दरागिरि बताया गया है और कुबेर को यक्षराज शब्द से अभिहित किया गया है ।[161] जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट हो चुका है कि यक्षों के विषय में प्रस्तुत पुराण में भी ऐसे ही प्रसंग मिलते हैं ।

नाग

नागों के सन्दर्भ में आलोचित पुराण में उसी स्वरूप का वर्णन है जो गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के प्रसंगों में मिलता है । एक स्थल पर वर्णित है कि ब्रह्मा ने समस्त दंष्ट्राधारी सर्पों का स्वामित्व शेष को तथा नागों का स्वामी वासुकि को बनाया । सरीसृप, सर्प, एवं नागों का स्वामी तक्षक को बनाया ।[162] अन्यत्र उल्लिखित है कि सुमेरू पर्वत पर सुन्दरी अप्सराओं के गण, गन्धर्व आदि के साथ साथ उरग भी अधिष्ठित हैं ।[163]

इसी प्रकार चम्पक वन के विषय में वर्णित है कि विकंक और मणिशैल पर्वतों के मध्य में स्थित इस वन में दानव, देव, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा, किन्नर और महानाग सदैव विचरण करते हैं ।[164] अन्यत्र एक प्रसंग में कहा गया है कि ताम्राभ पर्वत पर कुनन्दन तक्षक की उत्तम पुरी है । अंजन पर्वत पर उरग गण रहते हैं और मुकुट पर्वत पर पन्नगों के अनेक शैलावास हैं ।[165] प्रस्तुत पुराण के उद्धरणों से समानता रखने वाले स्थल मत्स्य एवं ब्रह्माण्ड पुराण में भी उपलब्ध हैं मत्स्य पुराण में वर्णित है कि हेमकूट पर्वत, अप्सरा तथा गन्धर्व के साथ साथ शेष, वासुकि, तक्षक आदि सर्पराजों के सान्निध्य से अलंकृत है ।[166]

नागों के विषय में एक अन्य तथ्य जिस पर आलोचित पुराण में महत्व दिया

गया है वह है उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी विविध धारणायें । एक स्थल पर कहा गया है कि जब अप्रिय सृष्टि को देखकर चतुर्मुख ब्रह्मा की केशराशि स्खलित हो गई । वह शीतोष्ण गुण युक्त सर्पाकार में परिणत होकर उन्हीं के ऊपर चढ़ने लगी । ब्रह्मा के शिर से च्युत होकर उसने अवसर्पण किया था इसी हीनत्व के कारण अहि और सर्पण के कारण सर्प, पन्नत्व अर्थात् स्थानान्तर प्राप्ति के कारण पन्नग भी कहलाई । पृथ्वी के गर्भ में जहाँ सूर्य और चन्द्र की किरणें नहीं पहुँच सकती हैं, वहीं उनका वास स्थान निर्दिष्ट हुआ । उस समय ब्रह्मा को अग्नितुल्य अत्यन्त दारुण क्रोध हुआ । वह क्रोध सर्पों के साथ ही उत्पन्न हुआ था अतः वह भी विष होकर सर्पों में प्रवेश कर गया ।[167] इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण में भी नागों को ब्रह्मा से उद्भूत माना गया है ।[168]

प्रस्तुत पुराण में कुछ ऐसे भी प्रसंग उपलब्ध हैं जहाँ नागों को देव श्रेणी में रखा गया है और नागोपासना का उल्लेख है । एक स्थल पर वर्णित है कि कैलाश के उत्तर में जारुधि नामक देवपर्वत पर, जिसके अनेक शृंग हैं - हजारों गन्धर्वों, यक्षों, किन्नरों राक्षसों आदि के साथ साथ नागों के भी अनेक मन्दिर हैं ।[169]

यहीं पर प्रसंगान्तर में वर्णित है कि वहाँ चण्ड नामक अत्यन्त दुर्धर्ष एवं भयंकर नागपति निवास करते हैं, वे महाभाग सौ सिर वाले हैं और उन सिरों पर विष्णुचक्र चिन्हित हैं ।[170] अन्यत्र कहा गया है कि पृथ्वी के शिलाभौम नामक छठे रसातल के नीचे सातवें पाताल तल के अन्त में सर्पगण निवास करते हैं । ये कान्तिमान् प्रभु कुण्डली, निर्मल, सुवर्ण, शृंगमय, और हजारों मुखों से वहाँ सुशोभित रहते हैं । ये नागराज अग्नि की चंचल शिखा के समान असंख्य जिह्वाओं से ज्वाला-माला को फेंकते रहने के कारण कैलास की तरह दिखाई पड़ते हैं । चिकने शरीर से कुंडली बाँधे हुए नागराज बालसूर्य की तरह ताम्रवर्ण वाले अपने दो हजार नेत्रों से वहाँ सुशोभित हो रहे हैं । जिस समय ये सोते या बैठते हैं, उस समय द्युतिमान नागराज जटाओं के द्वारा अत्यन्त भयंकर प्रतीत होते हैं । विशाल शरीर, महाभाग्य, अतुलबल और महानाग होने के कारण वह महातेजस्वी महानागपति सबके द्वारा पूजित हो रहे हैं । सभी

नागों के राजा वे महाद्युतिमान शेष भगवान् हैं । यह विष्णु का ही सर्प रूपी शरीर है जो पृथ्वी की सीमा पर स्थित है ।[171] विष्णु पुराण में भी शेषनाग को विष्णु का स्वरूप बताया गया है और प्रसंगान्तर में नागरूपी विष्णु की उपासना का स्पष्टीकरण किया गया है ।[172]

फोगेल का मत है कि वैदिक साहित्य के प्रारम्भिक उदाहरणों में नाग पूजा का उल्लेख मिलने लगता है । ऋग्वेद में अधिकांश रूप से अनुष्ठानों पर चर्चा की गई है और इसके साथ ही इसे तत्कालीन संस्कृति के विविध पक्षों का प्रमाण नहीं माना जा सकता है, अतएव इसमें नागोपासना के स्वरूप पर स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता है । लेकिन अथर्ववेद में नागपूजा के सम्बन्ध में पूर्णतः प्रकाशित स्थल मिलते हैं ।[173] पुराणों के अतिरिक्त अन्य वेदोत्तर ग्रन्थों में महाभारत का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें नागों का आवास पाताल बताया गया है और शेषनाग का विष्णुरूप वर्णित है ।[174]

विभिन्न स्थलों को विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आलोचित पुराण में विष्णु, महादेव, सूर्य, ब्रह्मा, शक्ति आदि देवताओं के अतिरिक्त अन्य देव गणों के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है जो परिवर्तन की प्रवृत्ति का द्योतक है । वैदिक कालीन इन्द्र, अग्नि आदि प्रमुख देवताओं ने पौराणिक संरचना के समय विष्णु तथा शिव की अपेक्षा गौण स्थान अवश्य प्राप्त किया परन्तु वह भी वैदिक परम्परा से आवृत्त है । इसी प्रकार देवयोनि गन्धर्व आदि के विषय में भी वैदिक वाङमय का प्रचुर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

सन्दर्भ

1. ब्रह्मा कमलगर्भाभ: ------- पातिर्यस्मात्प्रजा: सर्वा: प्रजापतिरत: स्मृत: ।
   वायु पुराण, 5/29-37.

2. यथा भर्वास्तथा चाहमादिकर्त्ता प्रजापति: । तत्रैव, 24/21.

3. तेषां मध्ये सुरश्रेष्ठ देवदेवश्चतुर्मुख: ।
   ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ----- । तत्रैव, 34/70.

4. स वै शरीरी प्रथम: कारणत्वे व्यवस्थित: । तत्रैव, 5/22.

5. तत्रैव, 103वां अध्याय ।

6. तत्रैव, 6/4-10.

7. वेदस्कन्धो ----- । तत्रैव, 6/20.

8. तत्रैव, 61वां अध्याय ।

9. ऋग्वेद, 10/121

10. शतपथ ब्राह्मण, 2/2/4/1.

11. --- ब्रह्मा चैव प्रजापति: । विष्णु स्मृति, 55/18.

12. अन्योन्यप्रीतिरनयोरुमाशंकरयोर्यथा ।
    श्लेषं संसक्तयोर्ज्ञात्वा शंकित: किल वृत्रहा ।
    ताभ्यां मैथुनसक्ताभ्यामत्योद्भवभीरुणा ।
    तयो: सकाशमिन्द्रेण प्रेषितो हव्यवाहन: । वायु पुराण, 72/20-21.

13. ------- वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर । ऋग्वेद, 1/102/7.

14. ------- वृत्रहा शूर विद्वान । तत्रैव, 3/52/7.

15. इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः । तत्रैव, 1/11/4.

16. वि चिद्वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । तत्रैव, 8/6/6.

17. भिद्यमानस्तदा गर्भो वज्रेण शतपर्वणा । वायु पुराण, 67/103.

18. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/5/69.

19. तस्मात्ते श्रीपतिः ----- सहस्त्राक्षः पुरन्दरः । वायु पुराण, 34/75.

20. तत्रैव, 67/128.

21. त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः ----- । ऋग्वेद, 1/51/5.

22. वायु पुराण, 64/7.

23. तत्रैव, 92/87.

24. तत्रैव, 92/99.

25. सर्वैः कृतशतैरिष्टं पृथक्छतगुणेन तु । तत्रैव, 64/7.

26. तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । ऋग्वेद, 1/8/9.
हे शतक्रतो बहुकर्मयुक्त -------------- । सायण भाष्य ।

27. पुष्करावृर्त्तका नाम ये मेघाः पक्षसम्भवाः ।
शक्रेण पक्षाच्छिन्ना ये पर्वतानां महौजसाम् । वायु पुराण, 51/37-38.

28. प्र इन्द्र --- अश्नथायो अद्रिं --- अकृणोर्ब्रह्मणे गां । ऋग्वेद, 10/112/8.

29. अद्रिं मेघम् श्नथय ----- वज्रेणाहिंसीः । सायण भाष्य ।

30. शचीपते शचीनां ----- विवक्षसे । ऋग्वेद, 10/24/2.
अतो हे शचीपते कर्मणां पालयितः --- । सायण भाष्य

31. --- वृथा ह्ये होमेण धेनां मघवा यदिन्वति । ऋग्वेद, 1/55/4.

32. मन्वन्तरेषु च ते सर्वे ------ । वायु पुराण, 64/7.

33. तस्मान्नित्यप्रमादस्ते वासव: परमं जलम् । मत्स्य पुराण, 122/10.

34. ऐश्वर्यमदद्दुष्टात्मन्नतिस्तब्धोऽसि वासव । विष्णु पुराण, 1/9/12.

35. वायु पुराण, 70वां अध्याय ।

36. त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं --- क्षेष्ठ: । ऋग्वेद, 1/170/5.

37. वायु पुराण, 34/80-85.

38. भूतस्याधिपतिश्चाग्निस्ततो भूतपति: स्मृत: । तत्रैव, 101/21.

39. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/2/19.

40. तम: प्रकाशकोऽग्निस्तु कालत्वेन व्यवस्थित: । वायु पुराण, 5/15.

41. तत्रैव, 53वां अध्याय ।

42. तत्रैव, 53वां अध्याय ।

43. तत्रैव, 50वां अध्याय ।

44. विष्णु.पु.,2/8/21-22.

45. ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्त: समंगिरसो नवन्त गोभि: ।
शुनं नर: परि षदन्नुषासमावि: स्वर भवज्जाते अग्नौ । ऋग्वेद, 4/3/11.

46. ऐतरेय ब्राह्मण, 8/28/9.

47. वायु पुराण, 29/2-10.

48. तत्रैव, 48/37-40.

49. यदेतद्ब्रह्मणाभं --- स्मृतं मया ।
त्रिजिह्वं लेलिहानं --- द्विजा:। तत्रैव, 32/15.

50. मत्स्य पुराण, 51/10-12.

51. त्वमग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे । ऋग्वेद, 2/1/13.

52. प्रत्यग्निरुषसश्चेकितानो --- तमसो बहिराव: --- । तत्रैव, 3/5/1.

53. त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे । तत्रैव, 1/146/1.

54. त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह ।
आसा देवा हविरदंत्याहुतम् । तत्रैव, 2/1/14.

55. यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं --- । तत्रैव, 10/46/10.

56. अपां तु वरुणं राज्ये ----- । वायु पुराण, 70/7.

57. हरित: स ह्यपांपते: । तत्रैव, 69/209.

58. तत्रैव, 35/88.

59. तत्रैव, 86वां अध्याय ।

60. आ राजाना --- सिन्धुपती --- मित्रावरुणोत --- । ऋग्वेद, 7/64/2.

61. मत्स्य पुराण, 148/84.

62. प्र नो मुंचतं वरुणस्य पाशाद्गोपायतं --- । ऋग्वेद, 6/74/4.

63. विष्णु पुराण, 5/30/59.

64. द्विजातीनां वीरुधां च सोमं राज्येऽभ्यषेचयत् । वायु पुराण, 70/3.

65. सोमं --- सर्वाधिपति: --- । तत्रैव, 31/38-42.

66. अभ्यस्ता: समुद्भूतास्तैजसा संज्वलंत्युत । तत्रैव, 90/15-17.

67. मत्स्य पुराण, 176/8,9 तथा ब्रह्माण्ड पुराण, 2/13/127.

68. नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धीनामन्त: सबर्दुघ: । ऋग्वेद, 9/12/7.
----- वनस्पति: वनानां पालयिता सोमो --- । सायण भाष्य ।

69. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा । वाजसनेय संहिता, 9/40.

70. वायु पुराण, 53वां अध्याय ।

71. तत्रैव, 31वां अध्याय ।

72. मत्स्य पुराण, 250/2.

73. एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् । ऋग्वेद, 9/61/7.
सिन्धुमातरं यस्य सोमस्य सिन्धवो नद्यो मातरो भवन्ति -- । सायण भाष्य ।

74. वायु पुराण, 56/31.

75. तत्रैव, 72वां अध्याय ।

76. तत्रैव, 56/8.

77. त्वं सोम पितृभि: संविदानोऽनुद्यावापृथिवी आ ततंथ । ऋग्वेद, 8/84/13.

78. --- सोमाय वा पितृमते --- । शतपथ ब्राह्मण, 2/6/1/4.

79. वायु पुराण, 52/49-54.

80. तत्रैव, 45वाँ अध्याय ।

81. तत्रैव, 50/90.

82. --- सोमस्य या शमितारा सुहस्ता ।
मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां--। ऋग्वेद, 5/43/4.

83. मैक्डानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 112.

84. तस्मात्ते मरुतो देवा: सर्वे चेन्द्रानुगामरा: । वायु पुराण, 67/133.

85. तत्रैव, 78वाँ अध्याय ।

86. विष्णु पुराण, 1/21/41.

87. रोदसी आ वदता गणश्रियो --- मरुतो रथेषु व: । ऋग्वेद, 1/64/9.

88. वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये --- ।
विश्वे ते अत्र --- मरुत: सह त्मना । तत्रैव, 10/113/3.

89. वायु पुराण, 99वाँ अध्याय ।

90. तत्रैव, 101वाँ अध्याय ।

91. यो वर्धन ओषधीनां यो अपां --- देव ईशे । ऋग्वेद, 7/101/2.

92. मेघानां वर्षितस्य च पर्जन्यमभिषिक्तवान् , वायु पुराण, 70वाँ अध्याय, 70/13.

93. मत्स्य पुराण, 122/9-10.

94. विष्णु पुराण, 5/10/19.

95. वायु पुराण, 100वाँ अध्याय ।

96. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 83.

97. भूमिं पर्जन्या जिन्वंति दिवं जिन्वंत्यग्नय: । ऋग्वेद, 1/64/51.
पर्जन्या: ------- प्रीणयितारो मेघा --- । सायण भाष्य ।

98. ग्रिफिथ, दि हिम्स आफ दि ऋग्वेद, कृ०सं०, भाग 1, पृष्ठ 382, पाद टिप्पणी ।

99. वायु पुराण, 84वाँ अध्याय ।

100. विष्णु पुराण, 3/2/7 तथा मत्स्य पुराण, 11/35-36.

101. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्य: कृत्वी सवर्णामदद्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीजहादु द्वा मिथुनासरण्यु: । ऋग्वेद, 10/11/2.

102. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 51.

103. वायु पुराण, 55/40.

104. तत्रैव, 33वाँ अध्याय ।

105. तयोश्च महात्मनावश्विनौ भिषजां वरौ । तत्रैव, 30/84.

106. ब्रह्माण्ड पुराण, 4/20/52.

107. मत्स्य पुराण, 150/201.

108. उत त्या दैव्या भिषजा --- अश्विना । ऋग्वेद, 8/18/8.

109. वायु पुराण, 76वाँ अध्याय ।

110. तत्रैव, 86वाँ अध्याय ।

111. तत्रैव, 66वाँ अध्याय ।

112. तत्रैव, 76/5-10.

113. बृहस्पतेर्बृहत्कीर्त्तिर्दिवाचार्यस्तु कीर्त्तितः । तत्रैव, 70/33.

114. तत्रैव, 70/2-3.

115. ----- पुरोधा यो दिवौकसां ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः श्रमतां सोऽपद्यत। तत्रैव, 99/37.

116. अग्निमाप्यायेद्धोता मन्त्रैरेव बृहस्पतिः । तत्रैव, 97/106.

117. तत्रैव, 98/26-27.

118. विष्णु पुराण, 4/9/22.

119. मत्स्य पुराण, 73/7.

120. बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
--- ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्राः दधिरे --- । ऋग्वेद, 4/50/1.

121. स संनयः स विनयः पुरोहितः --- । तत्रैव, 2/24/9.

122. एवं धनेनरूपेणआयुषा च बलेन च । धर्मैश्वर्येण बुद्धया च तपःश्रुतपराक्रमैः ।
देवासुरेभ्यो हीयन्तेत्रीन्पादान्वैपरस्परम् । गन्धर्वाद्याः पिशाचान्तास्चतस्रो-
देवयोनयः ।
वायु पुराण, 69/202-203.

123. तत्रैव, 39वाँ अध्याय ।

124. गन्धर्वनगरी स्फीता हेमकक्षे नगोत्तमे । ----- गन्धर्वां युद्धशालिनः ।
तत्रैव, 39/51.

125. तत्रैव, 40वाँ अध्याय ।

126. तत्रैव, 37वाँ अध्याय ।

127. स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः ------ ।
तत्रैव, 52/1-2.

128. धयतीत्येष धातुर्वै पानार्थे परिपठ्यते ।
पिबन्तोजज्ञिरे गास्तु गन्धर्वास्तेन ते स्मृताः ।
तत्रैव, 9/40.

129. विष्णु पुराण, 1/15/79.

130. ऋग्वेद, 1/163/2; द्रष्टव्य, वैदिक माइथालोजी, मैक्डानल, पृष्ठ 136.

131. अथर्ववेद, 2/1/2, 2/2/1, 2/2/3.

132. ऋग्वेद, 10/123/5 पर सायण की टीका; द्रष्टव्य, मैक्डानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 137. हाप्किंस, एपिक माइथालोजी, पृष्ठ 156.

133. वायु पुराण, 52/24.

134. तस्य राज्ञो जगौ गाथां गन्धर्वोनारदस्तथा । तत्रैव, 94/19.

135. विष्णु पुराण, 1/5/44.

136. मैक्डानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 137.

137. वायु पुराण, 41वाँ अध्याय ।

138. तत्रैव, 41वाँ अध्याय ।

139. रक्षः पिशाचा -------- हेमकूटेषु गन्धर्वा विज्ञेयाः साप्सरोगणाः ।
तत्रैव, 46/32.

140. तत्रैव, 69/50-62.

141. सर्वाप्सरोगणानां च कामदेवं तथैव च । तत्रैव, 70/14.

142. तत्रैव, 91/10-12.

143. ऋग्वेद, 10/123/5.

144. अथर्ववेद, 2/2/5.

145. मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 134-135.

146. वायु पुराण, 9/32-33.

147. तत्रैव, 69/97.

148. विष्णु पुराण, 1/5/59.

149. शतशृंगे पुरशतं यक्षाणाममितौजसाम् । वायु पुराण, 39/54.

150. तत्रैव, 70/7.

151. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/7/162-163.

152. वायु पुराण, 41/4-10.

153. तत्रैव, 70/35-40

154. पिशाचके ~~गिरिवर~~ हर्म्यप्रासादमण्डितम् ।
यक्षगन्धर्वचरितं कुबेरभवनं महत् । तत्रैव, 39/57.

155. कुमारस्वामी, यक्षाज, भाग 2, पृष्ठ 1.

156. कुमारस्वामी द्वारा उद्धृत, यक्षाज, भाग 2, पृष्ठ 1.

157. कुमारस्वामी, यक्षाज, भाग 2, पृष्ठ 1.

158. य एव क्षितिधात्वें क्षयणे संनिरुच्यते । वायु पुराण, 9/33.

159. यक्षा दृष्टा पिबन्तीह नृणां मांसमसृग्वसाम् । तत्रैव, 69/197.

160. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/7/162-165.

161. हाप्किंस, एपिक माइथालोजी, पृष्ठ 10.

162. सर्वेषां दंष्ट्रिणांश्चैनानामथवासुकिम् सरीसृपाणां सर्पाणां नागानां चैवतक्षकम् । वायु पुराण, 70/12.

163. तत्रैव, 34/55.

164. तद्वनं ------- महानागैश्च सेवितम् । तत्रैव, 37/21.

165. तत्रैव, 39वां अध्याय ।

166. मत्स्य पुराण, 114/82-83.

167. वायु पुराण, 9/34-36.

168. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/8/35-36.

169. वायु पुराण, 41/66-67.

170. तत्रैव, 41/73.

171. तत्रैव, 50/45-53.

172. विष्णु पुराण, 3/17/23 एवं 6/3/24.

173. फोगल, इण्डियन सर्पेण्ट लोर, पृष्ठ 6,
मैकडानल, वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ 153

174. हाप्किंस, एपिक माइथालाजी, पृष्ठ 23-24.

तीर्थ विषयक पौराणिक परिकल्पना की समीक्षा

तीर्थ गमन और तीर्थ सेवन से सम्बन्धित विचारों का उद्भव और विकास पौराणिकों की ही देन है, ऐसा कहना सर्वथा अतिशयोक्तिपूर्ण होगा परन्तु यह निःसन्देहात्मक रूप से कहा जा सकता है कि प्राक् पौराणिक काल में इस धार्मिक तत्त्व का स्वरूप शैशवावस्था में था। इस विषय में पाठिल महोदय का मत है कि वैदिक वाङ्मय में जल को शुद्धि का एक महान स्त्रोत अवश्य माना गया है और ऋग्वेद में सरिता के जल की पवित्रता का भी बहुधा वर्णन मिलता है किन्तु तीर्थ गमन के लिये पवित्र स्थलों अथवा तीर्थों के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता है। बौद्ध जातकों में गया, तिम्बरु, दोण और बाहुक इन चार तीर्थों का स्पष्टतः नामोल्लेख है। पयाग (प्रयाग) की भी स्नानार्थ तीर्थ के रूप में चर्चा की गई है। जैन सूत्रों में भी पवित्र स्नान-स्थलों का वर्णन प्राप्त होता है। कौटिल्य के अनुसार राजा के प्रतिनिधियों को तीर्थों, सभा और शालाओं में प्रचार करना चाहिये। सम्भवतः कौटिल्य के युग में इन स्थानों पर जन समुदाय एकत्रित होता था। मनुस्मृति में तीर्थयात्रा को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर श्री पाठिल अपने मत की पुष्टि करते हैं कि तीर्थ गमन को बौद्ध और जैन धर्मों द्वारा धार्मिक रूपरेखा प्राप्त करने में प्रेरणा प्राप्त हुई।[1] इस मत को केवल आंशिक रूप से ही समीचीन माना जा सकता है। बौद्ध और जैन धर्मों में तीर्थ गमन की अवधारणा को विकास का सुअवसर अवश्य प्राप्त हुआ परन्तु जो [illegible] और विस्तार तीर्थ यात्रा के पौराणिक रूप में है, उसका स्त्रोत बौद्ध एवं जैन धर्मों को नहीं मान सकते हैं। वैदिक ग्रन्थों में, विशेष रूप से ब्राह्मणों तथा श्रौत सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि धार्मिक स्थानों का दर्शन तथा ऐसे स्थलों पर पुण्य-प्रचुर कार्यों का सम्पादन धार्मिक उपलब्धि का विशेष कारण होता है। ऋग्वेद के एक स्थल पर वर्णित है कि यज्ञ करने से इन्द्र उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार तीर्थ में वर्तमान जल व्यक्ति की पिपासा को शान्त करता है।[2] यहाँ पर भाष्यकार सायण ने तीर्थ शब्द का अर्थ मार्ग स्वीकार किया है।[3] इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रसंग उपलब्ध हैं जहाँ पर तीर्थ का तात्पर्य धार्मिक स्थान है। एक छन्द में उल्लिखित है कि यजमान का हविस् जैसे

ही देवताओं का प्राप्त होता है, जैसे तीर्थ में विसृष्ट जल ।[4] तैत्तिरीय संहिता में यजमान को तीर्थ में स्नान करने का आदेश दिया गया है ।[5] तीर्थ का तात्पर्य यहाँ पर नदी से है ।[6] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने तीर्थ का मूल अर्थ माना है वह स्थान जहाँ पर किसी नदी को पार किया जा सकता है । क्रमिक रूप से नदी तट होने के कारण पवित्रता की दिव्य भावना से मण्डित होने पर वही स्थल धार्मिक तात्पर्य वाले 'तीर्थ' के रूप में स्वीकृत होने लगता है । तीर्थ मूलतः नदी से सम्बद्ध है ।[7] इस प्रकार वैदिक साहित्य में तीर्थ विषयक स्थल अल्प मात्रा में अवश्य प्राप्त होते हैं परन्तु पौराणिक तीर्थों के स्वरूप की पृष्ठभूमि में वैदिक विचारधारा का सम्बल ही विद्यमान था ।[8] वास्तव में वैदिक काल में यज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठानों को इतनी अधिक महत्ता प्रदान की गई थी कि उसमें तीर्थ यात्रा का एक स्वतन्त्र एवं प्रचलित धार्मिक संस्थान के रूप में विकसित होना सम्भव नहीं था ।[9] वैदिक युग में तीर्थ यात्रा यज्ञ की अपेक्षा गौण थी परन्तु इसके विपरीत स्थिति पौराणिक विधान में प्राप्त होती है जहाँ पर तीर्थ गमन को प्राथमिकता देते हुए प्रतिपादित किया गया है कि यज्ञ का सम्पादन उन अनेक धार्मिक कृत्यों में से केवल एक है जिन्हें तीर्थ स्थलों पर सम्पन्न करना चाहिये । पौराणिकों का उद्देश्य था कि लोक मानस के अनुकूल रहने वाले धार्मिक क्रिया कलापों में तथा याज्ञिक विधानों में सन्तुलन एवं सामन्जस्य बनाये रखना । इसी दृष्टिकोण से ऋषियों ने यज्ञों की अपेक्षा तीर्थ यात्रा को विशिष्टता प्रदान की । मत्स्य पुराण में कहा गया है कि महर्षि और देवताओं ने यज्ञ का विधान अवश्य किया है, परन्तु दरिद्र व्यक्ति यज्ञ करने में असमर्थ है । इसे राजा अथवा समृद्धशाली लोग ही सम्पादित कर सकते हैं । इसी कारण ऋषियों ने इस परम रहस्यमय तीर्थ गमन को पुण्यमय तथा यज्ञ की अपेक्षा प्रमुख माना है ।[10] इसके अतिरिक्त अनेक पौराणिक उद्धरणों में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि तीर्थ यात्रा से वही फल प्राप्त होता है जो अश्वमेध यज्ञ के सम्पादन से होता है ।[11] अतः पौराणिक धर्म में प्रमुखता तीर्थों को देते हुए याज्ञिक क्रियाओं को उसमें अन्तर्निहित कर दिया गया ।

काणे महोदय के अनुसार यज्ञ की अपेक्षा तीर्थों को अधिक महत्वशील मानने की

प्रवृत्ति महाभारत और पुराणों में ही प्राप्त होती है ।[12] पार्जिटर महोदय का भी मत है कि महाभारत में तीर्थ स्थलों एवं तीर्थयात्रा सम्बन्धी प्रसंग प्रचुर रूप से उपलब्ध होते हैं ।[13] इस प्रकार वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में तीर्थों की महत्ता का व्यापक रूप से निरूपण किया जाने लगा । विष्णु स्मृति में भी वर्णित है कि महापातकियों की शुद्धि अश्वमेध तथा सभी तीर्थों के अनुसरण से होती है ।[14] महाभारत में तीर्थों की महिमा का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है । वनपर्व में छियत्तर अध्यायों का एक दीर्घ अवान्तर पर्व है जो तीर्थयात्रा पर्व के नाम से ही विख्यात है । इन अध्यायों में तीर्थों के सम्बन्ध में तीन वर्णन प्राप्त होते हैं । प्रथम वर्णन पुलस्त्य के द्वारा, द्वितीय धौम्य के द्वारा और तृतीय पूर्ण विकसित तीर्थों की सूची लोमश के द्वारा व्याख्यात है । प्रथम दोनों वर्णनों में स्थानों का निर्देशमात्र है परन्तु तृतीय सूची में अधिकतम स्थलों के विवरण के साथ उनसे सम्बद्ध महत्वशाली ऐतिहासिक घटनाओं का भी विस्तार से वर्णन किया गया है । वनपर्व में ही तीर्थ को यज्ञ की अपेक्षा महत्वपूर्ण बताते हुए निरूपित है कि यज्ञ में उपकरण-बाहुल्य की आवश्यकता रहती है जिसका सम्पादन राजा अथवा ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं । अतएव तीर्थ अनुगमन को यज्ञ की अपेक्षा ऋषियों ने श्रेष्ठ माना है ।[15] इसी से साम्य रखने वाला विवरण मत्स्य पुराण में है जो पूर्व विवेचित हो चुका है ।

महाभारत के समान पुराणों में भी तीर्थों को महिमान्वित किया गया है । ब्रह्म, मत्स्य, विष्णु, अग्नि, ब्रह्माण्ड, वायु आदि अनेक पुराणों में तीर्थों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । अधिकांशतः गंगा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा और गया - ये तीर्थ पञ्चक ही पुराणों में महत्वपूर्ण बताये गये हैं । वायु पुराण में नदियों के तट पर अवस्थित तीर्थों और नदियों के जल की पवित्रता का बहुधा वर्णन किया गया है । आलोचित पुराण से प्राप्त होने वाली तीर्थ विषयक सूचना विशिष्ट इस कारण है कि इसके अन्तर्गत तीर्थों को श्राद्ध अनुष्ठानों के सन्दर्भ में वर्णित किया गया है तथा कहीं कहीं पर विष्णु एवं शिव के अवतारों के साथ सम्बन्धित किया गया है ।[16]

तीर्थयात्रा के उद्देश्य

ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र हरिश्चन्द्र से कहते हैं कि जो व्यक्ति यात्रा नहीं करता उसे कभी प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती है। मानव समाज में रहते हुए कभी कभी सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी पापयुक्त हो जाता है। इन्द्र यात्री का ही मित्र है। अतः यात्रा करो।[17] सम्भवतः इसी अवधारणा से तीर्थ यात्रा का प्रारम्भ हुआ और वर्तमान समय तक यही परम्परा प्रचलित है। आलोचित पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि तीर्थों का अनुसरण करने वाला पापात्मा भी शुद्ध हो जाता है, शुभ कर्म करने वालों के लिये तो कुछ करना ही नहीं है।[18] ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है।[19] प्रस्तुत पुराण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि परम शोभासम्पन्न याज्ञवल्क्य तथा शाकल्य मुनि के वादविवाद के अवसर पर जब शाकल्य मुनि याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये तब ऋषियों और मुनियों के समक्ष शर्त के अनुसार उनकी मृत्यु हो गई। शाकल्य की मृत्यु से ऋषियों को ब्रह्महत्या का पाप लगा अतः वे ब्रह्मा के समीप गये। इस पापमुक्ति के लिये ब्रह्मा ने उन्हें वायुपुर भेज दिया और कहा कि वहाँ पर बारहों सूर्य, बालुकेश्वर, ग्यारह रुद्र, विशेषतः वायुपुत्र को नमस्कार करके तथा चारों कुण्डों में स्नान करके सभी ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाओगे।[20] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि तभी से वायुपुर नामक पावन तीर्थ पापों का विनाश करने वाला हो गया।[21] इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहा गया है कि पवित्र तीर्थों में किये गये स्वकर्मों के फल अन्य जन्म में प्राप्त होते हैं।[22] यहीं पर अन्य स्थल में उल्लिखित है कि परम बुद्धिमान महादेव ने जहाँ अपना चरण-न्यास किया था, उस उमातुंग, भृगुतुंग, ब्रह्मतुंग, महालय, कादम्बरी, शांडिलीगुफा, वामनगुफा आदि पवित्र तीर्थों की यात्रा करके मनुष्य पवित्रात्मा हो जाता है।[23] मत्स्य पुराण में कहा गया है कि प्रयाग के स्मरण, नाम संकीर्तन अथवा मृत्तिका के स्पर्श मात्र से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[24] इसी प्रकार महाभारत में भी भीष्म के द्वारा महर्षि पुलस्त्य से तीर्थ यात्रा के फल के विषय में पूछने पर वे बताते हैं कि मनुष्य तीर्थयात्रा से जिस फल को प्राप्त करता है, उसे प्रचुर दक्षिणा वाले अग्निष्टोम आदि यज्ञों द्वारा यजन करके भी नहीं प्राप्त कर सकता।[25]

स्वर्ग गमन एवं मोक्ष प्राप्ति

आलोचित पुराण के एक स्थल पर वर्णित है कि तीर्थों की यात्रा करने वाला एवं पापादि करने वाला विप्र तिर्यक् योनि में कभी जन्म नहीं लेता और न बुरे स्थानों में ही उसका जन्म होता है, प्रत्युत् वह स्वर्ग प्राप्त करता है, मोक्ष के उपाय उसे सुलभ हो जाते हैं ।[26] इसी प्रकार अलकनन्दी तीर्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि देवताओं और ऋषियों के समूहों से सुसेवित तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध इस तीर्थ में स्नान करके इच्छानुरूप विचरण करने वाले विहंगम स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं ।[27] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार इस तीर्थ के सेवन मात्र से मनुष्य सशरीर स्वर्ग जाता है ।[28] मत्स्य पुराण में कहा गया है कि अविमुक्तक्षेत्र के सेवन से शंकर का सामीप्य मिलता है ।[29] महाभारत में भी पुष्कर तीर्थ के सन्दर्भ में वर्णित है कि जो मनस्वी पुरुष मन से भी पुष्कर तीर्थ जाने की इच्छा करता है, उसके स्वर्ग के प्रतिबन्धक समस्त पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोक में पूजित होता है ।[30] इन पौराणिक उद्धरणों में तीर्थों की महिमा व्यापक रूप से बखानी गई है और अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध समविषयक स्थल भी इनकी पुष्टि करते हैं । विष्णु स्मृति भी तीर्थ को पापियों के शुद्धिकरण का कारण घोषित करती है ।

तीर्थगमन के अधिकारी

आलोचित पुराण के एक प्रसंग में वर्णित है कि ब्रह्मकुंड नामक सरोवर में स्नान कर इतरजाति वाले भी शीघ्र ही ब्राह्मणों की भाँति निष्पाप एवं पुण्यात्मा हो जाते हैं ।[31] मत्स्य पुराण में उल्लिखित है कि अविमुक्त क्षेत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर और म्लेच्छ आदि भी प्राणत्याग कर शिवपुर में आनन्द का उपभोग करते हैं ।[32] इसी सन्दर्भ में महाभारत में भी कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्मा के तीर्थ (पुष्कर) में स्नान कर लेता है, वह किसी योनि में जन्म नहीं लेता है ।[33] ब्रह्मतीर्थ के विषय में भी महाभारत में वर्णित है कि वहाँ स्नान करने से ब्राह्मणेतर वर्ण का व्यक्ति भी ब्राह्मणत्व लाभ करता

है । ब्राह्मण होने पर शुद्ध चित्त होकर वह परम गति को प्राप्त कर लेता है ।[34] इस प्रकार इन पौराणिक स्थलों का समर्थन महाभारत में पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है ।

तीर्थों में किये जाने वाले कर्तव्य

प्रस्तुत पुराण में तीर्थों में किये जाने वाले विभिन्न कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है । गया के विषय में निर्देशित है कि तीर्थ का मनोवांछित फल तभी प्राप्त होता है, जबकि चित्त अचंचल रहता है, इन्द्रियां वश में रहती हैं, मन एवं शरीर पवित्र रहता है तथा अहंकार आदि दूर रहते हैं ।[35] शालग्राम नामक तीर्थ के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि वहां अशिष्ट लोगों का जाना वर्जित है, केवल शिष्ट-जन ही वहां प्रवेश कर सकते हैं ।[36] यहीं पर अन्यत्र वर्णित है कि धैर्य और श्रद्धा से इन्द्रियों को स्ववश में रखकर पवित्र तीर्थों की यात्रा पापात्मा भी करे तो शुद्ध हो जाता है ।[37] इन सभी स्थलों पर सदाचार पालन के लिये विशेष आग्रह किया गया है । ब्रह्माण्ड पुराण में भी तमविषयक प्रसंगों में यही भावना प्राप्त होती है । इसमें वर्णित है कि जिनके हृदय में पाप समाविष्ट रहता है, उन्हें पवित्र तीर्थ व्यास में वर्तमान वेदी नहीं दिखाई पड़ती है ।[38] इसी प्रकार स्वर्गमार्गपृष्ट में विद्यमान नन्दिकेश्वर की प्रतिमा दुराचारी व्यक्तियों के लिये अदृश्य बताई गई है ।[39] मत्स्य पुराण में भी आलोचित पुराण के विचारों का समर्थन प्राप्त होता है । प्रयाग के महिमा निरूपण में कहा गया है कि जो तत्त्वज्ञानी मनुष्य गंगा यमुना के संगम में सत्य-निष्ठ होकर, अहिंसाव्रती होकर, क्रोध को विजित कर तथा गाय एवं ब्राह्मण के हितार्थ आचरण करते हुए स्नान करता है, उसके पाप क्षीण हो जाते हैं ।[40] प्रयाग के उपतीर्थों के विषय में वर्णन आया है कि इन स्थानों में ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा क्रोधादि को वश में करना चाहिये ।[41] आलोचित पुराण के एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पापी, संशयात्मा, परलोक में अनास्था रखने वाले, ईश्वर की स्थिति में सन्देह करने वाले तथा तार्किक; इन पांच प्रकार के व्यक्तियों को तीर्थों का फल नहीं प्राप्त होता है ।[42] समस्त पौराणिक उद्धरणों में प्राप्त होने वाले संयम और सन्मार्ग

सम्बन्धी भावों की पुष्टि महाभारत के द्वारा भी होती है । एक प्रसंग में उल्लिखित है कि जो मनुष्य ब्रह्मचर्य पालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थ में स्नान करता है, वह सब पापों से शुद्ध होकर ब्रह्मलोक में जाता है ।[43] अन्यत्र भी इसी प्रकार वर्णित है कि गोकर्ण तीर्थ की जलराशि अनन्त है । वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है । जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्यों के लिये यह तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है ।[44]

तपस्या

आलोचित पुराण में तीर्थस्थलों पर जप, हवन और तपस्या करने का विधान भी प्राप्त होता है । वाराणसी नगरी में योगेश्वर शंकर का नित्य निवास रहता है । अतः वहाँ जप, हवन, तप एवं अन्यान्य सत्कर्मों का भी अक्षयफल होता है ।[45] अन्यत्र कहा गया है कि कुरुक्षेत्री तीर्थ में परम सिद्धि प्राप्त होती है, वह सभी तीर्थों से श्रेष्ठ है । इससे भी श्रेष्ठ तीर्थ ध्यान है, यह ध्यान् साक्षात् ब्रह्म का तीर्थ है, इसका कभी विनाश नहीं होता है । यह सभी इन्द्रियों को अ उनके विषयों से निवृत्त करने वाला है ।[46] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि पर्वतराज अमरकण्टक पर अल्प तपस्या द्वारा ही लोग सिद्धि प्राप्त करते हैं ।[47] धूतपाप नामक तीर्थ पर जाकर स्नान करने वाला मनुष्य परम पवित्र हो जाता है । वहाँ पर देव देव महेश्वर शंकरजी ने अत्यन्त कठोर तपश्चर्या की थी ।[48] प्रस्तुत पुराण में एक स्थल पर कहा गया है कि शिव के आदेशानुसार मरीचि ऋषि गया को प्रस्थित हुए और वहाँ जाकर शिला पर स्थित होकर परम कठोर तपस्या प्रारम्भ की । अपने कठोर तप के महात्म्य से वे शुक्लवर्ण हो गये ।[49] तमविषयक प्रसंगों में मत्स्य पुराण में भी उल्लिखित है कि भृगुतीर्थ में की गई तपस्या कभी क्षीण नहीं होती है ।[50] अविमुक्त क्षेत्र में तपस्या बिना सन्देह के अक्षीण बताई गई है ।[51] महाभारत में भी यही पौराणिक परम्परा प्राप्त होती है । धौम्य मुनि के द्वारा ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित गोकर्ण तीर्थ के विषय में कहा गया है कि वहाँ मोक्ष पाने की इच्छा से देवताओं ने आश्रम में रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या की थी । यहाँ का गोकर्ण तीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है ।[52] प्रभास क्षेत्र तीर्थ में धर्मराज युधिष्ठिर ने बारह दिनों तक केवल जल और वायु पीकर

निपात किया तथा दिन व रात दोनों समय स्नान करते तथा अपने चारों ओर आग जलाकर तपस्या में लगे रहे ।[53]

दान कर्म

आलोचित पुराण में तीर्थस्थलों पर दान करने का महात्म्य भी वर्णित है । गया में वर्तमान वैतरणी में स्नान कर गोदानी व्यक्ति अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करता है ।[54] अन्यत्र उल्लिखित है कि समस्त पृथ्वी मण्डल में इस पवित्र तीर्थ (अमृ-तुंग) पर किया गया दान अक्षय बतलाया जाता है, पाण्डवगण यहीं पर रोगमुक्त हुए थे ।[55] प्रसंगान्तर में कहा गया है कि योगपरायण महात्मा सनत्कुमार का पुण्यप्रद कुरुक्षेत्र सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठ माना गया है । ऐसा कहा जाता है कि वहाँ पर तिलों का दान करके पितरों को सर्वदा के लिये अक्षय तृप्ति दी जाती है ।[56] गया में पुत्रों के द्वारा अन्नदान पितरों की उत्कृष्ट कामना बताई गई है ।[57] यहीं पर कहा गया है कि नीलवर्णी वृषभ का दान करने से मनुष्य के विमल इक्कीस कुलों का उद्धार होता है ।[58] इनसे साम्य रखने वाले स्थल मत्स्य पुराण में भी प्राप्त होते हैं । प्रयाग में अपने सामर्थ्य के अनुसार दान देने का निर्देश दिया गया है । ऐसा अनुष्ठान तीर्थफल में निस्सन्देह वृद्धि का कारण माना गया है ।[59] अन्यत्र वर्णित है कि गंगा-यमुना के संगम पर गाय, सुवर्ण, मणि तथा मुक्ता का दान करने से तीर्था-वास सफल हो जाता है ।[60] तीर्थों में दान का उल्लेख अन्य ग्रन्थों के द्वारा भी समर्थित होता है । विष्णु स्मृति के अनुसार पितृगण की इच्छा रहती है कि उनके पुत्र गया में नीलवर्णी वृषभ का दान दें ।[61] महाभारत में भी कहा गया है कि लोक-विख्यात धेनुतीर्थ में एक रात रहकर तिल की गौ का दान करने से तीर्थयात्री सब पापों से शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोक में जाता है ।[62] एक अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि जो व्यक्ति कन्यासंवेद्य तीर्थ में अल्प मात्रा में भी दान देते हैं, उनके उस दान को उत्तम व्रत का पालन करने वाले महर्षि अक्षय बताते हैं ।[63]

<u>श्राद्ध क्रिया</u>

आलोचित पुराण में तीर्थों में की जाने वाली श्राद्ध क्रिया पर विस्तार से विवेचन किया गया है । एक प्रसंग में वर्णित है कि उत्तर दिशा में कनखल और दक्षिण दिशा में मानस तीर्थ पर स्नान कर श्राद्ध करने से पितरों का उद्धार हो जाता है । स्वर्ग, पाताल तथा मर्त्यलोक में इन तीर्थों के समान कोई दूसरा नहीं है । यदि श्रेष्ठ गति प्राप्त करने की इच्छा है तो इन तीर्थों में श्राद्ध करना चाहिये ।[64] प्रसंगान्तर में उल्लिखित है कि तीनों लोकों में गया के समान दुर्लभ तीर्थ कोई नहीं है । उसके प्रभाव से नरक में रहने वाले स्वर्ग जाते हैं और स्वर्ग में रहने वाले मोक्ष को प्राप्त करते हैं । यहाँ पर पितरों की निधन तिथि के अवसर पर किये जाने वाले श्राद्ध का अक्षयफल होता है ।[65] यमुनाप्रभव तीर्थ में श्राद्ध के द्वारा मनुष्य समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है ।[66] कुम्भतीर्थ में जाकर लोग श्राद्धादि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उस पवित्र तीर्थ को पाप का विनाशक समझना चाहिये, वहाँ पर किये गये श्राद्ध को अक्षय फलदायी कहा गया है ।[67] विनशन, सरस्वती के प्लक्षप्रस्रवण, सरस्वती के व्यासतीर्थ एवं ओंकार पवन में अक्षय श्राद्ध की इच्छा करने वाले श्राद्ध करें ।[68] गया महात्म्य के प्रसंग में वर्णित है कि गया में आचरित श्राद्ध मोक्षदायक होता है ।[69] नरक से त्रस्त होकर पितृगण कहते हैं कि जो पुत्र श्राद्धार्थ गया की यात्रा करता है, वह उन्हें संसार सागर से पार कराता है ।[70] इस पुनीत गया तीर्थ में जहाँ देवताओं का निवास है, आदि गदाधर देव का ध्यान करते हुए श्राद्ध एवं पिण्डादि दान करने वाला अपने सौ कुलों का उद्धार कर समस्त पितरगणों को ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है।[70] कीकट आदि देशों में मृत्यु प्राप्त करने वाले पितरों के उद्धार के लिये बुद्धिमान् मनुष्य को गया श्राद्ध करना चाहिये ।[72] गयासुर के नाभिप्रदेश में कर्दमाल नामक तीर्थ है, वहाँ पर स्नान करके श्राद्धादि सम्पन्न करने वाला अपने पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है ।[73] क्रौंचपद से लेकर गयाशिर तक जो फल्गुतीर्थ है, वह गयासुर का मुख भाग है, वहाँ पर किया गया श्राद्ध अक्षयफलदायी है ।[74] प्राचीन काल में ब्रह्मा के द्वारा बताया गया था कि गया में श्राद्ध करने वालों का इस भवबन्धन से निस्तार हो जाता है ।[75]

प्रस्तुत पुराण में उपलब्ध होने वाले इन स्थलों से समानता रखने वाले प्रसंग अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार अमरकण्टक पर किया गया श्राद्ध पितरों को संतर्पण प्रदान करता है।[76] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि कालसर्पि नामक महान तीर्थ में अक्षय श्राद्ध के इच्छुक व्यक्तियों को नित्य प्रति श्राद्ध करना चाहिये।[77] मत्स्य पुराण में ब्रह्मेश्वर नामक तीर्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि यहाँ पूर्णिमा तथा अमावस्या को सविधि श्राद्ध सम्पन्न करना चाहिये।[78] विष्णु पुराण में वर्णित है कि पितृगण अपने वंशधरों से गया में पिण्डदान की आशा लगाये रहते हैं।[79] तीर्थों की श्राद्ध विषयक उपयोगिता की पुष्टि अन्य ग्रन्थों से भी होती है। विष्णुस्मृति के अनुसार पुष्कर के श्राद्ध का क्षय कभी नहीं होता है।[80] विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार पितृगण इसके लिये आशावान् रहते हैं कि उनके पुत्र गया में श्राद्ध सम्पन्न करें।[81] महाभारत में भी उल्लिखित है कि मैनाकिक म तीर्थ में जाकर देवताओं और पितरों का तर्पण करने वाला व्यक्ति अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है और स्मृति एवं बुद्धि को प्राप्त कर लेता है।[82] अन्यत्र वर्णित है कि जो तीर्थसेवी पावनतीर्थ में जाकर देवताओं और पितरों का तर्पण करता है उसे (भी) अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है।[83]

यज्ञ

प्रस्तुत पुराण में ऐसे भी वर्णन प्राप्त होते हैं जो तीर्थों में यज्ञ करने की परम्परा के परिचायक हैं। दक्ष के द्वारा यज्ञस्थान सिद्ध ऋषियों से सेवित मंगलकारक गंगाद्वार में बनाया गया।[84] अन्यत्र वर्णित है कि पुनीत नैमिषारण्य के समीप अन्यान्य देवताओं के साथ ब्रह्मा ने यज्ञ का अनुष्ठान किया था, उसका नाम ब्रह्मतीर्थ है।[85] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि गया में वर्तमान भस्मकूट तीर्थ में वसिष्ठ ने अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था।[86] प्राचीन काल में पुष्कर क्षेत्र में ब्रह्मा का एक अश्वमेध यज्ञ हुआ था, जिसमें ऋषि, देवताओं एवं गन्धर्वों के समूह ने आकर उस यज्ञ की शोभा-वृद्धि की थी।[87] विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि गया में दक्षिणा सहित विधिवत् अश्वमेध यज्ञ करने से पितरों को प्रसन्नता होती है।[88] मत्स्य पुराण के अनुसार

अविमुक्त क्षेत्र में किया गया यज्ञ कभी नष्ट नहीं होता है ।[89] बाम्रद्गन्य तीर्थ में इन्द्र ने अनेक यज्ञों को सम्पन्न करके देवताओं का स्वामित्व प्राप्त किया था ।[90] तीर्थों में यज्ञ के प्रचलन को महाभारत और विष्णुस्मृति के वर्णन भी अनुमोदित करते हैं । दोनों ही ग्रन्थों में पुत्रों द्वारा गया में अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न करना पितरों की कामना मानी गई है ।[91]

मुण्डन एवं कन्यादान

आलोचित पुराण में वायुपुर नामक पावन तीर्थ के विषय में कहा गया है कि यहाँ पर भगवान् सूर्य का कुण्ड स्थित है, उसी के समीप ब्रह्म कुण्ड है, विष्णु कुण्ड तथा रुद्र कुण्ड है । इस क्षेत्र की रक्षा के लिये वहाँ नव दुर्गा स्थित हैं । विवाह कार्य, व्रत एवं चूड़ाकरण संस्कार में उन्हें कर दिया जाता है ।[92] अन्यत्र उल्लिखित है कि कुरुक्षेत्र, विशाला, विरजा और गया के अतिरिक्त सभी तीर्थों में मुण्डन एवं उपवास की विधि विहित है ।[93] मत्स्य पुराण के अनुसार जो मनुष्य गंगा यमुना के संगम पर आर्ष विवाह-विधि के अनुरूप कन्यादान करता है, वह नरक यातना से अपनी रक्षा करता है ।[94] विष्णु पुराण में वर्णित है कि गया में गौरी कन्या का [illegible] पितरों की प्रसन्नता का कारण होता है ।[95]

यात्रा विधि

प्रस्तुत पुराण के अनुसार गया यात्रा के लिये उद्यत व्यक्ति को चाहिये कि सर्वप्रथम कर्पटी का वेश धारण करके पहले अपने ग्राम की प्रदक्षिणा करे, फिर दूसरे ग्राम में जाकर श्राद्ध से अवशिष्ट अन्न को ग्रहण करे, फिर दानादि न लेते हुए प्रतिदिन यात्रा करे । प्रतिग्रह से बचते हुए, सन्तुष्ट चित्त, इन्द्रियों को वश में कर पवित्र मन एवं शरीर से, अहंकारादि का त्याग करके जो यात्रा करता है वह तीर्थ का वास्तविक फल प्राप्त करता है । जिस व्यक्ति के हाथ, पैर एवं मन संयत रहते हैं, विद्या, तप एवं कीर्ति की बहुलता रहती है, वह वास्तविक तीर्थ फल का उपभोग करता है ।[96]

मत्स्य पुराण ने प्रयाग तीर्थ की यात्रा में वृषभ वाहन का प्रयोग निषिद्ध किया है ।[97] इसी प्रकार पद्म पुराण में कहा गया है कि तीर्थ यात्रा में वृषभ वाहन के प्रयोग से तीर्थ सेवी को गोवध का पाप लगता है ।[98]

प्रमुख तीर्थों का विवरण – वाराणसी

आलोचित पुराण में वाराणसी के विषय में कहा गया है कि इस नगरी में सभी देवताओं के नमस्करणीय धर्मात्मा महादेव जी पार्वती के साथ तीन युगों में निवास करते हैं ।[99] अन्यत्र वर्णित है कि वाराणसी में योगेश्वर शंकर का नित्य निवास रहता है, अतः उसमें पिण्डदान करने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है ।[100] यहाँ पिण्डदान करने से मनुष्य पवित्रात्मा हो जाता है, उसका श्राद्ध अनन्त फलदायी होता है । वाराणसी की महिमा मत्स्य पुराण में भी वर्णित की गई है । तथा इसे प्रयाग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना गया है ।[101] इसी में कहा गया है कि पृथ्वी तल पर मनुष्य को बिना योग के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, पर अविमुक्त वासी को योग और मोक्ष दोनों एक साथ सुलभ होते हैं ।[102] महाभारत में भी वाराणसी नगरी में पहुँच कर तीर्थ सेवी को महादेव जी के दर्शन मात्र से ब्रह्महत्या से मुक्त होने वाला बताया गया है । यहाँ पर प्राणोत्सर्ग द्वारा व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है ।[103]

आलोचित पुराण में वाराणसी के अविमुक्त नाम के विषय में प्रसंग मिलता है। महेश्वर शिव और पार्वती के विवाह के उपरान्त देवी को प्रसन्न करने के प्रयोजन से शिव हिमवान के घर में ही निवास करने लगे । किन्तु पार्वती की माता मेना को प्रिय न लगने के कारण पार्वती ने महादेव से अन्यत्र निवास करने के लिये कहा । देवी के ऐसा कहने पर महादेव ने तीनों लोकों में अपने योग्य स्थान देखा और समस्त भूमण्डल पर सिद्ध क्षेत्र वाराणसी को ही पसन्द किया । वहाँ पर महान् ऐश्वर्यशाली महादेव का तथा दिव्यरूपमयी पार्वती के लिये अत्यन्त भव्य भवनों का निर्माण हुआ । तत्पश्चात् महादेव जी ने पार्वती से कहा कि मैं यहाँ से कहीं अन्य स्थल पर नहीं जाऊँगा,

मेरा यह गृह अविमुक्त है । यतः स्वयं महादेव ने अपने मुख से इसे अविमुक्त कहा था, अतः उसका नाम अविमुक्त पड़ा ।[104] वाराणसी का अन्य प्रचलित नाम काशी भी है । इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण के अनुसार शिव का यह आवास स्थान श्मशान के नाम से भी विख्यात है । इसे श्मशान की संज्ञा इसलिये दी गई है क्योंकि यह स्थान परम गुह्य है और इसके चतुर्दिक भूत, प्रेत, पिशाच तथा मातृकायें रहती हैं ।[105] यद्यपि आलोचित पुराण में वाराणसी के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन नहीं प्राप्त होता है तथापि उत्तरकालीन अन्य पुराणों में इसकी सविस्तार चर्चा मिलती है । स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में उल्लिखित है कि काशी को देखने से सूर्य का मन चंचल हो जाता है ।[106] नारदीय पुराण ने मणिकर्णिका को सर्वोत्तम तीर्थ निरूपित किया है ।[107] प्रसंगान्तर में स्कन्द पुराण में वर्णित है कि दशाश्वमेध में सभी तीर्थों की संस्थिति है ।[108]

प्रयाग

आलोचित पुराण में प्रयाग तीर्थ के सम्बन्ध में वर्णित है कि यहाँ पर किये गये श्राद्ध का फल अक्षय होता है ।[109] सभी तीर्थों में कुछ विशेषतायें होती हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष प्रयाग तीर्थ को विशेषरूप से पूजते हैं । मत्स्य पुराण के अनुसार दुःखी और दरिद्र व्यक्तियों के कल्याणार्थ प्रयाग ही एकमात्र तीर्थ है ।[110] किसी रोग से आक्रान्त मनुष्य, दीन अथवा वृद्ध हो, गंगा यमुना के संगम पर प्राण त्याग से वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ।[111] महाभारत में भी प्रयाग की महत्ता का समर्थन मिलता है । तीनों लोकों में प्रयाग को सब तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं । उस तीर्थ में जाने से अथवा उसका नाम लेने मात्र से भी मनुष्य मृत्युकाल के भय और पाप से मुक्त हो जाता है ।[112] साठ करोड़ दस हजार तीर्थों का निवास केवल इस प्रयाग में ही बताया गया है । चारों विद्याओं के ज्ञान से जो पुण्य होता है तथा सत्य बोलने वाले व्यक्तियों को जिस पुण्य की प्राप्ति होती है, वह सब गंगा यमुना के संगम में स्नान करने मात्र से प्राप्त हो जाता है ।[113] कालिदास ने भी इसी को समर्थित करते हुए कहा है कि गंगा यमुना के संगम पर अभिषेक करने से मनुष्य पवित्र होकर तत्त्वज्ञान के अभाव में भी शरीर बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।[114]

कुरुक्षेत्र

प्रस्तुत पुराण में उल्लिखित है कि महान् तेजस्वी सम्वरण के पुत्र कुरु ने अपने चरणों से प्रयाग को आक्रान्त कर नवीन तीर्थ कुरुक्षेत्र का निर्माण किया था । अनेक वर्षों तक कुरुक्षेत्र को जोतते हुए उन्होंने इन्द्र से वरदान प्राप्त किया कि यह क्षेत्र परम रमणीय, पुण्यप्रद एवं धर्मात्माओं के निवास करने योग्य है ।[115] अन्यत्र कहा गया है कि योगपरायण महात्मा सनत्कुमार का पुण्यप्रद कुरुक्षेत्र सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठ माना गया है । धर्मराज युधिष्ठिर के निवास स्थान पर किया गया श्राद्ध अक्षय फलदायी एवं कीर्ति देने वाला है । कुरुक्षेत्र के समीप रहने वालों के लिये वह परम पवित्र है । सत्पुत्र अपने पितरों की वहाँ पूजा करके ऋण रहित हो जाता है ।[116] एक स्थल पर वर्णित किया गया है कि यह ब्रह्मक्षेत्र तीर्थ लोकपितामह द्वारा सेवित परम पवित्र कुरुक्षेत्र में अवस्थित है । प्राचीन काल में स्वयं ब्रह्मा जी ने इस महातीर्थ का निर्माण किया था । उस परम पवित्र तीर्थ में एक बार देवताओं, ऋषियों तथा मुनियों का विराट समागम भी हुआ था ।[117] वायु पुराण से साम्य रखने वाले प्रसंग अन्य पुराणों में भी वर्णित मिलते हैं । विष्णु में भी कहा गया है कि धर्मक्षेत्रीय कुरुक्षेत्र को नृप सम्वरण के पुत्र कुरु ने स्थापित किया था ।[118] मत्स्य पुराण के अनुसार कुरुक्षेत्र तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है ।[119] वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में महाभारत के समविषयक प्रसंगों से इस क्षेत्र की धार्मिक महत्ता स्पष्ट हो जाती है । एक स्थल पर उल्लिखित है कि वायु द्वारा उड़ाकर लाई हुई कुरुक्षेत्र की धूल भी शरीर पर पड़ जाये, तो वह पापी मनुष्य को भी परमगति प्राप्त करा देती है ।[120] जो मन से भी कुरुक्षेत्र जाने की इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोक जाता है ।[121]

यहाँ पर महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कुरुक्षेत्र का उल्लेख धर्म के प्रतिष्ठित केन्द्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों से ही प्राप्त होने लगता है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवताओं ने कुरुक्षेत्र में यज्ञ सम्पन्न किया था ।[122] कुरुक्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में टीकाकार नीलकण्ठ का कथन है कि कुरु, कुत्सित ध्वनि अर्थात् पाप को कहते हैं, इसके क्षेपण के द्वारा जो त्राण करे, वह कुरुक्षेत्र है ।[123]

पुष्कर

आलोचित पुराण में वर्णित है कि पुष्कर तीर्थ में श्राद्ध का अक्षय फल होता है, तपस्या महान् फलदायिनी होती है।[124] अन्य स्थल पर कहा गया है कि यहाँ त्रिभुवनेश्वर महादेव और ब्रह्मा पूजित होते हैं। यहाँ साध्यों के साथ [illegible] ब्रह्मा निवास करते हैं तथा तैंतीस महर्षियों के साथ देवगण उपासना किया करते हैं। यहाँ देवों के द्वारा देवाधिदेव ब्रह्मा पूजित होते हैं। विष्णु, शिव, सूर्य एवं पितरों के साथ ब्रह्मा दण्डविधान से यहाँ का शासन करते हैं।[125] विष्णु पुराण में पुष्कर-क्षेत्र वासी के धार्मिक क्रिया कलापों में उपवास की ओर संकेत किया गया है।[126] मत्स्य पुराण के अनुसार पुष्कर में देवी उपासना पुरुहूता के नाम से होती है।[127] पौराणिक साक्ष्यों के अतिरिक्त महाभारत से भी पुष्कर तीर्थ के पुण्यलाभ पर प्रकाश पड़ता है। मनुष्यलोक में देवाधिदेव ब्रह्माजी का त्रिलोक विख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नाम से प्रसिद्ध है। उसमें कोई [illegible] व्यक्ति ही प्रवेश कर पाता है।[128] यहाँ पर तीनों समय दस सहस्त्र (दस अरब) कोटि तीर्थों का निवास रहता है। मनीषियों का कथन है कि पितर और देवताओं की पूजा में संलग्न होकर जो व्यक्ति यहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेध से दस गुना फल प्राप्त होता है।[129]

द्वारका

प्रस्तुत पुराण में द्वारका का उल्लेख व्यास द्वारा विभिन्न तीर्थों में प्राप्त होता है।[130] इसके अतिरिक्त अन्य स्थल पर कृष्ण की नगरी द्वारका कही गई है। स्वयं भगवान् मधुसूदन ने द्वारकापुरी जाकर ज्येष्ठ भ्राता हलधर को स्यमन्तक मणि के कारण भोजवंशीय शतधन्वा द्वारा सत्यभामा के पिता सात्वत वंशीय सत्राजित की हत्या का समाचार दिया।[131] विष्णु पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण ने समुद्र से बारह योजन भूमि आयाचित कर द्वारकापुरी को निर्मित किया था।[132] मत्स्य पुराण में द्वारका के लिये कृष्णतीर्थ नाम का प्रयोग हुआ है।[133] प्रसंगान्तर में वर्णित है कि द्वारका में रुक्मिणी के नाम से देवी प्रतिष्ठित है।[134] द्वारका सम्बन्धी विवरण अन्य [illegible] पुराणों तथा महाभारत में मिलते हैं। स्कन्द और गरुड़ पुराणों में इसे मोक्षदायक पुरी

कहा गया है ।[135] मौसल पर्व के अनुसार श्रीकृष्ण के मरणोपरान्त समुद्र ने द्वारका को प्लावित कर लिया था ।[136]

मथुरा

इस तीर्थ के विषय में वायु पुराण में वर्णित है कि मधु के पुत्र लवणासुर का संहार कर और मधुवन में प्रवेश कर दशरथनन्दन महाबलवान् शत्रुघ्न ने वहीं पर मथुरा नामक पुरी की प्रतिष्ठापना की थी । विदेह की राजकुमारी से उत्पन्न होने वाले सुबाहु और शूरसेन नामक दोनों पुत्रों के साथ शत्रुघ्न ने मथुरा पुरी का शासन और प्रजाओं का पालन पोषण किया था ।[137] विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि मथुरा (मधुरा) की प्रसिद्धि पहले मधुवन के नाम से थी । यहाँ पर मधु नामक दैत्य रहता था । वहीं पर शत्रुघ्न ने लवण नामक दैत्य को मारकर मथुरा(मधुरा) नामक पुरी बसाई थी ।[138]

मथुरा की धार्मिक प्रसिद्धि पर प्रकाश डालते हुए आलोचित पुराण में उल्लिखित है कि व्यासदेव ने वेदों के हृदय कमल प्रदेश में अवस्थित मथुरा पुरी का दर्शन किया, क्योंकि वह पवित्र पुरी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की उत्पत्ति स्थली है ।[139] विष्णु पुराण के अनुसार यहाँ सदैव विष्णु का सामीप्य रहता है । पाप शमन के लिये उपयुक्त इस तीर्थ में ध्रुव ने तपस्या की थी ।[140] अन्यत्र वर्णन मिलता है कि ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को मथुरा के यमुना जल में स्नान कर हरि दर्शन से महान् फल मिलता है ।[141]

मथुरा की कीर्ति विषयक स्थल अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं । रामायण में वर्णित है कि शत्रुघ्न ने बारह वर्ष में मथुरा को सम्पन्न बनाया था ।[142] पद्म पुराण में इस नगरी के महात्म्य को सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मथुरा में यमुना मोक्षप्रदायक है ।[143]

गया

इस तीर्थ के सम्बन्ध में विष्णु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड आदि अनेक पुराणों में वर्णन

प्राप्त होता है परन्तु वायु पुराण के अन्तर्गत सविस्तार विशद उल्लेख किया गया है। समस्त मगध प्रदेश में गया नगरी सर्वाधिक पुण्य प्रदर्शिनी कही गई है।[144] अन्यत्र वर्णित है कि ब्रह्महत्या करने वाले, मदिरापान करने वाले, बालक, वृद्ध, गुरु से द्रोह करने वाले, इन सबों के भी पाप नष्ट हो जाते हैं, यदि वे गया की यात्रा करें। गया के समान तीनों लोकों में दुर्लभ तीर्थ कोई नहीं है।[145] जो व्यक्ति वर्ष भर में गया जाकर श्राद्ध करता है, वह अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है और स्वर्गलोक में पूजित होता है। यदि पुत्र गया की यात्रा करता है और वहाँ सावधानी पूर्वक श्राद्ध करता है, वह मोक्ष के उपायों को प्राप्त करता है।[146] ब्रह्मादि देवताओं के परमप्रिय मुक्तिदायी इस गया तीर्थ में यदि कोई सावधानी से मृत्युलाभ करता है, तो निस्सन्देह उसे वैसी ही मुक्ति प्राप्त होती है, जैसी ब्रह्मज्ञान से।[147] त्रैलोक्य में जितने भी तीर्थ हैं, वे इसी के अन्तर्गत स्थित हैं। निवास स्थान से गया का प्रस्थान मात्र करने से पितरों को पद-पद पर स्वर्गारोहण की सीढ़ियाँ प्राप्त होने लगती है। अश्वमेध यज्ञ करने का जो फल होता है, वह समस्त फल गया यात्रा के एक एक पग पर प्राप्त होता है।[148] गयासुर के द्वारा विष्णु प्रभृति देवताओं से इस क्षेत्र के सम्बन्ध में वरदान मांगा गया कि नैमिष, पुष्कर, गंगा, प्रयाग, अविमुक्त जैसे उत्तमोत्तम जितने भी तीर्थ हैं, तथा उनके अतिरिक्त जो अन्यान्य तीर्थ स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं भूमण्डल में हैं, वे सभी इस पवित्र तीर्थ में आकर मानव मात्र का कल्याण सम्पादित करें।[149] गया क्षेत्र में भगवान् जनार्दन स्वयमेव पितृरूप से विराजमान रहते हैं, उन पुण्डरीकाक्ष भगवान् का दर्शन कर, व्यक्ति अपने तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है।[150] मत्स्य पुराण के अनुसार गया पितरों का तीर्थ है। यह मंगलकारी क्षेत्र सभी तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[151] ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि पितरों का तृप्तिप्रद ऐसा तीर्थ भुवन में अन्यत्र नहीं है।[152] महाभारत में भी उल्लिखित है कि गया जाकर पितरों के लिये दिया गया अन्न अक्षय होता है।[153]

गया के नामकरण के विषय में प्रस्तुत पुराण में निरूपित है कि एक बार यज्ञ के लिये ब्रह्मा के अनुरोध पर गयासुर ने वहाँ तपस्या की थी, उसके सिर पर एक शिला

की स्थापना कर भगवान् ब्रह्मा ने यज्ञ सम्पन्न किया था वह पवित्र यज्ञ ब्रह्मा ने इसी तीर्थ में किया था, गयासुर का शरीर किसी प्रकार विचलित न हो जाये - इस उद्देश्य से ब्रह्मादि देवताओं के साथ भगवान् गदाधर भी फल्गु आदि तीर्थों के रूप में वहाँ विराजमान रहते हैं। कालान्तर में इसी स्थान पर गय ने भी यज्ञ किया था। तभी से यह परम पुनीत क्षेत्र गया के नाम से विख्यात हुआ।[154] अन्तिम अध्याय में गया तीर्थ के नाम का सम्बन्ध गय नामक राजा से किया गया है। राजा गय ने अपने राजत्व काल में प्रचुर अन्नों एवं दक्षिणा वाले यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसके इस महान् कार्य से सन्तुष्ट होकर विष्णुप्रभृति देवताओं ने उससे वरदान माँगने का अनुरोध किया। इसी के परिणामस्वरूप गय ने अपने नगर को स्वनाम पर ही ब्रह्मपुरी के समान पवित्र एवं सुप्रसिद्ध होने का वरदान माँगा था।[155]

यहाँ उल्लेखनीय है कि व्यक्तिवाचक 'गय' शब्द का वर्णन वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद के एक छन्द में गय (रचयिता) के द्वारा देवताओं की स्तुति की गई है।[156] अथर्ववेद में गय की चर्चा असित और कश्यप नामक मायावियों के साथ की गई है।[157] यह सम्भावना हो सकती है कि वैदिक और पौराणिक गय कोई पारस्परिक सम्बन्ध हों।[158]

आलोचित पुराण में गया माहात्म्य सम्बन्धी अन्तिम पाँच छः अध्यायों में गया के उपतीर्थों का भी वर्णन किया गया है। इनमें विष्णुपद, गयाशिर, चित्रागिरि, नाभिकूप, मुण्डपृष्ठाद्रि, प्रभासगिरि, शिलाङ्गुष्ठ, प्रेतशिला, रामतीर्थ, वटेश्वर, रुक्मिणीकुण्ड, सारस्वतकुण्ड, कुरुक्षेत्र, वैकुण्ठ, आदिपालगिरि, मुण्डपृष्ठाशिला, लोहदण्ड, गृध्रकूट, शोणक, ब्रह्मयोनि, उत्तरमानस, दक्षिण मानस, औदीच्य, कनखल, फल्गुतीर्थ, धर्मतीर्थ, महाबोधि, ब्रह्मचरण, अगस्त्यचरण, क्रौञ्चपादाङ्कल, कार्तिकेयचरण, गणेशचरण, गजकर्ण, रुद्रचरण, गदालोल, प्राचीसरस्वती, लेलिहान, ब्रह्मसर, दशाश्वमेध, हंसतीर्थ, अमरकण्टक, कोटितीर्थ, भस्मतीर्थ, धेनुकारण्य, धर्ममाला आदि नाम उपलब्ध होते हैं। इन तीर्थों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुराण के श्राद्ध कल्प नामक सातवें अध्याय में

अनेक तीर्थस्थान वर्णित है जो इस प्रकार है - श्रीशैल, हयशिरा, भृगुतुंग, ब्रह्मतुंगह्रद, प्रभास, असिता, कुमारकोशला, पाण्डुकूल, गृध्रकूट, धूतपाप, अश्वतुंग, उमातुंग, अच्छोदा, अमरकण्टक, गोकर्ण, वाग्मती, व्यासतीर्थ, कालञ्जर, नैमिष, चन्द्र, महालय, धर्मपृष्ठ, गंगा आदि। इसके साथ ही काञ्ची, प्लक्ष, गंगाद्वार, मायापुरी, कुब्जाप्लवन, कलापग्राम, चैत्ररथ आदि अन्य तीर्थ भी उल्लिखित हैं। इनमें से कुछ तीर्थ ऐसे हैं जो मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराण में भी वर्णित हैं जैसे अमरकण्टक, चैत्ररथ, धूतपाप, भृगुतुंग, मायापुरी, श्रीशैल आदि। प्रभास तीर्थ का वर्णन विष्णु और ब्रह्माण्ड में मिलता है। ब्रह्माण्ड पुराण में उपलब्ध तीर्थों और आलोचित पुराण के तीर्थों में काफी साम्य है जैसे अश्वतुंग, उमातुंग, अच्छोदा, कुब्जाप्लवन, कलापग्राम, काञ्ची आदि दोनों में ही वर्णित हैं। महाभारत कूर्म पुराण, भागवत पुराण एवं पद्म पुराण में उमातुंग, कुब्जाप्लवन, कलापग्राम, ब्रह्मतुंगह्रद तथा काञ्ची का प्रसंग मिलता है।

तीर्थ सम्बन्धी सभी पौराणिक उद्धरणों से वैदिक परम्परा में परिवर्तन की सूचना मिलती है। वैदिक वाङ्मय में तीर्थों का अधिक निरूपण नहीं प्राप्त होता है, कुछ स्थलों पर तीर्थ शब्द का प्रयोग होते हुए भी उसका तात्पर्य प्रत्यक्षतः तीर्थों से नहीं है। अतः ऐसे स्थलों को तीर्थ सम्बन्धी भावना का स्रोत मात्र कहा जा सकता है। पुराणों और महाभारत के प्रसंगों में इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर दिया गया कि जन-साधारण के लिये यज्ञों की अपेक्षा विस्तृत विधानों रहित तीर्थयात्रा करना सरल है तथा इसमें जातिगत प्रतिबन्ध और व्यक्तिगत व्यवधान का भी सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त तीर्थ सम्बन्धी स्थलों का अन्य पुराणों द्वारा समर्थन किया जाना उसकी व्यापकता की पुष्टि करता है।

सन्दर्भ

1. डी०आर० पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 333.

2. यद्गो हि क्मेन्द्रं कश्चिदृन्धंजुहुराणश्चिन्मनता परियन्x।
तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा । ऋग्वेद, 1/173/11.

3. तीर्थे प्रसिद्धे मार्गे -- । सायण

4. अधायि धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्मम यन्त्यूमा: ।
अभ्यानश्म सुवितस्य शूषं नवेदसो अमृतानामूम । ऋग्वेद, 10/31/3.

5. तत्र दृष्टान्तः । तीर्थे न यथा गंगादितीर्थे तत्सम्मुखे विसृष्टा अपामंशा देवतांप्रयान्ति तद्वत् । सायण

5. अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति ।
तैत्तिरीय संहिता, 6/1/1/1-2.

6. काणे, हिस्ट्री आँफ धर्मशास्त्र, भाग 4, पृष्ठ 554.

7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृष्ठ 305.

8. द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री आँफ धर्मशास्त्र, भाग 4, पृष्ठ 557-558.

9. तत्रैव, पृष्ठ 558.

10. मत्स्य पुराण, 112/12-15.

11. सप्तगोदावरे चैव गोकर्णे च तपोवने ।
अश्वमेधफलं तत्र स्नात्वा च लभते नरः । वायु पुराण, 77/19.
सप्तगोदावरे चैव गोकर्णे च तपोवने ।
अश्वमेधफलं स्नात्वा तत्र दत्वा भवेत्ततः । ब्रह्माण्ड पुराण, 3/13/19.

12. काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग 4, पृष्ठ 554.

13. डी०आर० पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 333.

14. अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्विमे ।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथानुसरणेन च । विष्णुस्मृति, 35/6.

15. महाभारत, वनपर्व, 82/13-17.

16. डी०आर० पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री अ फ्राम दि वायु पुराण, पृष्ठ 334.

17. हेस्टिंग्स, इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स

18. तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
कृतपापश्च शुद्धयेत किं पुनः शुभकर्मकृत । वायु पुराण, 77/125.

19. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/13/133-134.

20. तान् ज्ञात्वा चेतसा ब्रह्मा प्रेषितः पवन पुरे ।
तत्र गच्छत यूयं वः सद्यः पापं प्रणश्यति । वायु पुराण, 60/67-70.

21. तदा प्रभृति तत्तीर्थं जातं पातकनाशनम् । तत्रैव, 60/72.

22. तत्रैव, 77/31.

23. उमातुङ्गे ----- गत्वा चैतानि पूतः स्याच्छ्राद्धमक्षय्यमेव च । तत्रैव, 77/83-84.

24. प्रयागं स्मरमाणस्य सर्वमायाति संक्षयम् ।
दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्तिकालंभनाद्वाऽपि नरः पापात्प्रमुच्यते । मत्स्य पुराण, 104/11-12.

25. अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् । महाभारत, वनपर्व के अन्तर्गत, तीर्थयात्रा पर्व, 82/19.

26. तिर्यग्योनिं न गच्छेच्च कुदेशे न च जायते ।
स्वर्गी भवति वै विप्रो मोक्षोपायं च विन्दति । वायु पुराण, 77/127.

27. तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति कामचारा: विहंगमा: । तत्रैव, 77/106.

28. ब्रह्माण्ड पुराण, 1/13/114.

29. मत्स्य पुराण, 183/18.

30. मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विन: ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ।
महाभारत, वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व, 82/24.

31. ब्रह्मतुङ्गहृदे स्नात्वा सद्यो भवति ब्राह्मण:। वायु पुराण, 77/72.

32. ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा वै वर्णसंकरा: ।
कृमिम्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णा: पापयोनय: ।
शिवे मम पुरे देवि जायन्ते तत्र मानवा: । मत्स्य पुराण, 181/19-21.

33. ब्राह्मण: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा वा राजसत्तम ।
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मन: ।
महाभारत तीर्थयात्रा पर्व, (वनपर्व), 82/30.

34. तत्र वर्णावर: स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नर: ।
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् । तत्रैव, 82/113.

35. अहंकारविमुक्तो य: स तीर्थ फलमश्नुते ।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चापि सुसंयतम् । वायु पुराण, 110/4-5.

36. प्रत्यादेशोह्यशिष्टानां शिष्टानां च निवेशनम् । तत्रैव, 77/90.

37. तीर्थान्यनुसरन्धीर: श्रद्दधानो जितेन्द्रिय: । तत्रैव, 77/125.

38. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/13/81.

39. नान्दीश्वरस्य सा मूर्तिर्निराचारैर्न दृश्यते । तत्रैव, 3/13/64.

40. सत्यवादी जितक्रोधो ह्यहिंसायां व्यवस्थितः ।
धर्मानुसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रतः । मत्स्य पुराण, 104/16.

41. तत्रैव, 106/31.

42. अश्रद्दधानाः पाप्मानो नास्तिकाः स्थितसंशयाः ।
हेतुद्रष्टा च पंचैते न तीर्थफलमश्नुते । वायु पुराण, 77/127.

43. कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, ।वनपर्व।, 83/166.

44. शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः । तत्रैव, 88/16.

45. तस्यांयोगेश्वरो नित्यंतत्तस्यांदत्तमक्षयम् --- जपोहोमस्तथाध्यानं
यत्किंचित्सुकृतंभवेत् । वायु पुराण, 77/94.

46. गुरुतीर्थंपरा --- ध्यानं तीर्थपरं ----- ध्यानमिन्द्रियाणां निवर्तनम् ।
तत्रैव, 77/130.

47. अल्पेन तपसा सिद्धिं गमिष्यन्ति न संशयः । तत्रैव, 77/16.

48. धूतपापस्थलं प्राप्य पूतः स्नात्वा भवेन्नरः ।
रुद्रस्तत्र तपस्तेपे देवदेवो महेश्वरः । तत्रैव, 77/19.

49. शिलास्थितस्तपस्तेपे सर्वेषां दुष्करञ्च यत् । तत्रैव, 112/33.

50. मत्स्य पुराण, 193/56.

51. सर्वमक्षयमेतस्मिन्नविमुक्ते न संशयः । तत्रैव, 184/69-70.

52. यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व ।वनपर्व। 88/15.

53. स द्वादशाहं जलवायुभक्षः कुर्वन् क्षमाहःसु तदाभिषेकम् ।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः । तत्रैव, 118/17.

54. स्नातो गोदो वैतरण्यां त्रिःसप्तकुलमुद्धरेत् । वायु पुराण, 112/26.

55. तत्रैव, 77/48.

56. सर्वत्रच कुरुक्षेत्रं सुतीर्थं ----- कीर्त्यते च तिलान्दत्त्वा पितृणां वै सदाऽक्षयम् ।
तत्रैव, 77/65.

57. गयां यास्यति यः पुत्रः स नस्त्राता भविष्यति ।
गयां गत्वान्नदाता यः पुत्रस्तेन पुत्रिणः । तत्रैव, 105/9.10

58. गयायांच वृषोत्सर्गात्त्रिःसप्तकुलमुद्धरेत् । तत्रैव, 112/70.

59. मत्स्य पुराण, 106/10.

60. तत्रैव, 105/13-14.

61. नीलं वा वृषमुत्सृजेत् । विष्णु स्मृति, 85/67

62. एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत् तिलधेनुकाम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा सोम लोकं व्रजेद् ध्रुवम् । महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, 84/87.

63. कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ।
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः । तत्रैव, 84/137.

64. उदीच्यां कनखले चैव दक्षिणे मानसे तथा ।
स्नात्वा कृत्वा तथा श्राद्धंपितृलोकं समुद्धरेत् । वायु पुराण, 83/21-22.

65. तत्रैव, 83/39-40.

66. यमुनाप्रभवे चैव सर्वपापैः प्रमुच्यते । तत्रैव, 77/70.

67. श्राद्धं कुम्भे विमुञ्चन्ति ज्ञेयं पापनिषूदनम् । तत्रैव, 77/46.

68. तत्रैव, 77/68-69.

69. तत्रैव, 105/14-15.

70. कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकभयाद्भीरवः ।
गयां यास्यति यः पुत्रः स नस्त्राता भविष्यति । तत्रैव, 105/8-9.

71. तत्रैव, 112/57-58.

72. कीकटादिसुतानांच पितृणां तारणाय च । तत्रैव, 105/20.

73. कर्दमालेगयानाभौ मुण्डपृष्ठसमीपतः ।
स्नात्वाश्राद्धादिकंकृत्वा पितृणामनृणोभवेत् । तत्रैव, 112/56.

74. तत्रैव, 111/44.

75. निष्कृतिःश्राद्धकर्तृणांब्रह्मणागीयतेपुरा ।
उद्यतश्चेद्गयां गन्तुं श्राद्धं कृत्वा विधानतः । तत्रैव, 110/1.

76. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/13/15.

77. तत्रैव, 3/13/98.

78. ततो गच्छेत्तु राजेन्द्र ब्रह्मतीर्थमनुत्तमम् ।
अमोहकमिति ख्यातं पितृंश्चैव तर्पयेत् ।
पौर्णमास्याममायां तु श्राद्धं कुर्याद्यथाविधि । मत्स्य पुराण, 191/104-105.

79. विष्णु पुराण, 3/16/18.

80. अथ पुष्करेष्वक्षय्यं श्राद्धम् । तत्रैव, 85/1.

81. अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः ।
गयाशीर्षे ------ श्राद्धं यो नः कुर्यात् । विष्णु धर्मसूत्र, 85/66.

82. मैधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, 85/55.

83. पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत । तत्रैव, 83/175.

84. पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमारभत् ।
गंगाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते । वायु पुराण, 30/94.

85. नैमिषारण्यपार्श्वेतु इये ब्रह्मा सुरैः सह ।
मुख्यसङ्गंहि तत्तीर्थं देवास्तत्रपदे स्थिताः । तत्रैव, 108/40.

86. तत्रैव, 112/65-66.

87. कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुष्करे पुरा । तत्रैव, 67/53.

88. विष्णु पुराण, 3/16/20.

89. जप्तं दत्तं हुतं ------ सर्वं भवति चाक्षयम् । मत्स्य पुराण, 181/17.

90. तत्रैव, 194/35.

91. यजेत वाश्वमेधेन ------ । वनपर्व, 87/11;
विष्णु स्मृति, 85/67.

92. वायु पुराण, 59/122-124.

93. मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः ।
कर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालां विरजां गयाम् । तत्रैव, 105/25.

94. मत्स्य पुराण, 106/8-9.

95. गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां ----- विधिवद्दक्षिणावता । विष्णु पुराण, 3/16/20.

96. वायु पुराण, 110/2-5.

97. प्रयागतीर्थयात्रार्थी यः प्रयाति नरः क्वचित् ।
बलीवर्दसमारूढः: -------------------- ।
नरके वसते घोरे -------------------- । मत्स्य पुराण, 106/4-5.

98. गोयाने गोवधादिकम् । पद्मपुराण, 19/27.

99. वायु पुराण, 92वां अध्याय ।

100. वाराणस्यांनगयांन्तु देयं श्राद्धं तु यत्नतः ।
तस्यां योगेश्वरो नित्यंतत्तस्यांदत्तमक्षयम् । तत्रैव, 77/94.

101. प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादिदमेव महत्स्मृतम् । मत्स्य पुराण, 180/57.

102. तत्रैव, 185/15-16.

103. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया।
महाभारत, तीर्थयात्रा पर्व, 84/79.

104. वायु पुराण, 92वां अध्याय ।

105. मत्स्य पुराण, 184/12.

106. स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, 46/48.

107. तत्रापि सर्वतीर्थानामुत्तमा मणिकर्णिका । नारदीय पुराण, ।उत्तर। 48/66.

108. ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् । स्कन्द पुराण, काशी खण्ड, 106/110.

109. भागीरथ्यां प्रयागे च नित्यमक्षयमश्नुते । वायु पुराण, 77/92.

110. आर्त्तानां हि दरिद्राणां ------ ।
स्थानमुक्तं प्रयागं तु नारब्धेयं तु कदाचन । मत्स्य पुराण, 105/2.

111. तत्रैव, 105/3-6.

112. ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, 85/79-80.

113. दश तीर्थसहस्त्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ।
चतुर्विधे च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गंगायमुनसंगमे । तत्रैव, 85/84-85.

114. कालिदास, रघुवंश, 13/17.

115. यः प्रयागं पदाऽऽक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह ।
कृष्टवैनं --- रमणीयञ्च पुण्यकृद्भिर्निषेवितम् । वायु पुराण, 99/215/216

116. तत्रैव, 77/66-67.

117. ब्रह्मक्षेत्रं महातीर्थं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे पितामहनिषेविते । तत्रैव, 59/107.

118. संवरणात्कुरुः य इदं धर्मक्षेत्रं चकार । विष्णु पुराण, 4/19/76-77.

119. त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते । मत्स्य पुराण, 109/3; 22/18.

120. पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, 83/3.

121. मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति । तत्रैव, 83/7.

122. कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते । शतपथ ब्राह्मण, 4/1/5/13.

123. कुत्सितं रौतीति कुरु पापं तस्य क्षेपणात् त्रायते इति कुरुक्षेत्रम् --- ।
वनपर्व, 83/6 पर नीलकण्ठ

124. पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं तपश्चैव महाफलम् । वायु पुराण, 77/40.

125. तत्रैव, 49/136-137, 141.

126. विष्णु पुराण, 6/8/29.

127. मत्स्य पुराण, 13/30.

128. नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशत् ।
महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, 82/20.

129. तत्रैव, 82/21 और 27.

130. कण्ठस्थां द्वारकाञ्चैव प्रयागं पुष्करं तथा । वायु पुराण, 104/76.

131. तत्रैव, 96/63-64.

132. विष्णु पुराण, 5/23/13.

133. द्वारका कृष्णतीर्थं च तथार्बुदसरस्वती । मत्स्य पुराण, 22/38.

134. तत्रैव, 13/38.

135. काशी -- द्वारवत्यपि --- मोक्षदा: ।
स्कन्द पुराण, काशीखण्ड, 6/68,
गरुड़ पुराण, प्रेतखण्ड, 38/5-6.

136. मौसलपर्व, महाभारत, 6/23-24.

137. माधवं लवणं हत्वा गत्वा मधुवनं च तत् ।
शत्रुघ्नेन पुरी तस्य मथुरा तत्र सन्निवेशिता । वायु पुराण, 88/185-186.

138. विष्णु पुराण, 1/12/3-4.

139. अपश्यन्मथुरारम्यां हृदया म्भोजकल्पिताम् ।
हरेर्भगवत: साक्षादाविर्भावस्थलीहिता । वायु पुराण, 104/75.

140. विष्णु पुराण, 1/12/5.

141. तत्रैव, 6/8/31.

142. रामायण, उत्तरकाण्ड, 70/6-9.

143. पद्म पुराण, आदिखण्ड, 29/46-47.

144. कीकटेषु गयापुण्या पुण्यं राजगृहंवनम् । वायु पुराण, 108/73.

145. ब्रह्मघ्नस्य सुरापस्य स्तेयिनो गुरुतल्पगः ।
नाशमायाति वै पापं गयायाम्भुयाति य: । तत्रैव, 83/37.

146. अब्दमध्ये गयाश्राद्धं य: करोति ------- दिव्यान्मोक्षोपायञ्चविन्दति ।
तत्रैव, 83/15-16.

147. तत्रैव, 105/22.

148. गृहाच्चलितमात्रेण गयायां गमनं प्रति ।
स्वर्गारोहणसोपानं पितृणां च पदे पदे । तत्रैव, 105/31-32.

149. नैमिषं पुष्करं गंगा प्रयागश्च ाविमुक्तकम् ।
एतान्यन्यानि तीर्थानि दिवि भुव्यन्तरिक्षतः ।
समायान्तु सदा नृणां प्रयच्छन्तु हितं सुराः । तत्रैव, 106/69.

150. गयायां पितृरूपेण स्वयमेव जनार्दनः ।
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं मुच्यते च ऋणत्रयात् । तत्रैव, 108/89.

151. पितृतीर्थं गया नाम सर्वतीर्थवरं शुभम् । मत्स्य पुराण, 22/4.

152. ब्रह्माण्ड पुराण, 3/47/19.

153. महाभारत, वनपर्व, 87/12.

154. वायु पुराण, 105/3-8.

155. यज्ञं चक्रे गयो राजा बह्वन्नं बहुदक्षिणम् ।
गयं विष्ण्वादयस्तुष्ट्वा वरं ब्रूहीति चाब्रुवन् ।
गया पुरीति सन्नाम्ना ख्याता ख्याता ब्रह्मपुरी यथा । तत्रैव, 112/1, 4, 10.

156. अस्तावि जनो दिव्यो गयेन । ऋग्वेद, 10/63/17.
दिव्यो दिविभवो जनो देवगणो गये नैतन्नामकेन मयास्तावि
अभिष्टुतोऽभूत । सायण

157. अथर्ववेद, 1/14/4.

158. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग 4, पृष्ठ 645.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद — आर० रॉथ तथा डब्ल्यू० डी० ह्विटनी द्वारा संपादित, बर्लिन, 1924.
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् — सतीश चन्द्र बसु द्वारा संपादित, बनारस, 1897.
3. अमरकोश — वी० झलकीकर द्वारा संपादित, बंबई, 1907.
4. आपस्तंब धर्मसूत्र — हलास्यनाथ शास्त्री द्वारा संपादित, कुंभकोणम् , 1895.
5. आश्वलायन गृह्यसूत्र — म०म० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम, 1923.
6. ऐतरेय ब्राह्मण — हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित
7. उत्तररामचरित — पी०वी० काणे द्वारा संपादित, बंबई, 1929.
8. कथासरित्सागर — दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई, 1920.
9. कात्यायन श्रौतसूत्र — लन्दन, 1855.
10. कादम्बरी — मथुरानाथ शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, 1948.
11. कामसूत्र — दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई
12. काव्यप्रकाश — हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित, पूना, 1935.
13. कुमारसम्भव — भारद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस
14. कूर्म पुराण — पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1332.
15. कौटिल्य अर्थशास्त्र — आर० शामशास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, 1924.

16. गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त भाष्य के साथ हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, 1910.

17. चारुदत्त — म0म0 गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम, 1914.

18. छान्दोग्य उपनिषद् — हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, 1913.

19. जातक — वी0 फासबल द्वारा संपादित, लंदन, 1877-97.

20. तैत्तिरीय आरण्यक सायण-भाष्य-सहित — हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1898.

21. तैत्तिरीय संहिता — कलकत्ता, 1854.

22. दशकुमार चरित — काले द्वारा संपादित, 1917.

23. देवी भागवत — कमलकृष्ण स्मृतिभूषण द्वारा संपादित, बिब्लोथेका इण्डिका, कलकत्ता, 1903.

24. नारद स्मृति — यौली द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885.

25. नारदीय पुराण — क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

26. नैषधीयचरित — म0म0 पं0 शिवदत्त द्वारा संपादित, बंबई, 1907.

27. पद्म पुराण — हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1893.

28. पराशर स्मृति, माधवाचार्य-भाष्य-सहित — बाम्बे संस्कृत सीरीज़, बंबई, 1893-1911.

29. बृहत्संहिता — कर्न द्वारा संपादित, बिब्लोथेका इण्डिका, कलकत्ता, 1865.

30. बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकराचार्य-भाष्य तथा आनंदगिरि की टीका के साथ हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, 1914.

31. बृहन्नारदीय पुराण पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, वि0सं0 1316.

32. बृहस्पति स्मृति बड़ौदा, 1941.

33. ब्रह्म पुराण क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906.

34. ब्रह्मवैवर्त पुराण क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906.

35. ब्रह्मसूत्र, शंकराचार्य-भाष्य तथा गोविन्दानंद की टीका के साथ, एशियाटिक सोसाइटी आॅव् बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1863.

36. बौधायन धर्मसूत्र श्रीनिवासचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, 1907.

37. भागवत पुराण पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि0सं0 1315.

38. भासनाटकचक्र सी0आर0 देवधर संपादित, पूना

39. मत्स्य पुराण हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1907.

40. मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट-भाष्य-सहित-पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि0सं0 1320.

41. महाभारत, नीलकंठ-भाष्य-सहित-पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, शकाब्द, 1826-1830.

42. मनुस्मृति, मेधातिथि-भाष्य-सहित-गंगानाथ झा द्वारा संपादित, एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1932.

43. महाभाष्य एफ0 कीलहार्न द्वारा संपादित, बंबई।

44. मानसार — पी0के0 आचार्य द्वारा संपादित, आक्सफोर्ड

45. मालविकाग्निमित्र — एस0 कृष्णराव द्वारा संपादित, मद्रास

46. मार्कण्डेय पुराण — क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई

47. मुद्राराक्षस — आर0के0 ध्रुव द्वारा संपादित, पूना, 1930.

48. मृच्छकटिक — आर0डी0 करमाकर द्वारा संपादित (द्वितीय संस्करण), 1950.

49. याज्ञवल्क्य स्मृति — वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, 1926.

50. रघुवंश — शंकर पण्डित द्वारा संपादित, 1897.

51. राजतरंगिणी — दुर्गा प्रसाद द्वारा संपादित, सं0 1984.

52. लिंग पुराण — जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885.

53. वराह पुराण — कलकत्ता, 1885.

54. वामन पुराण — पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, वि0सं0 1314.

55. वायु पुराण — हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1905.

56. विष्णु धर्मसूत्र — पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, वि0सं0 1316.

57. विष्णुधर्मोत्तर पुराण — क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई ।

58. विष्णु पुराण — पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, वि0सं0 1331.

59. शिव पुराण — बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि0सं0 1314.

60. शिशुपालवध — निर्णय सागर प्रेस, बंबई ।

61. शुक्रनीतिसार — प्रयाग, 1914.

62. स्कन्द पुराण — वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि०सं० 1318.

63. स्मृति चंद्रिका — श्रीनिवासाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, 1914-21.

64. हरिवंश, नीलकण्ठ-भाष्य के साथ, पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1312 [वि०सं०]

65. हर्षचरित — फूरर द्वारा संपादित, बंबई, 1909.

66. हारित संहिता — पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1316.

67. शतपथ ब्राह्मण — ए० वेबर द्वारा संपादित, 1924.

68. अग्रवाल, वासुदेव शरण : प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, 1964.

69. ———————— : मार्कण्डेय पुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन ।

70. भट्टाचार्य, रमाशंकर : इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, 1963.

71. ———————— : पुराणस्थ वैदिक सामग्री का अनुशीलन, इलाहाबाद, 1965.

72. चतुर्वेदी, परशुराम : वैष्णव धर्म

73. दिनकर, रामधारी सिंह: भारतीय संस्कृति के चार अध्याय ।

74. गोपाल, लल्लनजी एवं यादव, बी०एन०एस० : भारतीय संस्कृति

75. मोतीचंद : भारतीय वेशभूषा

76. ओझा, मधुसूदन : पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसंगः, जयपुर, सं0 2009.

77. पाण्डेय, गोविन्द चंद्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963.

78. पाण्डेय, राजबली : पुराण – विषयानुक्रमणी ।

79. —————— : हिन्दू संस्कार

80. राय, उदय नारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, इलाहाबाद, 1965.

81. टण्डन, यशपाल : पुराण – विषय समनुक्रमणिका ।

82. उपाध्याय, बलदेव : पुराण-विमर्श, वाराणसी, 1965.

83. यदुवंशी : शैवमत ।

1. Agarwala, V.S. : Matasya Purana, A Study, Varanasi, 1963.

2. Altekar, A.S. : Education in Ancient India.

3. —————— : Position of Woman in Hindu Civilization.

4. —————— : State and Govt. in Ancient India.

5. Apte, V.M. : Social and Religious life in the Grhya Sutras.

6. Beni Prasad : State in Ancient India.

7. Bhandarkar, R.C. : Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems, Starssburg, 1913.

8. Bhandarkar, D.R. : Some Aspects of Ancient Hindu Polity.

9. Chakladar, H.C. : Social Life in Ancient India, Calcutta, 1929.

10. Coomaraswamy, A.K. : Yakshas, Vol. II.

11. Dikshitar, V.R.R. : Purana Index (In.3 Vols.), Madras, 1951.

12. —————— : Some aspects of the Vayu Purana, Madras, 1933.

13. Farquhar, J.N. : An outline of the Religious Literature of India, London, 1920.

14. Ghate, V.S. : Lectures on Regveda.

15. Hazara, R.C. : Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs, Decca, 1990.

16. ———————— : Studies in the Upa-Puranas (Vol.I & II), Calcutta, 1960-63.

17. Hopkins, E.W. : Religions of India, London, 1889.

18. ———————— : The Great Epic of India, New Haven, Yale University Press, 1920.

19. Kane, P.V. : History of Dharmasastras (Vol.II & IV) Poona, 1953.

20. Keith, A.B. : The Religion and Philosophy of the Veda and the Upanisads, Harvard Oriental Sereis, Vol. 31 & 32, 1925.

21. ———————— & MacDonell, A.A. : Vedic Index.

22. Kerfel, W. Das Purana Panchlakshana, Bonn, 1927.

23. Kosambi, D.D. : The Culture & Civilization of Ancient India.

24. MacDonell, A.A. : India's Past.

25. Mankad, D.R. : Puranic Chronology.

26. Mookerji, R.K. : Hindu Civilization.

27. Pargiter, F.E. : Ancient Historical Traditions, Oxford, 1922.

28. —————— : The Dynastics of the Kali Age (The Purana Text of) Oxford, 1913.

29. Pathak, V.S. : Siva Cult in Northern India, Varanasi, 1960.

30. Patil, D.R. : Cultural History from the Vayu Purana.

31. Prabhu, P.N. : Hindu Social Organization.

32. Pusalkar, A.D. : Studies in the Epic and Puranas, Bombay, 1955.

33. Ray Chowdhari, H.C. Materials for the Study of the Early History of the Vaishnava Sect, Calcutta, 1936.

34. Sharma, G.R. : The Excavations at Kausambi, Allahabad, 1960.

35. Sharma, R.S. : Sudras in Ancient India.

36. —————— : Light on Early Indian Society & Economy.

37. Shastri, S. Rao : Women in the Vedic Age, Bombay.

38. Wilson, H.H. : Puranas or an Account of their Contents and Nature.

39. Winternitz, M. : A History of Indian Literature, Vol. I, Translated by Mrs. S. Ketkar, Calcutta, 1927.

Report & Journals

1. Annual Report on Indian Epigraphy.
2. Annals of Oriental Research Institute, University of Madras.
3. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
4. Ancient India.
5. Archaeological Survey Reports.
6. Indian Antiquary.
7. Indian Culture.
8. Indian Historical Quarterly.
9. Journals of Allahabad University Studies.
10. Journals of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.
11. Journal of the Bihar and Orissa Research Society.
12. Journal of Indian History.
13. Journal of Oriental Institute, Baroda.
14. Journals of the Royal Asiatic Society of Bengal.
15. Journal of the U.P. Historical Society.
16. Puranam.
17. Uttar Bharati.

::O::